

ध्यानशतक



लेखकः—

प० पू० आचार्यदेवश्री विजय भुवनभानुसूरीश्वरजी महाराज



प्रकाशकः—

दिव्यदर्शन कार्यालय

कालुशीनी पोल

अहमदाबाद

पूर्वधरमहर्षि पू० श्री जिनभद्रगणिक्रमाश्रमण महाराज रचित

ध्यानशतक

१४४४ ग्रन्थ रचयिता पू० आचार्य श्री हरिभद्रसूरिकृत
संस्कृत व्याख्या के आधार पर

मूल - भावार्थ तथा विवेचन

—: विवेचक :—

कर्मसाहित्य सूत्रधार सिद्धान्तमहोदधि स्व० पू० आचार्यदेव
श्री विजयप्रेमसूरीश्वरजी महाराज के पट्टालंकार प्रभावक प्रवचनकार
पू० आचार्यदेव श्री विजय भुवनभानुसूरीश्वरजी महाराज

प्रकाशक :

दिव्यदर्शन कार्यालय
कालुशीनी पोल-कालुपुर
अहमदाबाद—१

प्राप्तिस्थान :

१ दिव्य दर्शन कार्यालय
कालुशोनी पोल, कालुपूर
अहमदाबाद-१



२ दिव्य दर्शन शास्त्र संग्रह
पंकुबाई ज्ञानमन्दिर
बेड़ावालीवास
शिवरांज (राजस्थान)



३ कुमारपाल वी. शाह
६८ गुलालबाड़ी
वस्वई-४

प्रथम आवृत्ति
वि० सं० २०३०

Rs 1 ^५/_{१०} 0 0

Rs 1 5 ^५/_{१०} 0 0

प्रुफ संशोधनादि सम्पादनकर्ता
पू० मुनिराज श्री
पद्मसेनविजयजी महाराज



मुद्रक :

कमल प्रिन्टिंग प्रेस
श्रद्धानन्द बाजार
क्यावर (राज)

प्रकाशक के दो शब्द-

चतुर्विध संघ को बहुत उपयोगी हो, सुन्दर जीवन-उत्थान का साधन बने, और आत्मा के दोषों को बता कर उन्हें दूर करने में खूब सहायक हो तथा अपनी पहुंच की अनुपम साधना को दृष्टि सन्मुख रख दे ऐसे इस ध्यान-शतक शास्त्र के विवेचन को प्रकाशित करते हुए हमें अपूर्व आनन्द होता है। इस शास्त्र ने ध्यान के बारे में अनुपम मार्गदर्शन करके जैनधर्म की सर्वोपरिता सिद्ध कर दी है, वीतराग सर्वज्ञ श्री तीर्थंकर भगवान के अनन्त उपकार को पेश किया

(१) नमुत्थुणं आदि देववन्दन सूत्रों के गर्भित अनुपम तत्त्व, (२) भवस्थिति परिपाक से ले कर उत्तरोत्तर जहूरी आन्तरिक साधना तथा (३) अशुभ ध्यान निवारण पूर्वक शुभ ध्यान के पदार्थः इन तीनों पर महान शास्त्र (१) ललित विस्तरा (२) पंचसूत्र तथा (३) श्री ध्यान शतक समझने में गहन होने पर भी दैनिक उपयोग के होने से पू० पं० जी श्री भानुविजयजी गणिवर (अब पू० आचार्य देव श्री विजय भुवनभानुसूरीश्वरजी महाराज) ने बहुत सरल और विस्तृत विवेचन के रूप में (१) श्री परमतेज भा० १-२ (२) श्री उच्च-प्रकाशने पंथे और (३) श्री ध्यान शतक का विवेचन लिख कर श्री चतुर्विध संघ के समक्ष सुन्दर सामग्री पेश की है।

बालभोग्य शैली में लिखे हुए इस ध्यान शतक विवेचन में

कैसा तत्त्वों का भण्डार भरा हुआ है, वह तो इसके साथ की उन पूज्य आचार्य देव श्री की ही प्रस्तावना से समझ में आ जावेगा । भव्य जीवों पर आपश्री का यह महान उपकार है ।

इस ग्रन्थ को प्रकाशित करने में पूज्य श्री के शिष्य पू० सुनिराज श्री पद्मसेनविजयजी महाराज ने प्रूफ जांचने आदि में अच्छा सहयोग दिया है । श्री बेंगलोर जैन श्वे० संघ ज्ञान खातुं व श्री मद्रास जैन श्वे० संघ ज्ञान खातु इन दोनों से प्रारम्भिक सहायता मिली है । उन सब का हम आभार मानते हैं ।

कालूशीनी पोल
अहमदाबाद
वि० सं० २०३०
श्रावण शुक्ला ७

}

निवेदक :

दिव्य दर्शन प्रकाशन—(अहमदाबाद)

दिव्य दर्शन प्रकाशन—(जयपुर)

की तरफ से

भरतकुमार चतुरदास शाह

प्रस्तावना-

जीव की दो अवस्थाएं हैं एक होश की तथा एक बेहोश की । निद्रा मूर्च्छा दोनों बेहोशी की अवस्थाएं हैं । इसमें मन, इन्द्रियें, शरीर, वाणी तथा अवयव सभी निष्क्रिय तथा निश्चेष्ट पड़े हुए होते हैं । वे सब काम करते हों । वह होश की अवस्था है । इन पांचों को चलाने वाला आत्मा है । आत्मा इच्छे उस अनुसार शरीर तथा शरीर के अवयवों को, इन्द्रियों को, वाणी तथा मन को प्रवृत्ति करवाती है, उसकी प्रवृत्ति को दिशा दर्शन करती है तथा प्रवृत्ति रोक भी देती है । यह करने का हेतु दुःख निवारण और सुख शान्ति है । दुःख न आवे, आया हो तो चला जावे तथा सुखशान्ति मिलती रहे, मिली हुई टिक कर रहे इसी उद्देश्य से मन वचन काया और इन्द्रियों का प्रवर्तन तथा निवर्तन होता है । यों इन चारों के प्रवर्तक निवर्तक के रूप में आत्मा स्वतन्त्र साबित होती है । चारों पर अधिकार या वचस्व रखने वाला कोई एक व्यक्ति होना चाहिये और वह आत्मा ही है ।

विचार वाणी बर्ताव करने वाली आत्मा है । उसे इसके लिए साधनस्वरूप मन, वचन, काया तथा इन्द्रियों हैं । इन साधनों और उनकी प्रवृत्ति में मन तथा विचार की प्रधानता है । 'मन लड़ जावे मोक्ष मां रे, मन ही य नरक मोक्षार' याने मन मोक्ष में या नरक में ले जाता है । वचन काया व इन्द्रियों की बहुत सी प्रवृत्ति मन से किये जाने वाले विचार के आधार पर चलती है और मन के विचारों के आधार पर शान्ति या अशान्ति का सर्जन होता है । साथ ही शुभ अशुभ कर्मों का बन्ध तथा शुभ अशुभ कर्मों का क्षय भी होता है । उसमें भी किसी विषय पर मन के एकाग्र विचार तथा ध्यान का गहरा प्रभाव पड़ता है ।

‘ध्यान’ याने किसी भी विषय पर एकाग्र मन ।

ध्यान के लिए मन तो एक साधन मात्र है । ध्यान करने वाली तो आत्मा ही है । इससे ‘मन से कैसी प्रवृत्ति करवाना’ यह आत्मा की सुनसपी (स्वेच्छा) की बात है । शुभ अथवा अशुभ ध्यान आत्मा जैसी इच्छा करे वैसा कर सकती है । अतः शुभाशुभ ध्यान द्वारा सुखदुःख, शान्ति अशान्ति और कर्मबन्ध कर्मक्षय करने वाले हम स्वयं ही हैं । यदि हम अपने इस स्वातन्त्र्य को समझ लें, तो मन को अशुभ से रोक कर शुभ ध्यान में प्रवृत्त करके उसके अनुपम लाभ लेते रहें ।

‘ध्यानशतक’ शास्त्र शुभ अशुभ ध्यान पर अद्भुत प्रकाश डालता है । अशुभ ध्यान के रूप में आर्त्तध्यान और रौद्रध्यान का स्वरूप क्या है, उसके कितने प्रकार हैं, वह किन किन कारणों से तथा कहाँ कब जाग उठता है, उनके बाह्य लक्षण कौन २ कि जिन पर से पहचाने कि भीतर ये वर्तमान हैं, उनमें लेश्या कौन सी होती है, कौन कौन कक्षा के जोव वह करते हैं, उसका फल क्या ? इत्यादि बातों का सुन्दर व मजबूत खियाल इस शास्त्र से मिलने पर हमें खयाल आता है कि हम कहाँ खड़े हैं और जीवन का बहुत बड़ा हिस्सा कैसे अशुभ ध्यान में बरबाद हो रहा है तथा इस दुर्दशा को कैम रोका जा सकता है ।

इसी तरह ध्यानशतक-शास्त्र शुभ ध्यान के रूप में धर्मध्यान तथा शुभ ध्यान पर सुन्दर विस्तृत प्रकाश डालता है । वह बताता है कि ये शुभ ध्यान लाने की भूमिका में क्या क्या करना चाहिये, इन ध्यानों के प्रकार कैसे हैं, उन प्रत्येक में क्या क्या चिन्तन करना चाहिये या सोचना विचारना चाहिये, किस आधार से इन में चढ़ा जा सकता है, उनके अधिकारी (योग्य) कौन है, योग्य देश काल व

आसन कौन से हैं, क्रम क्या है, किन साधनाओं से यह ध्यान आ सकता है, ध्यान आने के बाह्य लक्षण कैसे होते हैं, ध्यान टूटने पर क्या करना चाहिये, इत्यादि विषयों पर सम्पूर्ण समझाईश इस शास्त्र में दी गई है।

दूसरी तरह इस ग्रन्थ की विशेषता देखे तो जीवन में मन बहुत काम करता है। अनादि संस्कारों में वृद्धि या ह्रास और भवान्तरों में अच्छे बुरे संस्कारों की परम्परा मन तैयार करता है। सुख दुःख ज्यादातर मन की कल्पना पर ही जीते हैं। शुभ अशुभ कर्मबन्ध या कर्मक्षय मन के आधार से होता है। मोक्ष-मार्ग का प्रारम्भ मन की स्वच्छ दृष्टि से शुरू होता है। धर्म का आधार मन के उपयोग (व जागृति) पर है। दूसरे के साथ के व्यवहार में हमारा मन यदि भारी रहे तो कठिनाई लगती है और मन यदि हलका हो तो अच्छा लगता है। मन अनुकूल को प्रतिकूल तथा प्रतिकूल को अनुकूल लगा देता है... इस तरह मन का कार्यक्षेत्र बहुत बड़ा है।

यह मन कैसे विकल्प, झुकाव तथा ध्यान में चढता है तो कुसंस्कारों की वृद्धि और परम्परा बढे, तैयारी हो, दुःख ही दुःख लगे, पापकर्म का बन्ध और पुण्यकर्म का नाश हो, भारी धर्मकष्ट भोगने पर भी मोक्षमार्ग पर स्थान नहीं मिलता, धर्मक्रिया करने पर भी धर्म नहीं होता, अन्यो के साथ के व्यवहार में कठिनाई का अनुभव हो, और बात बात में प्रतिकूलता आ खड़ी हो, प्रत्येक बात में मन को कमी का अनुभव हो। इससे उलटे मन कैसे झुकाव, विकल्प या ध्यान में चढे कि कुसंस्कार नाश हो, सुसंस्कार गढे जायं, पाप नाश हो, पुण्य वृद्धि हो, मोक्षमार्ग पर स्थान मिले, आन्तरिक धर्मपरिणति निश्चित हो, ग्रन्थों के साथ के व्यवहार में

सभी अच्छी बातों का अनुभव हो, और प्रतिकूलता में भी अनुकूलता लगे, बात बात में स्फूर्ति तथा तृप्ति रहा करे....यह सब जानना अत्यन्त आवश्यक है ।

मनुष्य यदि यह सब सूक्ष्मता से जान ले और उसके अनुसार वह अपने मन का झुकाव, विकल्प तथा ध्यान अच्छी ओर रखे तो कर्मयोग से प्राप्त नरकागार जस संयोगों में भी स्वर्गीय आनन्द तथा मस्ती का अनुभव कर सकता है । अन्यथा अच्छे संयोग होने पर भी रोना, शोक तथा संताप में जलने का होता रहेगा । इस जानकारी के लिए 'ध्यानशतक' शास्त्र एक अति उत्तम साधन है । यह पूर्वधर महर्षि विशेषावश्यक-भाष्यादि के रचयिता आचार्य भगवन्त श्री जिन्नभद्र ऋषिणाश्रमण महाराज की कृति है ।

१०५ गाथा के 'ध्यान शतक' शास्त्र में मन की अवस्थाएँ, ध्यान का स्वरूप व प्रकार, शुभ-अशुभ ध्यान के लक्षण, लिंग, लेश्या, फल, अशुभ ध्यान की भयंकरता, शुभ ध्यान की भूमिका का सर्जन करने वाली उपायस्वरूप साधनाएँ, शुभ ध्यान के योग्य, देश, काल, मुद्रा, ध्यान हो सकने के अनुकूल आलम्बन, शुभ ध्यान के विषयों (ध्येयों) का विस्तार और उनके अधिकारी, शुभ ध्यान रुकने पर आवश्यक चिन्तन (अनुप्रेक्षा)....इत्यादि कई विषय खूब भरे हुए हैं ।

इस प्राकृत भाषास्थ शास्त्र के संक्षिप्त निर्देशों को संस्कृत टीका में समर्थ शास्त्रकार आचार्य पुरन्दर श्री हरिभद्रसूरीश्वरजी महाराज ने अच्छी तरह से स्पष्ट किया है । ग्रन्थवा यों कहिये कि ग्रन्थ रूगी चित्र का उन्होंने टीका रूपी एन्लार्जमेन्ट (विस्तृतीकरण) किया है । इसके बिना असली संक्षिप्त शब्दों पर से अर्थ-विस्तार समझना कठिन था । इस टीका का सहारा लेकर

बाह्य लिंगों का स्वरूप, सर्वज्ञ को मनके बिना ध्यान किस तरह ? सभी क्रियाओं में ध्यान अन्तर्भूत कैसे, शुक्ल ध्यान के बाद शरीर क्यों रखना चाहिये....आदि का वर्णन किया है ।

धर्म ध्यान के काल में शुभाश्रव, सवर, निर्जरा, दैवी सुख, शुक्ल के फल में ये विशेष, तथा दोनों ध्यान ससार प्रतिपक्षी क्यों, मोक्ष हेतु कैसे ? इसका वर्णन करके ध्यान से कर्म नाश के बारे में पानी, अग्नि, सूर्य के दृष्टान्त देकर योगों का तथा कर्म का तप्त होना, शोषण, भेदन का वर्णन किया । ध्यान यह कर्म योग चिकित्सा, कर्मदाहकदव, कर्म बाद बिखेरने वाली हवा के रूप में बताकर ध्यान के प्रत्यक्ष फल में ईर्ष्या विषादादि मानस दुःख नाश समझाया । हर्ष दुःख किस तरह से ? ध्यान से शारीरिक पीड़ा में दुःख क्यों नहीं ? श्रद्धा-ज्ञान-क्रिया से ध्यान नित्य सेव्य बताकर क्रियाएं भी ध्यान रूप किस तरह हैं यह समझाया है ।

इतना बड़ा पदार्थ-संग्रह मन को काम में लगा देने के लिए है । मानसिक चिन्तन में इसी का रटन चलाये जाना होता है; इसी से इस ग्रन्थ रत्न का बार बार वांचन, मनन, संक्षेप में नोट करके और उसकी स्मृति उपस्थिति करने जैसी है तभी वह चिन्तन में चालू रखा जा सकेगा । इससे जीवन पर गजब रूप से प्रभाव पड़ेगा । बात बात में उठने वाले आर्त्त रौद्र ध्यान को रोका जा सकेगा, अनेकविध धर्मध्यान को मन में फिराया जा सकेगा ।

कलकत्ता
वीर सं० २४६७ माघ सुद ५ रवि

— पंन्यास भानुविजय

शुद्धिपत्रक

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१	५	का बाद	को बाद
	१२	मौखिक	मौखिक ही थे
३	१		गाथा १
३	२	ज्झाणा	ज्झाण
५	१	खाली या मात्र	निगुण
		कोरा	निःस्वभाव रूप में
	१०	को	की
८	९	अर्थात्	जिस काया से
		कायिक प्रवृत्ति	होता है वह
११	५	सन जावे	वासित हो जावे
	६	भरा हुआ	भावित हुआ
	१०	ध्यान	ध्यान
१२	१	मेघ....झाण	मेघ....झाणं
	१८	।६	।७
१६	१	मुहु....तंझाण	मुहुत्त....झाणं
१८	३	झाणणं	झाणेण
	६	उनका	उनकी
	१७	या	यानी
११	२	परणं	सरणं
	९	निदानं चा	निदानं च
२३	१३	था या !	था ! या
२४	२३	अंत्य पंक्ति निकाल देना	
२५	८	स्मभण	स्मरण

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
२५	१९	कहेंगे	रहेगा
२६	१६	चाह कर	स्वेच्छा से
३१	३	पमत्था	पसत्था
३२	११	या मेरी	यानी मेरी
३४	२४	असमाधि या	असमाधि यानी
३५	२	अणुसार वेस्सं	अणुसारवेस्सं
३५	१८	या लोहा	यानी लोहा
	१९	हाथ	हाथा
३८	६	(तैयार करवाया हुआ)	निकाल दो
४१	२०	मोक्षेच्छा	मोक्षेच्छावश
४५	२०	होते समाविष्ट	समाविष्ट
	२२	हैं	होते हैं
५०	३	पसंसइ	पसंसइ
५३	२	होना	होना इसके
	१३	भी रहे	भीतर रहे
	१६	समता	ममता
६०	७	है याने	हो
	८	कारण (द्वि०)	कार्य
	१२	चलाने से	चलाने पर
६१	२५	हिंसानु०	हिंसानु०
६२	८	जलता	जलती
	१०	खजर	खंजर
६४	१२	विश्य	विश्व
	१३	हो तो	न हो तो
६६	२२	होने को	होने का
६७	२	निरवे बक्व	निरवेक्खं

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
६६	७	कृत्य	कृत्य
	२३	परन्तु	परन्तु यों तो
	२४	हो	चितन हो
७०	१४	तो ...भी	तो भी
		देने लगा	दूँ
		उनके	उसके
	२१	के लिए	को
	२३	चूकते....किसे	चूकाता....क्या
७१	२	महाण्णं	महण्णं
	१२	भाग	भोग
७३	१२	विजया....	विषया....
७४	१	ध्यान चितन	ध्यान
	२	वह	किन्तु वह
	४	उतरे	उतर गए
	५	तक को	तक के
७५	८	यों चाहे	यों
	१४	आर्त	रौद्र
		उससे भी	उससे
	१५	ज्यादा क्या है	क्या बढे
	२२	बाद को	बाद के
७६	१६	सजन	सृजन
७८	१९	हिंसा	हिंसा
८०	१३	उन्हें	उन्हें वह
८१	४	साहूकारों	साहूकारी
८२	२०	जावेगी	जावेगा
८४	१	भूमि का	भूमिका

पृ०	पं०	अशुद्ध	शुद्ध
८४	१६	गरमी में	गरमी से मनमें
८५	४	धरिण	धारण
	१५	जाती	रहती
८६	१५	भुला देने	भूल जाने
	२६	अब हद	अनहद
८७	८	अर्थ	व उसके अर्थ को
	९	ज्ञान को	ज्ञान की
	२१	दूसरे यह भी	दुसरा यह भी है
८९	१२	इस	यह
९१	१७	उसके	उनके
	२१	भग भी न	भंग भी नहीं
९२	८	होगा	होगी
९७	५	करना	करनी
	१०	अंग	अंग
१०१	३	सेवा	सेवा
	२२	करी दुख	दुःख करी
१०२	५	दीर्घ	दीर्घ
१०३	४	निर्जगा	निर्जबा
१०५	६	किस तरह	क्यों
१०७	८	भगने	भोगने
	२५	चाहिए	चाहिए इसका विकास
१०८	५	क्यों	करना चाहिए
१०९	९	आने	क्या
	१९	धर्म साधन	आगे
			धर्म साधन करते समय

पृ०	पं०	अशुद्ध	शुद्ध
१११	१	की	से
	२	इसमें	इसमें बाद में
	५	को खडा	का अभ्यास
	२१	से तथा	से पडी तथा
	२४	भी	भी होने पर आनन्द
११२	१४	करना	करनी
११४	७	इसा	इसी
	२४	ये इन	इन
	२५	से दूर	से ये अज्ञानादि दूर
११८	१७	के दो	नामक दो
१२३	११	लि	मिले
१२४	४	शमान	शमन
१२६	१५	कहा	कहीं
१२७	२१	भुलाया	भूल
१२६	२०	या आधार	आधार
१३१	४	फि	फिर
१३५	२३	होता है जिससे	हो, तो इससे
१३७	१	अरे...से	अहो !.....में
	१२	गुना (३)	गुना
१३८	१८	उसी	उन्हीं
१३६	१	या पश्य	यानी पथ्य
	१४	सत्य	सत्य ।
१४०	१४	पाछा	पीछा
	२५	अनर्घ्यता	अनर्घ्यता
१४२	१२	ज उदयं	जं उदयं

पृ०	पं०	अशुद्ध	शुद्ध
१४२	१४	भा	भी
१४४	५	अर्थ प्रधान	अर्थप्रधान
१४७	८	त्कृष्ट	उत्कृष्ट
१४९	१४	भग	भग
१५०	३	से क	से कंसा ?
१५३	१४	पायस	वायस
	२४	दशन	दर्शन
१५४	१३	सेलेर क	से लेकर
१५७	१३	की साक्षत्	को साक्षात्
१५८	१३	जिनेश्वर	जिनेश्वर
१६३	११	न्हें	उन्हें
१६४	७	गगः	रागः
	१०	दर्शि	दर्शि
१६५	६	काषायों	कषायों
१६७	११	न्ही	इन्ही
१६८	७	शास्त्र	शस्त्र
	१४	मम्म	मम्मण
	१७	घातकी	घातकी
१६६	२	उदाहरण	उदाहरण-
१७०	२	विवांगण	विवांगं
	६	मिठाय	मिठायन
	१८	का, रोकना	का रोकना,
१७१	१६	यात्स्य	यामत्स्य
	२२	; का मिलन	का मिलन;
१७२	१	बंध	बंधे

पृ०	पं०	अशुद्ध	शुद्ध
१७३	१०	दो साइप	बोमाइ-प
१७४	१	तग्वेगं	तरवेगं
	२	ववेग्गमग्ग	वेरग्गमग्गप
		निक्खोमं	निक्खोभं
	५	तिग्गण	तिरयण
१७६	३	पथार्थ	पदार्थ
	१०	अरूपो	अरुपी
	१६	६ (को० ३)	७
	२०	सम्यक्तव	सम्यक्त्व
१७७	६	लोकाकाशा	लोकाकाश
	१५	विष	वेश
१७८	२३	पर	पैर
१७९	११	रहते	रहती
१८०	५	ओ....दारिक	ओदारिक
१८१	१०	युक्ति में	युक्ति
	१५	तहर	तरह
१८३	८	ब्रनो	ब्रतो
१८६	११	एक त्रि	एकत्रित
	२०	नष्ट	नंबर
१९०	९	सा	सो
१९३	४	गा	०॥
	५	ओर वन आदि ६	ऐरवत आदि ७
	१२	दानों	दोनों
१९४	९	४१८	३१८
	१५	वे ७ थरोड	७ करोड
		आसुर	असुर

पृ०	पं०	अशुद्ध	शुद्ध
१९४	१०	पोले	पोले
	२१	हित	रहित
१९५	१७	तथा स्वभाव	तथा स्वभाव
	२३	से	में
	२४	का ही	को ही
१९६	४	घनी	घनो
	६	अचित्य	अचित्य
	५	तनुमात	तनुवात
	२२	३५ सामीप्येव	यदि कहो उप सामीप्येन
	२३	उडे	जुडे
१९७	८	या	व
१९८	४	मातिकी	मालिकी
	१३	ग्रह	यह
	१९	याल	काल
१९९		योग्य (३)	भोग्य (३)
	१३	उसमें	उसको
	२५	ज्ञान	ज्ञान होने पर भी
			शतशः ग्रन्थों का ज्ञान
२००	२५	ही	है
	२६	बद	वह
		स्वयं	स्वयं करता है ।
२०१	१३	सांख्यदर्शना	सांख्यदर्शन
२०२	२१	तच्च	...तत्त्व
२०३	१७	द्देश्य	देश्य

पृ०	पं०	अशुद्ध	शुद्ध
२०४	१७	उनके	उनमें
२०७	२३	स्थानक का	स्थानक
२०८	११	चारित्र के	चारित्र को
२०९	१६	दुध्य न या अपध्यान	दुध्यानि या अपध्यान है
२१३	२	पड ।	पडता
	३	ऐकांनिक	एकान्तिक
	६	ज्य दा अनत	ज्यादा अनन्त
	७	कम	कर्म
२१८	२१	जघ्नीलोक	अघोलोक
	२२	नायक	दायक
२२०	१४	भोगों	योगों
	२१	काष्ठकों	काष्ठ
२२८	२०	आशरणा	अशरण
	२१	स्वाक्यात	स्वाख्यात
२२९	२	मनपलन्द	मनपसन्द
	१४	बध	बधे
२३०	१	जान	जाना
२३१	२३	राकने	रोकने
२४०	२	ज्जाणं	ज्भाणं
	४	ने	ये
२४१	१६	दय	उदय
२४२	४/६	फ...निष्फल	फल....निष्फली
२४३	६	नचीं	नहीं
२४४	१०/२३	तानसी	तामसी

पृ०	पं०	अशुद्ध	शुद्ध
२४४	१०/२३	एव/शभा	एवं शोभा
२४९	३/२०	लकों/हा	लोकों/यहां
२५०	११	सिया	सिद्ध
२५१	१	त्रानी	ज्ञानी
	४	उप ंग	उपयोग
	६	रू ...	रूप
	८	ही	वही
	२२	शलेशी	शैलेशी
२५२	६	वसे सो	वसेसो
	२०	जान	जाने
२५७	१९	काया	'काययोग'
२५९	६	वीय	वीर्य
२६१	१	लिस	लिए
२६३	१	पहसी.....'अ'	पहली....'ए'
२६७	११	लोकान्तर	लोकान्त
	१९	दानों	दोनों
२७०	१	प्पई वमिय	प्पईवमिव
२७१	२३	करने का	करके
२७२	२०	बननी	बनती
२७५	१७	अयोग	अयोगी
	१५/२६	अयाग/यागो	अयोग/योगों
२८५	११	अपने	अपनी
२८७	२१	वे/वाले	वह/वाला
	२३	हुआ.....पर स	रहा....पर
२९४	४	व मं	कर्म

पृ०	पं०	अशुद्ध	शुद्ध
२९८	१	करता	करती
२९९	३	लाए	लगे
	१४	अनिच्छत	अनिच्छत
३००	१	बहिज्जइ निजरा	बहिज्जइ निजरा
३०१	४	पीडा स	पीडा से
	१४	जता	जाता
३०२	१३	अनेक रुचि	रुचि
३०४	१६	ऐसा वह	इनको

ॐ ध्यान शतक ॐ

विषयानुक्रम

विषय	पृष्ठ	विषय	पृष्ठ
ग्रन्थकार	१	मोक्ष की इच्छा में नियाणा	
टीकाकार	२	क्यों नहि ?	४१
ध्यान क्या ?	३	आर्तध्यान संसारबीज राग-	
आत्म स्वरूप शुद्ध-विकृत	६	द्वेष-मोह	४४
३ चित्त भावना० अनुपेक्षा-चिन्ता.११		आर्तध्यान में लेश्याः शुभयोग	
योग व निरोध	१३	का महत्त्व०	४७
८ पुद्गल वर्गणार्थे	१४	आर्तध्यान के लक्षणः आक्रन्द-	
योग-निरोध की आवश्यकता	१५	दीन० गुस्सा व रोष० स्वकार्य	
ध्यानान्तर : ध्यानधारा	१६	की निन्दा० वैभव पर आश्चर्य.	
ध्यान के विषय	१७	इच्छा० मिलने पर खुशी०	
४ ध्याने		वैभव के उद्यम० विषयों पर	
आर्त० रौद्र०	१८	गृद्धि० शुद्ध धर्म से पराङ्मुख०	
धम० शुक्ल०		प्रमाद० जिन वचन में	
४ आर्तध्यान		लापरवाही०	५०
अनिष्ट संयोग० रोगादि वेदना०		आर्तध्यान का स्वामी	५७
इष्टवियोग० नियाणा	२०	रौद्रध्यान ४	६०
तीनों काल का आर्त०	२२	१ हिंसानुबन्धी	६१
(२) वेदनानुबन्धी	२४	२ मृषानुबन्धी	६३
इष्ट संयोग-अवियोगानुबन्धी	२६	३ अमत्य वचन : अभूतोद्भा-	
नियाणाः सुखामास	२८	वन० भूतनिन्दहव० अर्थान्तर०	६४
आर्तध्यानका फल	३०	३ स्तेयानुबन्धी	६७
मुनिको आर्त० नहीं ?	३१	४ संरक्षणानुबन्धी	६९
मुनि कौन ?	३२	अनुमोदन से रौद्रध्यान	७३
बबा करने में उद्देश्य		स्वामी कौन ?	७३
आलंबन प्रशस्त०	३५	फल व लेश्या	७५
तपस्या से दुःखवियोग के		रौद्र० के लक्षण उत्सन्न०	
चित्तन में आर्त क्यों नहीं ?	३९	बहुल० नानाविध० आभरण०	७८

विषय	पृष्ठ
धर्मध्यान	
१२ द्वार भावना आदि	८२
४ भावना	८४
५ ज्ञान-भावना: नित्य अभ्यास, मनोधरण, विशुद्धि, भवनिर्वेद,	
ज्ञानगुण-ज्ञातसार	८६
जीव व अजीव के गुणपर्यायसार	८८
ज्ञान-गुणज्ञातसार का दूसरा अर्थ	९०
दर्शन भवना: त्याज्य ५ दोष:	
शंका० कांक्षा० विचिकित्सा०	
प्रशमा० संस्त्व०	९२
३६३ पाखण्डी	९८
प्रश्नमादि ५ गुण: प्रश्नम० स्थि- रता० प्रभावना० आयतन सेवा.	
भक्ति०	१००
प्रशमादि ५ गुण	१०१
चारित्र भावना	१०३
वैराग्य भावना	१०५
सुविदित जगत-स्वभाव-निरस गता	१०६
निर्भयता निराशंसता क्रोधा-	
दिरहितता, उनके उपाय	१०८
ध्यान के लिए देश (स्थान)	११५
कृतयोगी सत्त्वभावना-सूत्रतप	११७
काय-वाग् मनोयोगमय ध्यान	१२०
ध्यान का काल	१२२
ध्यान का आसन	१२३
योग समाधान मुख्य नियामक	१२१

विषय	पृष्ठ
ध्यान के लिए आलंबन	१२६
श्रुतधर्म चारित्रधर्म	१२८
धर्म-शुक्ल ध्यान में क्रम	१३०
जिनमूर्ति कैसी चाहिए ?	१३१
ध्यान का विषय ४ धर्मध्यान के ध्येय आज्ञा, अपाय, विपाक, संस्थान	१३३
(१) आज्ञाविषय	१३६
सुनिपुण आज्ञा	१३७
द्रव्यार्थादेश	१३८
भूतहिता-भूतभावना	१३९
'अणघ' के २ अर्थ	१४०
एक सूत्र के अनन्त अर्थ	१४२
अमिय=अमृत-पथ्य-सजीव	॥
अजित : 'महत्थ' = महार्थ-	
महत्थ-महास्थ	१४३
४ अनुयोगद्वार	१४४
महानुभाव	१४६
महाविषय : निरवद्य	१४७
अनिपुण दुर्ज्ञेय	१४८
सप्तभंगी	१४९
द्रव्यादि ४ प्रमाण	१५०
३ भावप्रमाण-गुण-नय-	
संख्या प्रमाण	१५२
प्रत्यक्ष, अनुमान-उपमान-आगम	॥
दर्शन चारित्रगुण प्रमाण	१५३
नयप्रमाण : प्रस्थक-वसति-	
प्रदेश दृष्टान्त	१५४

विषय	पृष्ठ	विषय	पृष्ठ
नैगमादि ७ नय	१५४	(३) क्षेत्रलोक-बलय-द्वीपादि	१९१
संख्या प्रमाण : उपमा-परिमाण		विमान आदि अद्वर कैसे	१९५
ज्ञान-गणना-भाव संख्या	१५५	(४) जीव पर चिंतनः लक्षण-	
पारमार्थिक प्रत्यक्ष-परोक्ष	१५६	साकार-निराकार उपयोग	१६६
गम=अर्थमार्ग	१५७	कालस्थिति-देहभित्तता-	
जिन वचन न समझने के		अरुणिता	१६८
६ कारण	१५९	स्वकर्मकर्तृत्व-भोक्तृत्वः	
(२) अपाद्यविचय	१६३	सांख्य दर्शन	२०१
रागादि कषायो के अनर्थ	१६४	(५) संसार-चिंतन	२०३
अविरति-अनर्थ	१६६	संसार खाली होगा ?	२०५
४ क्रिया	१६७	(६) चारित्र-चिंतन	२०७
अनर्थ के दृष्टान्त	१६८	चारित्र जहाज-सम्यक्त्व-	
अनर्थों का मूलः राग	१६९	बंधन-ज्ञान कप्तान	११
(३) विपाकविचय	१७०	स्थिरता के उपाय	२०९
कर्मों के प्रकृति-स्थिति-		१८००० शीलाङ्ग	२१०
प्रदेश-अनुभाव	११	(७) मोक्ष-चिंतन	२१२
(४) संस्थान विचय	१७३	जिनागम में जीवादि विचार	२१४
इसमें चिन्तनीय ७ पदार्थसंक्षेप		धर्मध्यान के १० प्रकार	
६ द्रव्य-८ लोक-क्षेत्र-		आज्ञादि ४-जीव-अजीव-भव-	
जीवसंसार-चा-रित्र-मोक्ष	१७६	विराग-उपाय-हेतु-विचय	२१७
(१) छःद्रव्य-संस्थान-आसन	१७७	वस्तु में द्रव्यांश-पर्यायांश	२२१
द्रव्यों का परिमाण व प्रमाण	१८०	सच्चा विद्वान कौन ?	२२३
पर्यायः उत्पत्ति स्थिति-नाश	१८२	धर्मध्यान का मुख्य बाधक	२२४
नित्य में उत्पत्ति-नाश ?	१८३	पूर्वों के ज्ञान विना शुक्ल-	
(२) पंचास्तिकायमय लोक	१८५	ध्यान कैसे ?	२२५
जगत्कर्ता ईश्वर मानने में		३-४ थे शुक्ल के अधिकारी	२२७
दोष	१८७	ध्यानान्तरिका	११
नामादि लोक ८	१८८	१२ अनुप्रेक्षा (भावना)	२२८
पुनरुक्ति दोष कहां २ नहीं ?	१९०		

विषय	पृष्ठ
भावनाओं का लाभ	२३३
धर्मध्यान में लेश्या	२३५
धर्मध्यान के लिङ्गः	
(१) आगम-उपदेश-आज्ञा	
या निसर्ग से श्रद्धा	२३६
(२) जित-साधु-गुणगान-	
विनय पूजा-दान-श्रुत-शील-	
संपन्नता	२३८
४ शुक्ल ध्यान	२४०
आलम्बनः क्षमादि	२४१
क्रोध निग्रह की विचारणा	२४२
मान " " "	२४४
माया-लोभ " " "	२४५
शुक्ल ध्यान किस तरह	
ध्याये ?	२४७
मनःसंकोच के ३ दृष्टान्तः	
विष-अग्नि-जल	२५२
वचनयोग-काययोग का	
निरोध	२५६
कायादियोग आत्मगुण है	२५७
वाणी-विचार के बारे में	
न्याय दर्शन	२५६
योगनिरोध की प्रक्रिया	"
केवलिसमुद्घातः 'सेलेसी'	
के ४ अर्थ	२६२
शैलेशी में कर्मक्षय की	
प्रक्रिया	२६४
(४) जीव पर चिंतनः लक्षण-	
साकार-निराकार उपयोग	१६६
अस्पृशद्गति व साकारो-	
पयोग से सिद्धि	२६६

विषय	पृष्ठ
१ ला शुक्ल ध्यानः	
पृथक्त्व-वितर्क-सविचार	२७१
२ रा शुक्ल ध्यान	२६८
४ शुक्ल ध्यान कब ?	२७२
शुक्ल ध्यानों में योग	१०४
मन बिना भी ध्यान	२७५
अयोगावस्था में ध्यान क्या ?	२७६
इसके ४ कारण	२७७
तत्त्वदृष्टि के २ कारण	
आगम व तर्क	२७६
शुक्ल० में अनुप्रेक्षा	२८१
" " लेश्या	२८४
" के लिङ्गः अवध-	
असंमोह-विवेक-व्युत्सर्ग	२८६
शुक्ल ० के फल	२८८
धर्म-शुक्ल० संसार विरोधी	२६१
ध्यान से मोक्षः कारण ?	२६२
ध्यान से कर्मनाश ३ दृष्टान्तः	
जल-अग्नि-सूर्य	२६३
ध्यान का प्रभाव	२६४
ध्यान यह कर्मरोग की	
चिकित्सा	२६५
कर्मदाहक दावानल	२६६
ध्यान हवा से कर्मबादल नष्ट	२६७
ध्यान का प्रत्यक्ष फल	
मानस पीडा नाश	२६६
ध्यान से शारीरिक दुःख में	
पीडा नहीं	३०१
ध्यान यह गुणों का स्थान, सुखों	
का साधन, सर्वदा ध्यातव्य	३०२

❀ ध्यानशतक ❀

श्री ध्यानशतक नाम से प्रसिद्ध 'ध्यानाध्ययन' नामक १०४ माथा के शास्त्र की पूर्वधर महर्षि पू० श्री जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण महाराज ने रचना की । उस पर पू० आ० श्री हरिभद्रसूरिजी महाराज ने 'संक्षिप्त व्याख्या' की । दोनों महर्षि इतने अति उच्च श्रेणी के विद्वान हैं कि उनकी पंक्तियों का बाद के शास्त्रकार अपने रचित शास्त्रों में सूत्राक्षर की तरह आधार रूप में उद्धृत करते हैं ।

आचार्य पुरंदर श्री जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण

आप पूर्वधर महर्षि हैं । १४ पूर्व नाम के शास्त्र श्रुत-सागर समान हैं । उनमें से वे 'पूर्व' शास्त्र के जानकार हैं । उनके बाद तो 'पूर्व' शास्त्र बिलकुल ही नष्ट हो गये क्योंकि वे लिखे हुए नहीं थे । वे केवल मौखिक रूप से पढ़े जाते, पढ़ाये जाते और याद रखे जाते । सभी मौखिक काल के प्रभाव से जीवों की बुद्धि का ह्रास होने से उसे ग्रहण करना तथा याद रखना कठिन हो गया । अतः श्री महावीर प्रभु के बाद १४ पूर्व में से क्रमशः नष्ट होते होते १००० वर्ष में तो 'पूर्व' ज्ञान पूर्णतः नष्ट हो गया । श्री जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण महाराज प्रथम सहस्राब्द के अन्तिम भाग में हुए अतः उन्हें लगभग १ पूर्व का ज्ञान होगा ऐसा माना जाता है । इतना भी कुछ कम नहीं । उसके आधार पर उन्होंने अकेले 'करेभिभंते' सामायिक सूत्र की नियुक्ति पर लगभग साढ़े तीन हजार श्लोक प्रमाण 'विशेषा-वश्यक भाष्य' की रचना की । उसमें पंचज्ञान, अनुयोग, गमाधरवाद,

निन्हववाद, परमेश्वर नमस्कार आदि पर ऐसे तर्क पूर्ण विशद विवेचन किये कि बाद में वह शास्त्र 'आकर ग्रन्थ' के रूप में प्रसिद्ध हुआ, एवं द्रव्यानुयोग का महाशास्त्र गिना जाता है। उपरांत इसी महर्षि ने श्रमणसूत्र में आये हुए 'चर्जिह ज्ञाणेहि' पद को लेकर 'ज्ञाण' याने 'ध्यान' पर 'ध्यानाध्ययन' की रचना की। वह १०५ गाथा का है। अर्थात् (१००) 'शत' के निकट की संख्या की गाथाओं का है। अतः यह अध्ययन 'ध्यान शतक' नाम से पहचाना जाता है।

सरिपुरंदर श्री हरिभद्रसुग्रीश्वरजी महाराज ने

इस शास्त्र की गाथाओं के प्रत्येक पद के गम्भीर भाव स्पष्ट करने के लिए पूरी व्याख्या रची है। १४४४ शास्त्रों के प्रणेता के नाम से प्रसिद्ध इन बृहश्रुत महाप्रज्ञ आचार्य भगवन्त की भी भारी ख्याति है। योगशतक, योगदृष्टिसमुच्चय, योगबिन्दु, अनेकान्तवाद, उपदेशपद, पंचाशक, धर्मसंग्रहणी आदि मौलिक शास्त्रों की रचना के उपरांत उन्होंने श्री चैत्यवन्दन सूत्रवृत्ति, आवश्यक सूत्र वृत्ति आदि व्याख्या ग्रन्थों की भी रचना की है। इसमें से एक इस ध्यानशतक पर यह संक्षिप्त व्याख्या ग्रन्थ है। इन दोनों के आधार पर यहां मूल गाथा तथा अर्थ देकर उस पर गुजराती भाषा* में सरल विवेचन किया गया है। जहां 'ध्यान शतक' के रचयिता पूर्णधर महर्षि हों और व्याख्याकार समर्थ शास्त्रकार हों, तो फिर उस ग्रन्थ में आये हुए पदार्थों का गौरव कितना अधिक होगा, यह समझा जा सकता है। व्याख्याता स्वयं ही लिखते हैं कि 'ध्यान शतक' शास्त्र महार्थ है अर्थात् महान पदार्थों से भरा हुआ है; अतः यह 'आवश्यक' से एक भिन्न शास्त्र है। इसलिए इसके प्रारम्भ में शास्त्रकार मंगलाचरण करते हैं; जिससे विघ्न दूर हों। इस मंगल के रूप में इष्टदेव

* यह उसका हिन्दी अनुवाद है।

को नमस्कार करते हुए वे इस प्रकार कहते हैं:-

वीरं सुक्कज्झाणाग्गिदड्ढकम्मंधरां परागमिऊण ।

जोईसरं सरणां भाणाज्झयणां पवक्खामि ॥१॥

अर्थ:-शुक्लध्यान रूपी अग्नि से कर्म ईंधन को जलाने वाले योगेश्वर (योगीश्वर, योगीसर) तथा शरण करने योग्य श्री वीर-प्रभु को नमस्कार करके मैं 'ध्यान' का अध्ययन कहूंगा ।

विवेचन :

यहां वर्तमान जिनशासन के अधिपति चौबीसवें तीर्थंकर श्री वीर विभु को नमस्कार किया है । ये 'वीर' अर्थात् विशेष रूप से कर्मों का 'ईरण' करने वाले (निकाल भगाने वाले) हैं । वह भी ऐसा कि स्वात्मा पर एक भी कर्म बाकी न रहे और जाने के बाद पुनः कभी न आवे । अथवा 'वीर' याने मोक्ष में जाने वाले ।

उन्होंने शुक्ल ध्यान से कर्मों को निकाल भगाया ।

'शुक्ल' याने शोक को पीड़ित करके या उसे थकाकर के रवाना करने वाला ध्यान ।

प्रश्न— ध्यान क्या वस्तु (चीज) है ?

उत्तर— 'ध्यान' अर्थात् जिसके द्वारा तत्त्व का मनन किया जाय, एकाग्र चितन किया जाय । अतः तत्त्व पर एकाग्रता से चित्त को रोक रखना । मात्र चितन में, भावना में या विचारणा में चित्त एक वस्तु पर से दूसरी पर तथा दूसरी से तीसरी पर भटकता रहता है । तब ध्यान में वह एक ही विषय पर एकाग्र व स्थिर बनता है, उसे स्थिर रखा जाता है । यह ध्यान भी धर्म ध्यान नहीं, परन्तु

शुक्ल ध्यान । वह प्रचंड अग्नि के समान है । वह कर्म रूपी काष्ठ को जलाकर भस्म कर डालता है ।

प्रश्न - कर्म का अर्थ क्या है ?

उत्तर— “क्रियते तत् कर्म ।” अर्थात् मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद, कषाय तथा योग द्वारा जो उत्पन्न किया जाता है, वह कर्म कहलाता है । वह एक प्रकार का अत्यन्त सूक्ष्म पौद्गलिक रजकण है । भाषा या मानसिक विचार के पुद्गल से भी यह सूक्ष्म पुद्गल (Matter) है । आत्मा मिथ्या दर्शन आदि सहित होते ही तुरन्त ये रजकण कर्म रूप बनकर आत्मा के साथ चिपक जाते हैं । जैसे तेल वाले वस्त्र पर वातावरण के रजकण चिपकते हैं न ? तेल का हिस्सा उसे खींचता है । इसी तरह मिथ्यादर्शनादि तेल की तरह कर्मागुओं को आत्मा के भीतर खींचते हैं । दूसरे लोग कर्म को भाग्य, अदृष्ट, प्रारब्ध आदि व गुणरूप कहते हैं । परन्तु वह गुणरूप न होकर जड़ पुद्गल स्वरूप है । इसीलिए उसमें कितने ही प्रकार के परिवर्तन हो सकते हैं ।

प्रश्न— मिथ्यादर्शन अविरति आदि क्या हैं ?

उत्तर— ये आत्मा के परिणाम (भाव) हैं । मिथ्यादर्शन ऐसा आत्म-परिणाम है कि उसमें वस्तुदर्शन मिथ्या रूप में होता है । वस्तु जिस स्वरूप में है, उसे वैसे रूप में न देखकर या न मानकर विपरीत रूप में मानना या देखना ही मिथ्यादर्शन है । उदा० आत्मा को ज्ञानादि स्वरूप न मानकर शरीर रूप में या ज्ञानादि स्वभाव

से रहित खाली या मात्र कोरा मानना । इसी तरह परमात्मा को वीतराग या उदासीन न मानकर जगत्कर्ता मानना । यह मिथ्या-दर्शन है । अविरति अर्थात् हिंसादि पापों का प्रतिज्ञा पूर्वक त्याग नहीं करना । विरति अर्थात् प्रतिज्ञापूर्वक त्याग । उदा० 'मैं जीव को नहीं मारूंगा ।' ऐसी प्रतिज्ञा करके हिंसा नहीं करे वह हिंसा से विरति हुई । पर हिंसा न करता हो, तब भी प्रतिज्ञा न होना यह हिंसा की अविरति है । प्रमाद याने अज्ञान, भ्रम, संशय, विस्मरण आदि । *कषाय अर्थात् जिससे 'कष' = संसार का 'आय' = लाभ हो वह क्रोध मान, माया, लोभ, हास्य, शोक, हर्ष, खेद आदि । योग याने मन-वचन काया को प्रवृत्ति का आत्म परिणाम, चैतन्य स्फुरणा ।

ये पाँचों या कम या ज्यादा कारणों आत्मा का कर्मों से संबन्ध करवाते हैं ।

प्रश्न — कर्म कितने प्रकार के हैं तथा वे क्या काम करते हैं ?

उत्तर — कर्म असल में आठ प्रकार के हैं । नीचे के टेबल पत्रक पर से समझ में आवेगा कि प्रत्येक प्रकार के आत्मा के असली स्वभाव को ढक कर उसे वैसे विकृत स्वरूप में दिखाते हैं । उदा० प्रथम ज्ञानावरणीय कर्म आत्मा के अनन्त ज्ञान स्वभाव को ढक कर अज्ञानता का मैला स्वरूप उत्पन्न करता है । मोहनीय कर्म वीतरागता का आच्छादन करके आत्मा में राग द्वेष मिथ्यात्व आदि मलिनता खड़ी करता है ।

आठ कर्म तथा आत्मा का शुद्ध तथा विकृत स्वरूप

कर्म	आत्मा का शुद्ध स्वरूप	आत्मा का विकृत स्वरूप
१ ज्ञानावरण	अनन्त ज्ञान	अज्ञान
२ दर्शनावरण	अनन्त दर्शन	अदर्शन, निद्रा
३ वेदनीय	स्वाभाविक अव्याबाध सुख	शाता, अशाता
४ मोहनीय	सम्यग्दर्शन, वीतरागता	मिथ्यात्व, अविरति, राग- द्वेष, कषाय, काम, हास्यादि वगैरे ।
५ आयुः कर्म	अजर, अमर-अक्षयता	जन्म, जीवन, मरण,
६ नाम कर्म	अरूपिता	शरीर, इन्द्रिय, चाल, यश, अपयश, सौभाग्य, दुर्भाग्य आदि ।
७ गौत्र कर्म	अगुरुलघुत्व	उच्चकुल, नीच कुल ।
८ अन्तरायकर्म	दान, लाभ, भोग, उपभोग, वीर्यलब्धि	कृपणता, दरिद्रता, पराधीनता, दुर्बलता ।

ये कर्म आत्मा में अति तीव्र दुःख का अग्नि प्रकट करते हैं, अतः ये ईंधन-काष्ठ के समान हैं । ऐसे इन कर्मों को शुक्ल ध्यानाग्नि से जिन्होंने जला डाले हैं, अर्थात् इन कर्मों के स्वभाव का नाश करके उन्हें दूर कर दिया है ऐसे श्री वीर परमात्मा हैं ।

प्रश्न— मिथ्यादर्शन अविरति आदि से एकत्रित किये कर्म अकेले शुक्ल ध्यान से कैसे दूर हो जाते हैं ?

उत्तर— शुक्ल ध्यान तभी आता है जब पहले मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद और अधिकांश (ज्यादातर) कषाय दूर हो चुकते हैं। अतः उनके दूर होने से सम्यग् दर्शन, विरति, अप्रमत्तता तथा उपशम तो साथ में खड़े ही हैं। परन्तु केवल इन्हीं में ऐसा कर्मनाश करने की ताकत नहीं है। क्योंकि इनमें अभी आत्मा विविध भावों में घूमते हुए ज्ञानोपयोग से चल या विचलित है, अस्थिर है। अस्थिर से कर्म इस तरह साफ नष्ट नहीं होंगे। तब जीव शुक्ल ध्यान में एकाग्र उपयोग में स्थिर होता है, उससे जबरदस्त कर्मनाश सुलभ हो जाता है।

महावीर प्रभु ने शुक्ल ध्यान से कर्मनाश किया है अतः वे योगेश्वर या योगीश्वर अथवा योगीस्मर्य बन गये हैं।

योगेश्वर :

अर्थात् अनुपम योग अर्थात् मन वचन काया के व्यापार से प्रधान तथा अतिशयोक्ति से मुख्य। प्रभु के योग अनुपम क्यों ? इस तरह:—

मनःपर्याय ज्ञानी मुनि और अनुत्तरवासी देवों के संशय भगवान केवलज्ञान से जानकर द्रव्यमनोयोग से उसका छेद करते हैं अर्थात् संशय समाधान की विचारधारा के योग्य मानस पुद्गलों को व्यवस्थित करते हैं, संगठित करते हैं और उन्हें वह संशय-ग्रस्त आत्मा विशिष्ट ज्ञान से जान कर समाधान प्राप्त कर लेता है।

(२) तो प्रभु का वचनयोग भी इतना ही अनुपम है। समवसरण में प्रभु की वाणी योजन-गामिनी होती है। प्रत्येक अक्षर, पद, वाक्य साफ स्पष्ट और समझने में सरल होता है। उपरांत, म्लेच्छ, आर्य तथा तिर्यच जो भिन्न भिन्न भाषा वाले होते हैं उन्हें अपनी अपनी भाषा में वह वाणी परिणामित होकर समझ में आ जाती है। अर्थात् वचन स्वयं ही उनकी भाषा में परिवर्तित हो जाते हैं। पुनः वह

वाणी श्रोता के मन को इतना ज्यादा आनन्द देने वाली होती है कि कदाचित् ६ मास तक सतत सुनी जाय तो भी वहां भूख प्यास या थकान आदि किसी भी पीड़ा का अनुभव नहीं होता । उपरांत उसमें से एक एक वाक्य भी अनेकों के भिन्न भिन्न संशय को दूर करने की जोरदार शक्ति रखता है, एवं जिनवाणी का रस भी इतना अगाध होता है कि समस्त जीवनभर सुनने पर भी श्रोता को तृप्ति नहीं होती, उसे पूर्ण संतुष्टि (सुन चुकने की) नहीं होती, परन्तु अभी भी अधिकाधिक सुनने की इच्छा अतृप्त इच्छा रहा करती है ।

प्रभु का काययोग अर्थात् कायिक प्रवृत्ति भी सब देवताओं से अधिक तेजस्वी तथा मनोहर होती है । तब भी उसकी विशिष्टता यह है कि उससे जीवों के समूह घबराते नहीं हैं पर हमेशा उन्हें प्रशांत स्वरूप वाले कर देती है । उनके पास आये हुए सिंह, हिरन, शेर, बकरी, सपें, मोर आदि परस्पर वर भूल कर मित्र जैसे बन कर शांत हो कर बैठ जाते हैं ।

योमीश्वर :

अर्थात् (१) योगियों के ईश्वर । इसमें 'योग' अर्थात् जिससे आत्मा केवलज्ञानादि के साथ जुड़ जाता है वह धर्म-शुक्ल ध्यान । ऐसे योग वाले साधु ही योगी हैं । उनके लिए ईश्वर समान अथवा ऐश्वर्यवान् । ये योगी प्रभु के ही उपदेश से योग में प्रवर्तमान होने से प्रभु के ही गिने जाते हैं । उनसे प्रभु का ऐश्वर्य गिना जाय वैसे शोभावान् भी । अतः प्रभु उनके ईश्वर अथवा उनके होने से ऐश्वर्यवान् कहलाते हैं । जैसे चक्रवर्ती ३२००० मुकुटबद्ध राजाओं के कारण ऐश्वर्यवान् है । अथवा (२) प्रभु योगियों के ईश्वर अर्थात् स्वामी हैं ।

योगीश्वर (या योगीस्मर्य) अर्थात् प्रभु योगियों के लिए स्मर्य अर्थात् स्मरणीय, स्मरण चिंतन व ध्यान करने योग्य हैं।

‘शरण्य’ हैं प्रभु; आंतर शत्रु रागादि से पीटे गये जो जीव प्रभु का शरण लेते हैं, उनके प्रति वे अति वत्सल हैं, वात्सल्य धारण करने वाले अथवा रक्षण देने वाले हैं।

प्रश्न— भगवान् शुक्लध्यानाग्नि से कर्म को जला डालने वाले हैं, अतः वे योगीश्वर व शरण्य तो हैं ही। फिर ये दो विशेषण लगाने का क्या प्रयोजन ? यह अर्थ पहले शब्द में ही गतार्थ (समाया हुआ) है।

उत्तर— शुक्ल ध्यान से कर्मनाश करने वाले तो दूसरे सामान्य (अतीर्थकर) केवल ज्ञानी भी होते हैं किन्तु वे योगेश्वर नहीं होते। क्योंकि उन्हें प्रभु के जैसे वचन तथा काया के अतिशय नहीं होते। वैसे ही उन्हें भी केवलज्ञान प्राप्ति में प्रभु ही शरण्य बने हुए हैं अतः वस्तुतः अन्तिम शरण्य प्रभु ही हैं। अतः इन दो विशेषणों से प्रभु की अधिकता बताने का प्रयोजन है।

प्रश्न— तो फिर मात्र ‘योगेश्वर’ विशेषण लगाने से ‘शुक्ल-ध्यानाग्नि से कर्मनाशक’ विशेषण गतार्थ हो जाता है न ? अलग क्यों कहा जाय ?

उत्तर— नहीं, यों तो योगेश्वर के रूप में अणिमादि लब्धि वाले भी गिने जाते हैं। उनसे भी प्रभु को ज्यादा बताने के लिए ‘शुक्ल ध्यानाग्नि से कर्मनाशक’ कहना जरूरी है।

अथवा दूसरे शब्दों में कहें तो एक विशेषण कह देने से दूसरे विशेषणों का भाव उसमें समा जाता हो तब भी अल्पज्ञ शिष्य उसे

जं थिरमज्जवसाणं तं भाणं, जं चलं तयं चित्तं ।

तं होज्ज भावणा वा, अणुपेहा वा, अहव चित्ता ॥२॥

अर्थ- जो स्थिर मन है, वह 'ध्यान' है। जो चंचल मन है, वह 'चित्त' है। वह चित्त भावना रूप हो, अनुप्रेक्षा रूप हो, या चित्ता स्वरूप हो।

स्वयं समझने की शक्ति वाले नहीं होते। अतः उन्हें अज्ञात वस्तु बताने के लिए अन्य विशेषणों का उल्लेख करना जरूरी है। पूर्व महर्षि भी यही मानते हैं, अस्तु।

ऐसे महावीर प्रभु को प्रणाम करके 'ध्यान' का प्रतिपादन करने वाला अध्ययन यहां अच्छा तरह (प्रकर्षण) कहा जायगा। 'प्रणाम' याने प्रकर्ष से मन वचन काया के त्रिविध योग से नमस्कार। इसी तरह 'प्रकर्ष से कथन' अर्थात् यथास्थितता को रखते हुए कथन। सर्वज्ञ की दृष्टि से 'ध्यान' पदार्थ जैसे स्वरूप का है वैसे ही स्वरूप में कथन। किन्तु जरा भी परिवर्तन वाला नहीं।

अब ध्यान का लक्षण बताया जाता है:-

विवेचन :

ध्यान कहो, भावना कहो, ये सब मन की अवस्थाएं हैं।

यहां मन की दो अवस्थाएं बताई हैं। १. ध्यान तथा २. चित्त। इसमें मन को एक ही विषय पर एकाग्रता का आलंबन करवाना, दूसरे या तीसरे विचार न करके एक में ही स्थिर करना, उसे 'ध्यान' कहते हैं। तब जो मन अस्थिर है अर्थात् एक विषय के विचार पर से दूसरे विषय के विचार में भटकता हो, उसे 'चित्त' कहते हैं। ध्यान के प्रकार आगे कहे जावेंगे।

‘चित्त’ के ३ प्रकार हैं । १. भावना, २. अनुप्रेक्षा तथा ३. चिन्ता । भावना अर्थात् ध्यान के लिए अभ्यास की क्रिया, जिससे मन भावित हो । भस्म या रसायनादि को भावित करने के लिए भिन्न-भिन्न वनस्पति के रस से भावित किया जाता है अथवा उसके पुट दिये जाते हैं; जिससे वह उससे अच्छी तरह सन जावे । कस्तूरी का डिब्बी में रात को रखा हुआ दतून सुबह कस्तूरी से भरा हुआ सा लगता है अर्थात् उसे उसकी भावना या पुट लगा, इसी तरह मन को भावित करने वाले ज्ञानादि के बराबर अभ्यास की प्रवृत्ति करने को याते मन को उसमें लगाये रखना भावना कहलायेगी । इससे दूसरे तासरे विकल्पों से बचकर मन अब ध्यान अर्थात् एक तत्त्व पर एकाग्रता के लिए समर्थ बन जाता है ।

अनुप्रेक्षा का अर्थ है पीछे की ओर दृष्टि करना । जिन तत्त्वों का अध्ययन किया हो, उसे याद करके जो चिन्तन मनन किया जाता है वह है अनुप्रेक्षा । ध्यान एक अन्तर्मुहूर्त से ज्यादा नहीं टिकता । अतः इतना समय निकलने पर मन ध्यान से भ्रष्ट होगा । उस समय यदि मन को किसी तत्त्वस्मरण में जोड़ा जाय तो उसे अनुप्रेक्षा करना कहेंगे । इससे पुनः ध्यान में जुड़ने से पहले मन व्यर्थ विकल्पों से विचलित न हो । उदा० जगत के संयोगों की अनित्यता के तत्त्वों का विचार किया जाय तो वह उसकी अनुप्रेक्षा हुई । इस तरह जगत के जीवों की अशरण अवस्था, संसार की विचित्रता आदि किसी भी तत्त्व की अनुप्रेक्षा की जा सकती है । इस तरह सूत्र या अर्थ का चिन्तन या स्मरण किया जाय तो वह अनुप्रेक्षा है ।

चिन्ता अर्थात् भावना या अनुप्रेक्षा सिवाय की मन की अस्थिर अवस्था । उदा० यह सोचना कि ‘अब क्या कर्तव्य है ?’ या ‘मेरे रागादि कितने कम हुए ?’ इत्यादि विचारधारा ‘चिन्ता’ है ।

अंतो मुहुत्तमेत्तं चित्तवत्थाणमेधवत्थुंमि ।

छउमत्थाणं भाण जोगनिगेहो त्रिणाणं तु ॥३॥

अर्थ- एक वस्तु में चित्त की स्थिरता सिर्फ एक अन्तमुहूर्त रहती है। यह ध्यान छद्मस्थों को होता है। वीतराग सर्वज्ञ के लिए योगनिरोध ही ध्यान है।

ऐसे तीन प्रकार के चित्त से भिन्न मन की स्थिर अवस्था 'ध्यान' कहलाती है। ऐसा सामान्य स्वरूप बता कर अब ध्यान का काल (समय) तथा स्वामी कौन है, यह बता कर उसका विशेष रूप से वर्णन करते हैं।

विवेचन :

एक ध्यान ज्यादा से ज्यादा अन्तमुहूर्त तक टिकता है। इसका नाप इस तरह है:—परम सूक्ष्म अविभाज्य काल को एक 'समय' कहते हैं। केवलज्ञानी की दृष्टि से भी इसके हिस्से नहीं हो सकते। क्षण या पल तथा विपल के हिस्से हो सकते हैं; पर समय के नहीं। अतः सबसे छोटा या सूक्ष्म काल 'समय' है। ऐसे असंख्य समय का एक श्वासोच्छ्वास काल होता है। हृष्ट पुष्ट तन्दुरुस्त और निश्चित पुष्ट वय के मन वाले उम्मेर लायक मनुष्य के हृदय की एक धड़कन में जो समय लगता है उसे प्राण कहते हैं। ऐसे ७ प्राण = १ स्तोक। ९ स्तोक (४९ प्राण) = १ लव। और ७७ लव (३७७३ प्राण) = १ मुहूर्त अथवा २ घड़ी (४८ मिनट) इससे कम काल को अन्तमुहूर्त कहते हैं। उसे भिन्नमुहूर्त भी कहते हैं।

मात्र इतने समय तक ही चित्त एक वस्तु पर एकाग्र स्थिर रह सकता है, निष्कम्प अवस्थान कर सकता है। फिर साधारण मात्र भी चलित होकर पुनः ध्यान लग सकता है। पर अन्तमुहूर्त बाद

उसमें से अवश्य विचलित होगा। यहां 'वस्तु' कहा है। यह वस्तु अर्थात् जिसमें गुण तथा पर्याय रहते हैं अर्थात् कोई चेतन या जड़ द्रव्य। चेतन के गुण ज्ञान दर्शनादि। जड़ पुद्गल के गुण, रूप रसादि। चेतन के पर्याय अर्थात् देवत्व, मनुष्यत्व, बचपन या कुमारावस्था आदि। जड़ के पर्याय पिंडत्व, शंकु या घड़ा आदि अवस्था। ऐसी गुण पर्याय वाली किसी वस्तु पर ध्यान सतत ज्यादा से ज्यादा अन्तर्मुहूर्त तक टिक सकता है। यह ध्यान के काल की बात हुई।

ध्यान के स्वामी छद्मस्थ भी व केवली भी होते हैं। छद्म याने ज्ञानादि गुण का आच्छादन करे, ढक दे, वे ज्ञानावरणादि घाती कर्म। उसमें रहे हुए (जिस पर ये कर्म हैं वह) छद्मस्थ। उनके मन को एकाग्रता सतत अन्तर्मुहूर्त मात्र की। जिसके घाती कर्म नष्ट होने से जो सर्वज्ञ केवली हो चुके हैं, उन्हें सभी कुछ प्रत्यक्ष होने से तथा साधना संपूर्ण हो जाने से ध्यान याने एकाग्र चितन करने का कुछ रहता ही नहीं। तब भी वे अन्त में जो योगनिरोध करते हैं, वही उन्हें ध्यान रूप होता है। जैसा इसी ग्रन्थ में आगे कहा जाएगा, मात्र मन की ही नहीं, काया की सुनिश्चलता भी ध्यान ही है और योगनिरोध में वह होता है।

योग तथा निरोध क्या चीज है ?

योग अर्थात् औदारिकादि शरीर आदि के संयोग से उत्पन्न आत्मा के परिणामरूप व्यापार। जैसे कहा है कि औदारिकादि शरीर के सम्बन्ध के कारण आत्मा में जो वीर्य स्फुरण होता है वह काययोग है। औदारिक, वैक्रिय, आहारक शरीर के व्यापार से जीव पहले भाषाद्रव्य, भाषावर्गणा के पुद्गल ग्रहण करता है (और

उन्हें भाषा रूप में परिवर्तित करता है ।) फिर इन पुद्गलों के सहारे जीव में जो वीर्य स्फुरण होता है वह वचनयोग कहलाता है । इस तरह औदारिकादि काया के व्यापार से मनोद्रव्य याने मनो-वर्गणा के पुद्गल लेकर (मन रूप में परिवर्तित करके) मनोद्रव्य समूह के सहारे जीव में जो वीर्य स्फुरण होती है वह मनोयोग है ।

आठ पुद्गल वर्गणाएँ

जगत में जीव के उपयोग में आने लायक जड़ पुद्गल अणुसमूह ८ प्रकार के हैं । १ से ४, औदारिक, वैक्रिय, आहारक व तैजस तथा ५ से ८, भाषा, श्वासोच्छ्वास, मानस तथा कार्मण । इम प्रत्येक समूह को वर्गणा कहते हैं । (१) एकेन्द्रिय से लगाकर पंचेन्द्रिय तिर्यच तक के सब के शरीर अर्थात् पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु, वनस्पति तथा अनेक प्रकार के कीड़े, मकोड़े, मक्खी और पशु पक्षी के शरीर तथा मनुष्य के शरीर औदारिक वर्गणा से बनते हैं । (२) देव तथा नारकी के शरीर जिस पुद्गल समूह से बनते हैं वह वैक्रिय वर्गणा है । (३) चौदह पूर्वी महामुनि विचरते हुए भगवान के पास भेजने के लिए उन्हें स्वयं को प्रकट हुई आहारक लब्धि (शक्ति) से जो शरीर बनाते हैं, उसके पुद्गल को आहारक वर्गणा कहते हैं । (४) शरीर में आहार का पाचन कराने की शक्ति जिस पुद्गल में है वह तैजस वर्गणा का है । (५) शब्द बोलने के लिए जिस पुद्गल से शब्द बनता है वह भाषा वर्गणा । (६) श्वासोच्छ्वास के लिए उपयुक्त पुद्गल श्वासोच्छ्वास वर्गणा है । (७) विचार करने के लिए मन जिस पुद्गल से बनता है वह मनोवर्गणा है; तथा (८) आत्मा पर चिपकते हुए कर्म जिसमें से बनते हैं वह कार्मण वर्गणा है ।

इसमें औदारिकादि काया की जो प्रवृत्ति होती है अर्थात् जो शरीरक्रिया होती है वह स्वतः नहीं होती । परन्तु जैसे बीमार

मनुष्य लकड़ी के सहारे चलता है, वैसे इस शरीर के सहारे से आत्मा में वीर्य परिणाम की स्फुरणा से शरीर क्रिया होती है। इस आमपरिणाम को काययोग कहते हैं। तब वचनयोग तथा मनोयोग क्या है ? काय योग से भाषावर्गणा तथा मनोवर्गणा के पुद्गल लेकर उन्हें वचन व मन के रूप में परिवर्तित करके उसके सहारे जीव बोलने तथा विचारने का जो वीर्य स्फुरण करता है वह वचनयोग तथा मनोयोग है।

योग निरोध आशयक क्यों ?

आत्मा जब सर्वज्ञ बन जाता है, तब कर्म बन्ध के कारण-स्वरूप मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद तथा कषाय तो नष्ट हो चुकते हैं, परन्तु आहार, निहार, विहार व उपदेश आदि में उक्त 'त्रिविध योग' रूप बन्ध का अन्तिम कारण चालू रहता है। यह यदि मोक्ष में जाने के अन्तिम समय तक चालू रहे तो उससे बांधे हुए कर्म को कब छोड़ा जाय, कहां छोड़ा जाय ? उन्हें छोड़े बिना सर्व कर्म मुक्ति या मोक्ष कसा ? अतः मोक्ष जाने से पहले अन्तिम आयुष्य की पूर्णाहुति के वक्त पांच ह्रस्वाक्षर अ इ उ ऋ लृ के उच्चारण में लगन वाले काल तक जीव योगरहित, अयोगी होता है। इस काल में अब कर्मबन्ध बिल्कुल नहीं होता और बचे हुए बाकी कर्मों का केवल क्षय क्रिया जाता है। यह योग रहित अवस्था बनाने के लिए जीव मन वचन काया के योगों का पूर्णरूप से निरोध (रोक) करता है। इन कायादि तीनों का अब कोई सम्बन्ध या सहारा नहीं। तब आत्मद्रव्य शैलेश याने मेरु जैसा निश्चल बनता है। इस अवस्था को शैलेशी कहते हैं। यह १४वें गुणस्थानक पर होती है। इसके लिए १३वें गुणस्थानक के अन्त में संपूर्ण योग निरोध करना पड़ता है। इस योग निरोध की क्रिया में काया को अब सुनिश्चल कर दिया।

अन्तो मुहुत्तं परत्रो चिंता भाणतरं व होज्जाहि ।

मुचिरं पि होज्ज बहुवत्थुसंकमे भाणसंताणां ॥४॥

अर्थ : (छद्मस्थ को ध्यान के) अन्तमुहूर्त बाद चिंता, भावना या अन्तर होकर पुनः तुरंत ध्यान लगता है। इस तरह बहुत सी वस्तुओं पर क्रमशः चित्त का स्थिरतापूर्वक अवस्थान दीर्घकाल तक चलता रहता है। उसे संतति या ध्यानधारा कहते हैं।

इसलिए यह योगनिरोध क्रिया भी ध्यान रूप है और वह मात्र अन्तमुहूर्त तक ही चलती है। इसलिए सर्वज्ञ के लिए योगनिरोध ही ध्यान कहा। यह उन्हें (सर्वज्ञ भगवन्त) ही होता है, क्योंकि दूसरे के लिए यह करना असम्भव है। सर्वज्ञ को किस तरह व कितने काल तक होता है वह आगे कहा जायगा।

अब छद्मस्थ को अन्तमुहूर्त काल तक ध्यान के बाद क्या होता है सो कहते हैं:--

विवेचन :

ध्यानांतर--अन्तमुहूर्त में एक ध्यान का अन्त होता ही है। उसके बाद पूर्वोक्त 'चित्त' अवस्था याने चिंता, भावना या अनुप्रेक्षा आती है। यहां गाथायें जो 'ध्यानांतर' कहा है, उसका अर्थ दूसरा ध्यान नहीं, पर 'ध्यान का अन्तर' याने बीच में पड़ने वाला अन्तर या निकलने वाला समय (Interim period) यह अन्तर (gap) चिंता, भावना या अनुप्रेक्षा से पड़ता है। पर उसे अन्तर तो तभी कहेंगे जब कि पुनः तुरंत दूसरा ध्यान शुरू हो जाय। 'ध्यान का अन्तर' का अर्थ ही यह है कि दो ध्यान के बीच का समय, उस समय में होने वाली क्रिया।

ध्यान धारा:- अब यह दूसरा ध्यान अन्तमुहूर्त में पूरा

अङ्गुलं हृदं धम्मं सुक्कं भाणाइ तत्थ अंताइ ।

निव्वणं साहणाइ, भवकारणमट्ठरुदाइ ॥५॥

अर्थ:—आर्ती, रौद्र, धर्म तथा शुक्ल नाम से चार ध्यान हैं । इसमें अन्तिम दो (धर्म तथा शुक्ल) ध्यान (निर्वाण) सुख के साधन हैं और आर्ती रौद्र ध्यान संसार के कारण हैं ।

ध्यान प्रारम्भ हो सकता है । इस तरह ही चले ऐसा कोई नियम नहीं है । नया ध्यान प्रारम्भ होने के बजाय चिन्तादि में ही कितना ही काल निकल जाय । परन्तु हा तुरन्त नया ध्यान, फिर अन्तर, पुनः नया ध्यान इस तरह दीर्घकाल तक चल सकता है । इसे ध्यान धारा या ध्यान प्रवाह कहते हैं । यह भगवान या दूसरे ऐसे महात्माओं को अच्छा होता है, दीर्घ होता है । इस नये नये ध्यान में चित्त एक पदार्थ से दूसरे पर और दूसरे से तीसरे पर एकाग्र अवस्थान करता जाता है ।

प्रश्न— ध्यान की वस्तु कौन सी ?

उत्तर— ध्यान की वस्तु (Subject) के तौर पर आत्मा में या पर में रहे हुए द्रव्यादि आ सकते हैं । आत्मा में रहे हुए पदार्थ मनो-द्रव्य आदि पर भी ध्यान हो सकता है । अथवा पर में रहे हुए किसी भी द्रव्य गुण या पर्याय पर ध्यान हो सकता है । उदा० आत्मा का ग्रहण किया हुआ मनोद्रव्य कैसा है ? भावाद्वय कैसा है ? या आत्मा का अगुरु लघु गुण कैसा है ? इस पर ध्यान किया जाय अथवा बाहर के किसी पर द्रव्य, वर्गीणा पुद्गल या उत्पत्ति व्यय आदि पर मन केन्द्रित हो सकता है ।

यहां तक प्रसंग प्राप्त वस्तु के साथ ध्यान का सामान्य लक्षण कहा । अब विशेष लक्षण कहने की इच्छा से ध्यान के प्रकारों के

कहा है :

अद्वेष्टेण तिरिक्खगई. रुद्धज्झाणेण गम्पती नरयं ।

धम्मणेण देवलोयं सिद्धिगई सुक्कभाणंणं ॥

अर्थ : आर्त से तिर्यंच गति, रौद्र से नरक गति, धर्म से स्वर्ग गति तथा शुक्ल ध्यान से सिद्धि गति मिलती है ।

सामान्य नाम तथा उनकी विशिष्ट कार्यजनकता संक्षेप से कही जाती है ।

विवेचन :

ध्यान चार प्रकार का है:-(१) आर्त ध्यान (२) रौद्र ध्यान (३) धर्म ध्यान तथा (४) शुक्ल ध्यान ।

(१) इसमें 'आर्त' शब्द 'ऋत' धातु पर से बना है । ऋत में उत्पन्न होने वाला वह आर्त । ऋत याने दुःख । इस निमित्त से होने वाला अध्यवसाय या एकाग्रचित्त वह आर्त ध्यान है । (२) हिंसा झूठ आदि की रुद्रता याने क्रूरता से भरा चित्त रौद्रध्यान है । (३) श्रुतधर्म या चारित्र्य धर्म के अनुसार एकाग्रचित्तन धर्म ध्यान है । (४) आठ प्रकार के कर्म मल का शोधन करे अथवा शोक को दुःख, ह्रास या नाश करे वह शुक्ल ध्यान । ये चार प्रकार के ध्यान हैं ।

ध्यान की कार्यजनकता

अब प्रत्येक ध्यान के कारण क्या क्या फल मिलता है उसका विचार करें । उपर्युक्त व्याख्याओं से यह स्पष्ट है कि आर्त और रौद्र ध्यान ये दो अशुभ ध्यान हैं । तो धर्म व शुक्ल ध्यान दो शुभ ध्यान हैं । शुभ ध्यान निर्वाण याने सुख का कारण और अशुभ ध्यान भव अर्थात् दुःख का कारण है । 'निर्वाण' का सामान्य अर्थ शांति या सुख होता है । धर्म ध्यान से देवगति तथा शुक्ल ध्यान से सिद्धिगति

मिलती है। वहां सुख मिला ऐसा कहा जायगा।

प्रश्न—तब भी 'निर्वाण' का विशेष अर्थ मोक्ष होता है, तो धर्मध्यान को मोक्ष साधन कहा है किस तरह ?

उत्तर—धर्म ध्यान आगे जाकर शुक्ल ध्यान प्राप्त करवा कर मोक्ष प्राप्ति कराने वाला बनता है अतः उसे मोक्ष साधन कहने में हर्ज नहीं। उदा. सम्यग्दर्शन आगे जाकर सम्यक्चारित्र्य की प्राप्ति और साधना करवाने से मोक्षदाता बनता है, इसलिए उसे भी मोक्ष साधक ही कहते हैं।

आर्त और रौद्र ध्यान को भव के कारण कहे हैं। 'भव' याने जिसमें जीव कर्म के बश में पड़े हुए होते हैं वह; अर्थात् संसार। उसके कारण स्वरूप आर्त तथा रौद्र। गाथा में तो सामान्य शब्द 'भव' रखा है, पर उसका विशेष बोध व्याख्या से होता है। उसके अनुसार यहां 'भव' शब्द का अर्थ चारों गति न लेकर तिर्यंच और नरक गति लेने का है। ऐसी व्याख्या का कारण है (१) जैसे—अन्यत्र उपयुक्त श्लोक में कहा है वैसे दोनों दुर्ध्यान के फल ये ही हैं तथा (२) यही ग्रन्थकार आगे जाकर प्रत्येक ध्यान का विशेष फल बताते हुए आर्त का तिर्यंच गति तथा रौद्र का नरक गति फल बताते हैं। वैसे ही (३) मनुष्य तथा देवगति जैसे सद्गति ऐसे अशुभ ध्यान का फल नहीं हो सकती। अतः यहां 'भव' शब्द से तिर्यंच नरक गति लेना चाहिए।

यहां तक ध्यान की सामान्यतः बात कही। अब 'यथोद्देशनिर्देशः' याने जैसे सामान्य से सामूहिक प्रतिपादन किया उसी तरह के क्रम से विशेष रूप का वर्णन होता है, इस न्यास से चार प्रकार के ध्यान में से पहले आर्त ध्यान के वर्णन का मौका है। अतः अब यहां उसका वर्णन करते हैं।

इस प्रकरण में आर्त और रौद्र ध्यान का विचार ५-५ द्वार से तथा धर्म व शुक्ल ध्यान का विचार १२-१३ द्वार से किया है। द्वार अर्थात् खास पदार्थ। किसी भी विषय पर विचार करना हो तो उसके खास पदार्थ - प्रधान अंग-निश्चित कर लेने से फिर प्रत्येक पदार्थ लेकर उस विषय पर विस्तृत विचार किया जा सकता है। व्यवस्थित व्याख्याता इस प्रकार अपने दिमाग में मुख्य पदार्थ को सोचकर फिर क्रमशः एकेक पदार्थ को लेकर उस विषय का प्रतिपादन करते हैं। श्री जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण भगवन्त समर्थ व्याख्याता हैं। अतः यहां भी उनके दूसरे शास्त्रों की तरह मन में प्रत्येक ध्यान के खास पदार्थ निश्चित करके फिर उसमें से एकेक पदार्थ लेकर उसका वर्णन करते हैं। यहां आर्त तथा रौद्र ध्यान के विचार के लिए ५-५ पदार्थ इस प्रकार हैं :- १. स्वरूप २. स्वामी ३. फल ४. लेश्या तथा ५. लिंग। अर्थात् १ आर्त ध्यान (तथा उसके प्रकारों का प्रत्येक) का स्वरूप क्या है ? (२) आर्त ध्यान कैसे जीवों को होता है ? (३) आर्त ध्यान का फल क्या ? (४) इस ध्यान वाले की मानसिक लेश्या कैसी होती है ? तथा (५) अंतर में (मन के भीतर) आर्त ध्यान चल रहा है तो उसके ज्ञापक चिन्ह क्या होते हैं ?

अब इन प्रत्येक पदार्थ को क्रमशः एकेक लेकर उस पर विचार किया जाता है।

१. स्वरूप

टीकाकार आचार्य श्री हरिभद्रसूरिजी महाराज लिखते हैं कि आर्त ध्यान अपने चार प्रकार के विषयों में बांटा जा सकता है अतः ४ प्रकार का होता है। भगवान् वाचक मुख्य उमास्वातिजी महाराज ने आर्त ध्यान के ४ प्रकार बताते हुए श्री तत्त्वार्थ महाशास्त्र में कहा है :-

अमणुष्णाणं सदाइविसयवत्थूणं दोसमइलस्स ।

भणियं वियोगचित्तणमसंपओगाणुपरणं च ॥६॥

अर्थ : द्वेष से मलिन जीव को अनिच्छित शब्दादि विषय तथा ऐसी वस्तु के वियोग का गाढ चित्तन या असंयोग का गाढ ध्यान रहे । (यह आर्त ध्यान का पहला प्रकार है ।)

(१) अमनोज्ञानां संप्रयोगे तद्विप्रयोगाय स्मृतिसमन्वाहारो, (२) वेदनायाश्च, (३) विपरीतं मनोज्ञानां, (४) निदानं चा (अध्याय ९ सू० ३१ से ३४) इत्यादि ।

अर्थात् आर्त ध्यान के चार प्रकार इस तरह हैं:—

१. अनिष्ट संयोग — मन को अनिच्छित विषयों के संयोग में उनका वियोग कैसे हो उसका निश्चल चित्तन ।

२. रोगादि वेदना में उनके वारक उपायों का निश्चल चित्तन ।

३. इष्ट योग—प्रथम से विपरीत अर्थात् मन का इच्छित संयोग या मनपसन्द विषयों की प्राप्ति के बारे में निश्चलपन ।

४. नियाणा—अर्थात् पौद्गलिक सुखों की दृढ़ आशंसा या प्रणिधान ।

ध्यान के इन चार प्रकारों में से कोई भी ध्यान चलता हो तो यह आर्त ध्यान है । अब यहां पहले भेद का स्वरूप बताते हुए कहते हैं :—

विवेचन :

जीव को इन्द्रियों के अमनोज्ञ शब्दरूप, रस, गंध, स्पर्श या वैसे शब्दादि वाला पदार्थ, जैसे कि भौकता हुआ गन्धा या कुत्ता आदि संपर्क में आवे तो वह पसंद नहीं आता । उस पर द्वेष तथा अरुचि

होती है। फिर चित्त 'वह कैसे हटे ?' ऐसे उसके वियोग के विचारों में चढ़ जाता है। इसमें क्षण भर भी यदि चित्त स्थिर बना या अत्यन्त तन्मय हुआ तो वह अनिष्ट वियोग स्वरूप का आर्त ध्यान हुआ। आर्त ध्यान तीनों काल के बारे में हो सकता है।

तीनों काल के बारे में आर्त ध्यान

(१) यह वर्तमान काल के 'अनिष्ट वियोग' की बान हुई। (२) भविष्य के बारे में आर्त ध्यान इस तरह होता है कि 'भविष्य में अनिष्ट किस तरह न आवे', 'न आवे तो अच्छा', ऐसे अनिष्ट वियोग पर मन लग जाता है। (३) इसी तरह अतीत विषय के बारे में आर्त ध्यान इस तरह होगा कि पूर्व में अनिष्ट संयोग या विषयों के य. पदार्थ के बारे में या पूर्व में जिनका वियोग हो चुका है ऐसे अनिष्ट वियोग के बारे में मन में याद आ जाय। जैसे 'अरे ! वह कैसे दुःखद प्रसंग था या ! दुःखद पदार्थ था ! सो गया अच्छा हुआ।' अथवा 'वह प्रसंग न आया, बच गये, अच्छा हुआ।' यह अतीत याने पूर्व में व्यतीत हो चुकी वस्तु के बारे में हुआ जिसका अभी कोई सम्बन्ध नहीं है, तब भी उस पर मन जाने से वह बिगड़ जाता है। वैसे ही भविष्य में भी इच्छित बात हो या न हो, वह किसे मालुम है। पर अभी से उस का एकाग्र चिंतन यह आर्त ध्यान है। इसी तरह इसके बाद के तीन प्रकार के आर्त ध्यान में भी वर्तमान विषय की तरह ही अतीत तथा भविष्य के वैसे ही विषयों के बारे में भी आर्त ध्यान हो सकता है।

विषय-आर्त ध्यान का मूल कारण

इस आर्त ध्यान के होने का मूल कारण इन्द्रियों के विषय हैं। 'विषय' शब्द का अर्थ ही यह है कि जीव किसी पदार्थ में आसक्त होकर विषाद प्राप्त करे। इष्ट विषय या इष्ट संयोग में एक बार जाहे

हर्ष हो जाय पर समय जाने पर यही विषय दुःखद बनता है। मानो अचानक ही कोई ५०००) रु० कमाता है तो उसे हर्ष होगा, परन्तु इतने में यदि जाना कि पास वाला तो १०,०००) रु० कमा गया तो तुरन्त ईर्ष्या या विषाद दिल में उठता है। स्वयं कमा लेने पर यह दशा है। अथवा पैसा कमाने के बाद उसे 'कहां रखूं? कहां खर्च करूं? उस कमाई से नई कमाई क्या हो सकती है?' आदि चिंता खड़ी हो जाती है। यह भी एक प्रकार की चिंता, बेचैनी, मनस्ताप (दुःख) के रूप में विषाद ही है। अतः विषय विषाद कराने वाले ही हैं। अनिष्ट विषयों के बारे में तो तीनों काल-सम्बन्धी बोझ या चिंता रहती है।

ये विषय दिन भर में कितने ?

भूख, तृष्णा, सरदी गरमी, अरुचिकर खान पान, कपड़े, घर, रास्ता, गली, नौकरी धन्धा या अनिष्ट सेठ-नौकर-ग्राहक-दलाल-पड़ोसी कुटुम्ब स्नेही आदि, नापसंद रूप, रस, स्पर्श आदि कितने ही आते हैं, आयेंगे तथा आ चुके अथवा अभी नहीं हैं, पहले नहीं आये या भविष्य में भी इष्ट नहीं हैं; पर उनके बारे में मनमें विचार उठने पर मन विगड़ता है, दृढ चिंतन होता है कि 'वह कब मिटे? कैसे जावे? पुनः न आवे तो अच्छा....' आदि। 'पहले खूब दुःखद विषय प्राप्त हुए, मिटे तो अच्छा हुआ अथवा नहीं आवे तो अच्छा।' दिन भर में वैसा कितना चलता रहता है? वह भी इतने से ही पूरा नहीं होता। कदाचित् यह बात मन में नहीं आई तो वेदना या इष्ट संयोग के बारे में जो आगे कहेंगे, चिंतन आ जाता है। तो प्रति दिन में आर्त ध्यान कितना? वह सब किस गति के कर्म बंध कराता है? देव मनुष्य गति के या निर्गुण गति के? ध्यान, अध्यवसाय, वृत्ति आदि के अनुसार कर्म बंध प्रति समय होता रहता है। शुभ में शुभ, अशुभ में अशुभ। आर्त ध्यान अशुभ होने से दिन भर में कितनी बार कितने अशुभ कर्मों का बंध होता है? यह सोचने योग्य है।

तह सुलसीसरोगाइ वेयणाए विजोमपणिहाणं ।

तदसंपन्नोगचिंता तत्पण्डिताराउलमणस्स ॥७॥

अर्थ:—तथा शूल, सिर दर्द आदि पीड़ा में उसके निवारण के उपाय में व्याकुल मन वाले को यह वेदना कैसे जावे या भविष्य में न आवे उसकी दृढ़ चिंता (होना यह आर्त ध्यान है ।)

प्रश्न— जगत में रहते हुए अनिष्ट संपर्क तो रहेंगे ही । तो आर्त ध्यान से कैसे बचा जाय ?

उत्तर— पहले तो यह पहचानने के लिए ही यह 'ध्यानशतक' प्रकरण है । फिर उससे बचने के लिए इसमें आगे धर्म ध्यान का विस्तृत विचार किया गया है । यह देखने से पता चलेगा कि यदि हम बचना चाहें तो आर्त रौद्र मिटाने के लिए संपूर्ण साधन सामग्री प्राप्त है । मात्र जीवन में उसका उपयोग प्रधान हो जाना चाहिये । उपरान्त, आर्त ध्यान का पहला प्रकार तो द्वेष मलिनता में से उठता है अर्थात् अनिष्ट के प्रति अरुचि, अभाव, अप्रीति रहने से होने से आर्त ध्यान खड़ा होता है । इसी तरह आगे कहेंगे उसमें राग भी जिम्मेदार है । अतः असल में तो ये राग द्वेष ही गलत हैं । अतः उनका निग्रह करने से—रोकने से आर्त ध्यान से बचा जा सकता है । यह पहले प्रकार की बात हुई ।

२. आर्त ध्यान : वेदनानुबन्धी

अब आर्त ध्यान का दूसरा प्रकार कहते हैं:—

विवेचन :

पेट, छाती, दांत, आंख, कान आदि में शूल (पीड़ा), तीव्र होने पर पुनः चिंतादि आते हैं । पुनः अन्तर के बाद तीसरी बार भी

वेदना या उसके सिवाय भी मस्तक, पेट, आंत आदि के अनेक प्रकार के रोग, व्याधि, कष्ट में से उठती हुई वेदना या कटु अनुभव होने से उत्पन्न दुःखद संवेदन, वह 'कैसे मिटे, कैसे हटे', उसका क्षण भर भी तन्मय चिंतन हो, तो वह वर्तमान कालीन आर्त्ता ध्यान हुआ। साथ ही किसी भी तरह से वह हटी या मिटी तो भी भविष्य के बारे में 'वह कमी भी मुझे कैसे न हो?' ऐसी दृढ़ चिंता हो यह भी आर्त्ता ध्यान का दूसरा प्रकार ही है। इसी तरह भूतकाल के बारे में भी होता है। यदि पूर्व में अनुभव की हुई वेदना स्मरण में आने पर, 'अरे, वह तो बहुत ही दुःखदायी ! कितनी अधिक पीड़ा ! मिटी सो अच्छा हुआ', ऐसा चिंतन हो, अथवा 'दूसरे को पीड़ा हुई, मुझे न हुई यह अच्छा हुआ', ऐसा दृढ़ चिंतन चलता रहे तो वह भी वेदना का आर्त्ता ध्यान हुआ।

प्रश्न— कैसे जीवों को यह वेदना का आर्त्ता ध्यान होता है ?

उत्तर— जिसे भी वेदना के निवारण करने के लिए उसके प्रतीकार में या निवारक उपाय में चित्त व्याकुल हो। उदा० 'कौन-सा वैद्य या डाक्टर दूँ? क्या दवा लूँ? कैसा पथ्य पालन करूँ? कितना आराम करूँ? दवा का समय हुआ? पथ्य लेने का हुआ?' इत्यादि विचारों की उथल-पुथल चलती हो, उसे वेदना वियोग का प्रणिधान कहेंगे। यह आर्त्ता ध्यान है। इसी तरह भविष्य के बारे में कौन सी सावधानी रखूँ, कौन सी भस्म, टोनिक या दवा लूँ, पाक खाऊँ? इत्यादि विचार चलते ही रहें, विचारों की उथल-पुथल चले तो वह वेदना असंयोग प्रणिधान रूप आर्त्ता ध्यान है।

प्रश्न— वेदना भी एक अनिष्ट ही है, तो इसके वियोग या असंयोग का ध्यान प्रथम प्रकार में ही आ जाता है। तो इसका दूसरा प्रकार कहने में क्या विशेषता है ?

इष्टाण विमयाईण वेयणाए य रागरक्तस्स ।

अभियोगऽज्झवमाणं तह संजोगाभिलासो य ॥८॥

अर्थ:—इष्ट वियोगों आदि में या इष्ट वेदना में रागरक्त जीव को उसके अवियोग पर मन की इच्छा तथा (अप्राप्त के लिए) संयोग की इच्छा रूप दृढ अध्यवसाय (प्रणिधान) हो, यह तीसरा प्रकार है।

उत्तर — पहले में कितनी ही बार अनिष्ट निवारक उपायों का पता नहीं चलता, या वे दिखते नहीं। उदा० पड़ोसी खराब मिला है, पुत्र स्वच्छंदी तथा उद्धत मिला है, अपना शरीर या अंग कुबड़ा मिला है। इत्यादि में कोई उपाय नहीं दिखता, तब भी उनकी अरुचि से आर्त ध्यान चलता रहता है। 'यह कहां मिला? कितना दुःखदायक' इत्यादि। तब दूसरे प्रकार में वैद्य, दया, पथ्यादि उपाय या प्रतीकार प्राप्त हैं। विकित्सा आदि के बारे में जो व्याकुलता होती है, उसके कारण आर्त ध्यान होता रहता है। यह विशेषता है। यह आर्त ध्यान के दूसरे प्रकार के बारे में बात हुई।

३, आर्त ध्यान, इष्टसंयोग, अवियोगानुबंधी

अब आर्त ध्यान का तीसरा प्रकार कहते हैं:—

विवेचन :

इष्ट, मनपसंद शब्द, रूप, रस आदि विषय या वैसे विषय वाले पदार्थ अथवा मन से चाह कर इष्ट लगती हुई पीड़ा, 'किस तरह न जाय' या न हो तो 'कैसे मिले', उसका दृढ चिंतन—यही तीसरे प्रकार का आर्त ध्यान है। सगे स्नेही जनों के अच्छे मानयुक्त शब्द सुनने को मिलने पर, 'नौकर या सेठ या ग्राहक, आड़तिया आदि मनपसंद मिले हैं, व्यापार ठीक चलता है, कुटुम्बी अच्छा बर्ताव करते हैं', इत्यादि इष्ट प्राप्त किस तरह चलता रहे और उसमें फर्क नहीं

देविदचक्रवट्टिचण।इं गुणरिद्धिपत्थण मईयं ।

अहमं नियाणचित्तण, मएणाणाणुगयमच्चंतं ॥९॥

अर्थ—देवेन्द्र, चक्रवर्ती आदि के सौन्दर्यादि गुणों की तथा ममृद्धि की याचना स्वरूप नियाणा करने का चिंतन होता है, वह अधम है, अत्यन्त अज्ञानता भरा है। (यह चौथे प्रकार का आर्त ध्यान है।)

पड़े, उसका दृढ़ चिंतन रहा करे; इसी तरह कोई वेदना या पीड़ा भी उत्पन्न होने पर पसंद आ गई, उदा० देवराना को घर में बहुत काम खींचना पड़ता है, उसमें उसे बुखार या अन्य बीमारी आ गई। उसे तीव्र चिंतन हो कि 'यह बीमारी न जाय तो अच्छा, जिससे काम से बचूं।' तो यह सब आर्त ध्यान है। यह वर्तमान की बात हुई।

इसी तरह भविष्य के बारे में, 'भविष्य में ऐसे इष्ट विषय, पदार्थ या वेदना कैसे प्राप्त हो', उसका क्षण भर भी तन्मय चिंतन आर्त ध्यान है।

तो भूतकाल के बारे में भी पहले प्राप्त, रहे हुए या मिले हुए विषय, वस्तु या वेदना के बारे में एकाग्र विचार हो कि 'वे अच्छे मिले थे, रहे तो अच्छा था, बहुत अनुकूल आ गये', तो वह अतीत सम्बन्धी आर्त ध्यान हुआ।

प्रश्न—कैसे जीव को ऐसा आर्त ध्यान होता है ?

उत्तर—जो रागरक्त हो, राग-स्नेह आसक्ति से भावित हो, उसे इससे ऐसा आर्त ध्यान होता है। असल में राग आकर्षण होने में मन राग के विषय में ऐसा लग जाता है कि 'यह विषय प्राप्त हुआ हो तो कैसे नहीं जाय, खर्च न हो', इत्यादि चिंता में तन्मय बने; और न मिला हो तो 'कैसे मिले, कैसे बढ़े' आदि चिंतन में मशगूल होता है। जीव को राग कहां नहीं है ? कितनी ढेरों वस्तुएं

इष्ट हैं ? तो मन तो काम करता ही रहता है । इसमें फिर यह आर्त्ता ध्यान डग डग पर, कदम कदम पर कितना ही चलता है । यह तीसरे प्रकार की बात हुई ।

४. निदानुबंधो आर्त्ता ध्यान

अब आर्त्ता ध्यान का चौथा प्रकार कहते हैं: -

विवेचन :

निदान याने नियाणा चौथे प्रकार का आर्त्ता ध्यान है । वह भी मानसिक गाढ चिंतन है । इसमें 'मेरे त्याग तप आदि के प्रभाव से मुझे देवलोक मिले, इन्द्रपत्त मिले या चक्रवर्तित्व मिले, वासुदेव, बलदेव बन्, देवेन्द्र, नरेन्द्र का बल, सौन्दर्य या समृद्धि प्राप्त हो', ऐसी उत्कट अभिलाषा से उसकी निश्चित मांग की जाती है । 'बस, मुझे यही चाहिये, यही मुझे मिले', ऐसा निश्चय होता है । यह नियाणा का चिंतन अधम है । यही आर्त्ता ध्यान है ।

सांसारिक सुख सुखाभास है:—

प्रश्न—कैसे जीव को यह आर्त्ता ध्यान होता है ?

उत्तर—अत्यन्त अज्ञान पीड़ित जीव को यह आर्त्ता ध्यान होता है, क्योंकि अज्ञानी के सिवाय दूसरों को सांसारिक सुखों की अभिलाषा नहीं होती । अज्ञानता यही है कि ये सुख सुखाभास है, दुःख-रूप है, दुःख का प्रतिकार मात्र हैं, परसंयोगसापेक्ष हैं । परन्तु पर का संयोग तो विनश्वर है, तरतमता वाला है, इससे उसके सुख में शांति नहीं है, कायमी स्वस्थता नहीं है; बल्कि काल, संयोग, परिस्थिति में परिवर्तन होने से वह महा दुःखद बनता है । मोह के कारण यह समझ में नहीं आता इसलिए उसकी झंखना, आशंसा, आकर्षण रहता है । अन्यथा असल में तो सांसारिक सुख के विषयों में ऐसा तत्त्व ही क्या है कि जिससे उसके सुख की कामना हो !

एवंचउच्चिहं रागदोस मोहं वियस्स जीवस्स ।
अट्टज्झाणं संमारवद्धणं तिरियगइमूलं ॥१०॥

अर्थ—यह चारों प्रकार का आर्तध्यान रागद्वेष तथा मोह से कलुषित जीव को होता है। वह संसार वर्धक है और तिर्य्यचगति का कारण है।

कहा है:—

अज्ञानान्धाश्चटुलवनितापाङ्गविक्षेपितास्ते ।
कामे सक्तिं दधति विभवाभोगतुंगार्जने वा ।
विद्वच्चित्तं भवति च महत् मोक्षकाञ्चैकतानं ।
नाल्पस्कन्धे विटपिनि कष्ट्यंसमिप्ति गजेन्द्रः ।

अर्थ:—स्त्रियों के चपल कटाक्ष से आकर्षित होकर जो जीव काम में आसक्त होते हैं वे अज्ञान से अंध हैं अथवा अति वैभव का विस्तार कमाने में आसक्त भी अज्ञानांध हैं। तब ज्ञानी का विशाल चित्त (ऐसे तुच्छ अर्थ काम में चिपकता नहीं है) मात्र एक मोक्ष की ही इच्छा में रक्त रहता है। देखिये, श्रेष्ठ हाथी खुजलाने के लिए भी छोटे वृक्ष के साथ अपने कन्धे को नहीं घिसता। तो फिर ज्ञानी तुच्छ विषयों में अपना मन क्यों डाले ? उन्हें तो निरपेक्ष निराबाध स्वाधीन अनन्त सुखमय मोक्ष की ही लगन होती है।

यह आर्त ध्यान के चौथे प्रकार की बात हुई।

ध्यान का स्वामी और फल

अब इस ध्यान के स्वामी कौन हैं तथा फल क्या है यह कहते हैं:—

विवेचन :

पहले हम देख चुके हैं कि आर्तध्यान के चारों प्रकारों में से कोई द्वेष के कारण तो कोई राग या मोह के कारण उत्पन्न होते हैं। अतः आर्तध्यान का स्वामी कौन है? रागद्वेष मोह से जो कलुषित जीव होता है वह। रागादि का जोर है तो आर्तध्यान आ जायगा।

आर्तध्यान का फल है संसार वृद्धि।

संसार कर्मबन्धन के कारण खड़ा होता है। आर्तध्यान से कोई कर्म क्षय नहीं होता, पर कर्मबंध बढ़ता है। अतः स्वभाविक ही है कि उससे संसार वृद्धि होती है। भव का चक्कर बढ़ता है, यह सामान्य फल हुआ। उसका विशेष फल है तिर्यंचगति। आर्तध्यान एकेन्द्रिय, बेइन्द्रिय, तेइन्द्रिय चौरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय तिर्यंचगति के योग्य कर्म बंध करवाता है।

प्रश्न—इस कथन पर से क्या यह फलित होता है कि जीवन-भर में परभव का आयुष्य तो मात्र एक बार हो और अमुक निश्चित समय तक ही बांधा जाता है; तो आयुष्य-बंध के समय यदि जीव आर्तध्यान में हो तो तिर्यंचगति का आयुष्य बांधे पर उसके अलावा के समय में यह दंड नहीं?

उत्तर—नहीं। दंड तो है ही। यदि जीव आयुष्य बांधते समय आर्तध्यान में हो, तब तो वह तिर्यंच का आयुष्य बांधेगा, उसके साथ उसके योग्य अन्य कर्म भी साथ साथ बांधेगा, परन्तु उसके सिवाय के समय में भी तिर्यंचगति के योग्य आयुष्य के सिवाय के अन्य अशुभ कर्म अवश्य बांधेगा। इसीलिए वेदना होने पर भी आर्तध्यान से बचने जैसा है। अन्यथा यहां भी पीड़ा है और आर्तध्यान से बन्धे हुए अशुभ कर्मों के कारण बाद में भी पीड़ा होगी।

मज्झत्थस्स उ मुण्णिणो सकम्मपरिणाम जणियमेयंति ।

वत्थुस्मभावचित्तणपरस्स संमं सहंतस्स ॥११॥

कुणओ व पपत्थालंबणस्स णडियारमऽप्पसावज्जं ।

तवसंजमणडियारं च सेवओ धम्ममणियाणं ॥१२॥

अर्थः—किन्तु (१) 'यह पीड़ा मेरे कर्म विपाक से खड़ी हुई है' ऐसे वस्तु स्वभाव के चित्तन में तत्पर तथा सम्यक् सहन करते हुए मध्यस्थ (राग द्वेष रहित) मुनि को, (२) अथवा (रत्नत्रयी की साधना का) प्रशस्त आलंबन रखकर निरवद्य या अल्प सावद्य (सपाप) उपाय करने वाले मुनि को तथा (३) निराशंस भाव से तप और संयम को ही प्रतीकार के रूप में सेवन करते हुए मुनि को धर्म ध्यान ही है, आर्त्त ध्यान नहीं ।

मुनि को वेदना में आर्त्तध्यान क्यों नहीं ?—

प्रश्न—यों तो साधु को भी शूल, रोग आदि वेदना आती है और उसे सभी सहन नहीं कर लेते, पर उसके निवारण के लिए दवा चिकित्सा आदि करवाते हैं; तो क्या उन्हें भी वेदना-वियोग का आर्त्तध्यान लगता है ? तथा दूसरे जब वे तप और संयम का पालन करते हैं उसमें सांसारिक दुःख के वियोग का जब ध्यान रहता है, जैसे 'इस तप संयम से अब संसार के दुःख नहीं आवेंगे' ऐसा होता है; तो इससे क्या उन्हें आर्त्तध्यान हुआ ?

उत्तर—साधु होने पर भी रागादि के वश हों, तो उन्हें जरूर आर्त्तध्यान होता है, पर ऐसे नहीं, उन्हें नहीं । इसीलिए ग्रन्थकार महर्षि कहते हैं 'मज्झत्थस्स....':—

विवेचन :

(१) सम्यक् सहन करने वाले, (२) सहन न करके भी पुष्ट

आलंवन से प्रतीकार करते हुए तथा (३) तप संयम का आचरण करते हुए मुनि को धर्म ध्यान ही होता है। यह बताया जाता है।

मुनि कौन ?—(१) 'मन्यते जगत्त्रिकालावस्थामिति मुनिः'। मुनि अर्थात् जगत की तीनों काल की अवस्था का विचार करने वाला अर्थात् साधु। 'जगत' याने जीवन में अनुभव में आने वाले जगत के जड़ चेतन पदार्थ तथा प्रसंग। उनमें राग द्वेष या हर्ष शोक न हो, उसके लिए उसकी भूत, वर्तमान तथा भविष्य की स्थिति का मनन करे वही मुनि।

भूतकाल की अवस्था का मनन इस तरह करते हैं कि वर्तमान में यह पदार्थ या प्रसंग जिस स्वरूप में दिखता है वह आकस्मिक है या मेरी इच्छा से खड़ा नहीं हुआ। किन्तु उसके पीछे निश्चित कारण काम कर रहे हैं। उदा० किसी अनिष्ट वस्तु का आना। वह उसके कारण से बनी है। सम्भव है कि वह अच्छे पुद्गलों में से बनी हो जैसे पेड़ों में से विष्टा। वैसे ही यह मेरे कर्म, काल, भवितव्यतादि के कारण यहां उपस्थित हुई है। तो मैं क्यों दुर्ध्यान करूं? कोई जीव मेरा कुछ खराब करता दिखता हो, तो वह अपने पूर्वोपाजित मोहनीय कर्म के उदय से तथा अपने ही स्वाधीन असत् पुरुषार्थ से वैसा करता है। उसमें मेरे कर्म भी जिम्मेदार हैं। तो मैं नाहक दुर्ध्यान क्यों करूं? यदि बीमारी आती है, आई तो वह मेरे पूर्वोपाजित अशांता वेदनीय कर्म के कारण आती है, आई है। इसमें मैं क्यों दुर्ध्यान करूं? यह भूतकाल की अवस्था का विचार हुआ।

अब वर्तमान का विचार—उदा० (१). यह इष्ट या अनिष्ट वस्तु या व्यक्ति मेरे शुद्ध अनन्त ज्ञानादि असंख्य प्रदेशमय मौलिक आत्मस्वरूप में लेश भी कमीबेशी नहीं कर सकता; तो मुझे क्या चिंता? या हर्ष क्यों? उलटे राग या द्वेष, खेद या हर्ष

करने में एक ओर मेरा बाह्य आत्मस्वरूप अधिक विकृत होता है और दूसरी ओर मेरी साधना और मेरे धर्म स्थान को हानि होती है। तो ये द्वेषादि क्यों किये जाय ? तथा (३) वर्तमान समय में सम या विषम पदार्थ या प्रसंग प्राप्त हो तो उसमें कुछ नया नहीं है। संसार ऐसा ही है कि उसमें बिना सोचा या इच्छा बिना भी विचित्र घटना होती रहती है।' इत्यादि।

भविष्य अवस्था का मनन : (१) वर्तमान अनिष्ट पर कषाय करने से भावी के लिए अशुभ कर्म बंध, संक्रमणादि तथा कुसंस्कार खड़े होते हैं। (२) फिर वस्तु या व्यक्ति मेरे कषाय करने पर भौ न सुधरे, तथा वह अपने रास्ते ही काम करता रहे तो कषाय करना बेकार रहेगा। (३) सामने वाले व्यक्ति को मेरे कषाय करने से कषाय की उदीरणा होगी, जिससे विचारे के अशुभ कर्म बंधेंगे। (४) मुझे भी भविष्य में ये कर्म कुसंस्कार उदय में आने से उस समय आत्मा की परिस्थिति विषम बनेगी तथा नये पाप उत्पन्न करेगी। इत्यादि।

१. सम्यक् सहन करने वाले को आर्त ध्यान नहीं

इस तरह अनेक रूप से तत्त्व को पकड़ कर जगत की त्रिकाल अवस्था का मनन करे वह मुनि कहलाता है। वेदना या बीमारी आने पर वह सोचे; 'इसका न आना मेरी इच्छा या मेरे हाथ की बात नहीं है; परन्तु मेरे अपने पूर्वोपार्जित कर्म के उदय का परिणाम ही यह वेदना है। कारण हो तो कार्य होता है। कर्म थे तो रोग आता ही' इस तरह बीमारी तथा कर्म वस्तु के स्वभाव पर मन लगावे। इसी से वह मध्यस्थ रह सकता है, रहता है। न शरीर के राग में खिंचाता है न बीमारी के प्रति द्वेष में। इससे उसे वेदना का चित्त-संताप नहीं होता, आर्त ध्यान नहीं होता। वह तो पूर्व महर्षि का यह वचन बराबर नजर समक्ष रखे कि—

कर्म रोकने सम्बन्धी महर्षि वचन

‘पूर्व खलुभो ! कडाणं कम्माणं दुच्चिक्खणाणं दुप्पडिकंताणं वेयइत्ता मोक्खो, नत्थि अवेदयित्ता, तवसा वा भोसइत्ता ।’

अर्थ:—हे महानुभाव ! पूर्व में दुष्टमन से किये कर्मों का (आलोचना व प्रायश्चित्त द्वारा) प्रतिक्रमण नहीं किया हो तो उन कर्मों को सचमुच में भोगने से ही उनसे छुटकारा होगा, भोगे बिना या तप से क्षीण किये बिना नहीं ।’

जीवन जीने में ४ प्रकार की सावधानी

मुनि इस सूत्र के अनुसार इस जन्म के बारे में दो तथा अम्मांतर के बारे में दो, इस तरह कुल ४ प्रकार से सावधानी रखता है ।

१. मन वचन काया की असत् प्रवृत्ति से बचना, जिससे अशुभ कर्म बंध, संक्रमणादि और कुसंस्करण स बच जाय ।

२. असत्प्रवृत्ति के हो जाने पर पश्चात्ताप, आलोचना या प्रायश्चित्त द्वारा प्रतिक्रमण करना अर्थात् पाप से पीछे हटना ।

३. पूर्व जन्म के अशुभ कर्मों के उदय से आने वाली पीड़ा को समभाव से प्रसन्नता से भोगना, तथा

४. पूर्व बद्ध कर्म के क्षय के लिये बाह्य आभ्यंतर तप में रत रहना ।

पीड़ा के समय शुभ विचार

ये सावधानी रखने से आर्तध्यान होने का अवकाश ही कहाँ रहा ? सहन करने का हो तब (१) शुद्ध आत्म वस्तु (२) कर्म वस्तु व (३) बाह्य निमित्त अर्थात् वस्तु के सच्चे स्वरूप पर बराबर दृष्टि रहे; तो फिर पीड़ा या वेदना में असमाधि या अस्वस्थ चित्त होने का कोई कारण नहीं रहता । वह समझता है कि —

‘काहं अल्लिचिं अदुवा अहीहं, तवोवहाणेषु य उज्जमिस्सं ।
गणं च नीतिं अणुसार वेस्सं, सालंबसेवी समुवेइ मोकखं ॥’

अर्थ - ‘मैं (परम्परा से प्राप्त श्रुत तथा आगम की) परम्परा को सम्हाल कर रखूंगा अथवा मैं पढ़ूंगा या तप और योगोद्धन में उद्यम कर सकूंगा अथवा मुनिगणों को शास्त्र नीति अनुसार सम्हाल सकूंगा ।’ - ऐसा उद्देश्य रखकर दवादि उपचार करे अर्थात् सालंब सेवी बने । वह (बाद में इस उद्देश्य की ही प्रवृत्ति रखने से) मोक्ष प्राप्त करता है ।’ इससे पता चलता है दवादि उपचार के सेवन में उद्देश्य ऐसा प्रशस्त व पवित्र हो तो ही आर्त्त ध्यान नहीं होता ।

(१) पीड़ा से आत्मा के शुद्ध स्वरूप का कुछ नहीं बिगड़ता । वैसे ही पूर्व का दुष्कृतकारी अपराधी आत्मा दंड भुगत ले यही योग्य है । इसमें नाराजगी क्या ?

(२) मैं पसन्द करूँ या न करूँ, कर्म अपना फल दे कर ही रवाना होंगे । तथा वे पीड़ा दे कर जाते हैं तो यह तो कचरा साफ हुआ । फिर इसमें खेद या नाराजी किस बात की ? जितनी पीड़ा उतनी ही कर्म की सफाई ।

(३) बाह्य निमित्त तो मात्र कुल्हाड़ी के हाथे की तरह हैं । कुल्हाड़ी में काटने वाला तो उसका आगे का हिस्सा या लोहा है, हाथ नहीं । इसी तरह पीड़ा देने वाले तो असल में कर्म ही हैं, निमित्त नहीं ।

इस प्रकार की समझ या बुद्धि से आर्त्तध्यान न हो कर धर्म ध्यान होता है । यह सम्यक् सहन करने वाले की बात हुई ।

२. मुनि का दवा करने में विशिष्ट उद्देश्य

मुनि वेदना आदि मिटाने के लिए यदि औषध आदि उपचार

करता है तो वह दुःख से त्रस्त होकर नहीं, पर ज्ञानादि के प्रशस्त आलंबन से करता है। 'आलंबन' अर्थात् प्रवृत्ति का निमित्त; दवा, औषध आदि के सेवन की प्रवृत्ति का उद्देश्य। यहां उद्देश्य है केवल पवित्र ज्ञानादि के संरक्षण तथा संवर्धन करने का। इससे उसे कर्म बंध नहीं है। कहा है कि—

प्रशस्त आलंबन कैसे रखे ?

मुनि देखता है कि रोगादि की वेदना के समय अपने कमजोर शरीर-संघयण (रचना की शक्ति १०) और कमजोर मन के कारण अपने ज्ञानादि आराधना के कर्तव्य का बराबर पालन नहीं कर सकता, उसमें त्रुटि होगी, विराधना होगी आदि। यह न होने देने के लिए ही 'अच्छा, औषध का सेवन कर लूं।' यह सोचकर औषधादि का सेवन करे। तो वह उद्देश्य प्रशस्त है, पवित्र है। मन का लक्ष्य इस प्रशस्त कर्तव्य के पालन में है। अतः मन आर्त्ता ध्यान में नहीं है।

ये प्रशस्त आलंबन कौन से ?

१. 'पूर्व पुरुषों ने भगवान के श्रुत यानी आगम को दूसरों को षढाकर आगम परम्परा को अविच्छिन्न रखा। यह उत्तराधिकार आज मुझ तक पहुँचाया है, वह मैं रोगादि की पीड़ा के कारण दूसरे को नहीं दे सकता। अतः मैं औषधोपचार करके यदि शरीर से स्वस्थ बनूँ तो उसे दूसरे को दे सकूँगा। इस तरह श्रुत का उत्तराधिकार मेरे बाद भी आगे चालू रहेगा। अन्यथा मेरी बीमारी में मेरे पास के इस उत्तराधिकार का विच्छेद हो जावेगा। अतः औषधोपचार कर लूं।' यह श्रुत टिकाने का आलंबन है, उद्देश्य है।

(२) 'मेरे से वेदना में श्रुताभ्यास, अध्ययन या परावर्तन नहीं हो सकता, अतः औषधादि सेवन करके उसमें लग जाऊँ।' यह श्रुतस्वाध्याय का दूसरा उद्देश्य हुआ।

(३) 'रोगादि की पीड़ा में मुझ से विशिष्ट तपस्या या आगम अध्ययन के लिए जरूरी योगोद्धहन की क्रिया नहीं हो सकती। तो औषधादि का सहारा लेकर यह उद्यम करूं।' ऐसा योगोद्धहन का उद्देश्य हो।

(४) 'मेरे सिर पर मुक्तिगण को शास्त्रानुसार सारणा, वारणा आदि करके उसके द्वारा उन्हें बराबर सम्हालने की जिम्मेदारी है, पर इस वेदना में वह अदा नहीं हो सकती। तो औषधादि का अपवाद सेवन करके गण रक्षा अच्छी तरह कर लूं।' ऐसा गणरक्षा का उद्देश्य हो।

(५) उपरोक्त आलंघनों की गाथा में 'च' पद से अन्य उद्देश्य भी लिये जा सकते हैं। जैसे 'वेदना में मैं उपवृंहणा, स्थिरीकरण, सार्धमिक वात्सल्य आदि दर्शन के आचार तथा जिनदर्शनादि अनुष्ठान नहीं कर सकता।' 'गुरु आने पर खड़ा होना' आदि अभ्युत्थानादि विनय रूप ज्ञानाचार का पालन नहीं कर सकता। समिति, गुप्ति, भिक्षाटन, निर्दोष मोचरी, इच्छाकारादि साधु समाचारी आदि का अच्छी तरह पालन नहीं कर सकता। अतः औषधादि लेकर उसे अच्छी तरह करूं।' इस तरह दर्शनादि के आचार पालन के उद्देश्य से दवा करे।

इसमें से किसी भी उद्देश्य से औषधादि का सेवन करे, उसे 'सालंबसेवी' कहते हैं। वह करके उन उद्देश्यों का पालन करने में ही वह लग जावेगा। अतः क्रमशः वह आगे बढ़ता हुआ अन्त में मोक्ष प्राप्त कर लेता है। सवाल मात्र यह है कि—

कैसे औषधों वगैरह का सेवन करें ?

सेवन करने की औषधियां ऐसी हों जो निरवद्य या अल्पसावद्य हों। अवद्य अर्थात् पाप। खास तौर से जिसमें साक्षात् या परम्परा

से हिंसा का करना, कराना या अनुमोदन करना हो वह अवद्य। ऐसे पापों से रहित निरवद्य उपचार का मुनि सेवन करे। अथवा जिसमें बहुत अल्प पाप हो, वैसे (अल्प) सावद्य उपचार का सेवन करे। उदा० दवा या पथ्य के लिए ही गांव में तीन बार घूमकर आने पर भी स्वाभाविक रूप से गृहस्थ ने अपने लिए तैयार किया हुआ औषध या पथ्य नहीं मिला, तो अति अल्प दोष वाला (तैयार करवाया हुआ) लेना पड़े।

उपरोक्त प्रकार का सालंबसेवी अल्पसावद्य का सेवन करे तो भी वह निर्दोष है। क्योंकि उसकी निर्दोषता के बारे में यह शास्त्र वचन मिलता है कि 'गीयत्थो जयणाए कडजोगी कारणमि निदोसो।' अर्थात् गीतार्थ याने शास्त्रज्ञ पुरुष रत्नत्रयी के पालन के लिए कारण उपस्थित होने पर यतनापूर्वक त्रिपर्यटनादि शास्त्र विधि का ध्यान रखकर दोष वाला पदार्थ सेवन करे तो भी वह निर्दोष है।

प्रश्न— जैन शास्त्र ऐसे दोष वाला सेवन करने का क्यों कहता है ?

उत्तर— जिनागम उत्सर्ग तथा अपवाद दोनों सहित मार्ग बताता है। 'उत्सर्ग' याने मुख्य विधि या निषेध। 'अपवाद' याने दिखावे में उसके विरुद्ध परन्तु अन्तिम परिणाम के रूप में उसके अनुकूल होने वाला आचरण। प्रसंग आने पर यह जरूरी होता है। अन्यथा अकेले उत्सर्ग का आग्रह रखने पर, किसी ऐसी परिस्थिति में वह सम्भव न हो तो उससे परलोकहित का साधन असम्भव बन जायगा। उदा० एकदम तीव्र बीमारी आ गई। निर्दोष दवा तथा पथ्य नहीं मिलते। अब यदि सदोष दवा पथ्य का सेवन करता है तो उसमें उत्सर्ग मार्ग जिसमें आरम्भ समारम्भ का न करवाना या अननुमोदन होता है, उससे विरुद्ध बर्ताव करना पड़ता है; अतः यदि वह वैसा नहीं ले, तो बीमारी के कारण अन्य साधनाएं कम या नष्ट

होती हैं, जिससे परिणामस्वरूप चारित्र के उत्सर्ग मार्ग का पालन न होकर उलटा परलोक बिगड़ता है। अतः ऐसे अवसर पर सदोष उपचार का सेवन भी कर ले वह अपवाद मार्ग हुआ। उसमें उद्देश्य शुद्ध होने से वह आर्त्त ध्यान नहीं है, पर धर्म ध्यान है। यह वेदना या पीड़ा में उसके प्रतीकार का बात हुई।

(३) तप संयम से संसार के दुःखवियोग के चिंतन में आर्त्त ध्यान क्यों नहीं ?

प्रश्न अनिष्ट संसारदुःख के वियोग का ध्यान आर्त्त ध्यान क्यों नहीं है ?

उत्तर— अनिष्ट संसारदुःख के वियोग के ध्यान में आर्त्त ध्यान इसलिए नहीं है कि इसमें तो वह दैवी सुखों को भी दुःखरूप समझ कर उसके भी वियोग की इच्छा रखता है; परन्तु नरक या तिर्यंच के दुःख मिट कर मनुष्य तथा देव के सुख प्राप्ति की इच्छा नहीं है। उधर अनिष्ट वियोग के आर्त्त ध्यान वाले को तो इष्ट विषय सुखों का योग चाहिये। उदा० 'यह गरीबी या यह अपमान कैसे जाय ?' इस चिंतन में पैसे तथा सम्मान की इच्छा है। तप संयम का सेवन करने वाले मुनि तो संसार के सब सुख दुःखों के वियोग की इच्छा करके उसके प्रतीकार स्वरूप तप संयम का सेवन करते हैं।

प्रश्न— तप और संयम सांसारिक दुःख के प्रतिकार किस तरह हैं ?

उत्तर— तप और संयम दो तरह से सांसारिक दुःख हटाते हैं। एक वर्तमान में तथा दूसरे भविष्य में। (१) वर्तमान दुःख ये हैं—बार बार भूख लगना, इष्ट रस की इच्छा का उठना, अनुकूल प्राप्ति की झंखना (सतत इच्छा) होना, प्रतिकूल का भय लगते रहना, इन्द्रियों के विषय विकारों का जागना, द्वेष, ईर्ष्या आदि मन के

दोषों का जाग्रत होना आदि । तप संयम का अभ्यास होने से ये सब शान्त हो जाते हैं । (२) तप संयम से दुःखदायी अज्ञाता, अन्तराय, मोहनीय आदि कर्मों का नाश होता है, यावत् सर्व कर्मों का क्षय होता है । अतः भविष्य में इससे आने वाले दुःख अटक्ते हैं, रुकते हैं ।

‘नियाणा रहित’ क्यों कहा ?

परन्तु यदि ‘तप संयम से मुझे इन्द्रादि की ऋद्धि मिले’, आदि नियामा करे तो उसमें वर्तमान में लोभकषाय का दोष उठा, वह भी दुःख ही खड़ा हुआ तथा भविष्य में भी वह समृद्धि प्राप्त होने पर उसमें बुद्धि के बिगड़ने से नरकादि के दुःख उत्पन्न करने वाले कर्मों का बंध होगा । इन वर्तमान तथा भावी दोनों दुःखद स्थितियों की ओर से आंखें मूंद लेना मात्र अज्ञान है, मोह है । इससे वहां आर्त्ता ध्यान आकर खड़ा हो जाता है । पुनः रागरक्त बनकर इष्ट समृद्धि का नियामा किया, यह तो स्पष्ट चौथे प्रकार का आर्त्ता ध्यान ही है । इसीलिए कहा कि तप संयम नियामा रहित हो तो ही धर्म ध्यान रूप है । (अन्यथा नहीं ।)

प्रश्न--यह ठीक है । परन्तु ‘तप संयम से मुझे सब कर्मों का क्षय होकर मोक्ष प्राप्त हो’ यह आशंसा भी एक प्रकार का नियामा ही है न ? तो वह हो तो ‘नियामा रहित’ कहाँ आया ?

उत्तर-- बात सच है । निश्चयनय से वह भी नियामा ही है, अतः परमार्थ से वैसी आशंसा रखने का भी निषेध है । इसीलिए यह शास्त्र वचन मिलता है कि:-

मोक्षे भवे च सर्वत्र निस्पृहो मुनिसत्तमः ।

प्रकृत्याभ्यासयोगेन यत उक्तो जिनागमे ॥

अर्थः--जिनागम में कहा है कि स्वस्वभाव के अभ्यास के

कारण उत्तम मुनि मोक्ष तथा संसार दोनों की ओर निःस्पृहता वाला होता है। मुनि 'अहिंसादि महाव्रत, समिति, गुप्ति और क्षमादि यतिधर्म तो मेरा आत्मस्वभाव ही है' ऐसा संपूर्णतः लक्ष्य में रखकर उसका स्वाभाविक वृत्ति रूप सतत और एकसा सेवन करता रहता है। तो दृष्टि उस पर ही होने से तथा भावना याने सतत अभ्यास से आत्मा उससे भावित हो चुका होने से आत्मा में उसी की रमणता रहती है। अतः उस स्थिति में उस महामुनि को कोई भी स्पृहा नहीं रहती। यावत् संसार की भी नहीं और मोक्ष की भी नहीं। पर यह तो निश्चयनय की बात हुई।

मोक्ष की इच्छा से चित्त शुद्धि-मार्ग प्रवृत्तिः

परन्तु व्यवहार नय से बात बिलकुल जुदी है। ऐसे आत्माओं के लिए जिन्हें अभी तक ऐसी भावना नहीं हुई अर्थात् सतत अभ्यास से होने वाली अहिंसा क्षमा आदि तथा समिति गुप्ति की आत्मसातसा या भावितता प्राप्त नहीं हुई, वे मोक्ष की कांक्षा रखें, इसमें उन्हें 'निदान' का दोष नहीं है। क्योंकि उनका उसी तरह से (१) चित्त शुद्ध बनता जाता है तथा (२) मोक्षोपयोगी क्रिया में जोरदार प्रवृत्ति होती है। कर्मक्षय-मोक्ष की ही उत्कट इच्छा रहने से ही अन्य सांसारिक भौतिक इच्छाएं कि जो चित्त को बिगाड़ने वाली हैं, वे मरने लगती हैं और इससे चित्त शुद्ध बनता जाता है यह स्वाभाविक है। मोक्षोच्छा मोक्षोपयोगी क्रिया में जोरदार प्रवृत्ति होती रहने से मन उसमें तन्मय बनता जाता है अतः अहिंसा, क्षमा आदि से भावित होता जाता है। इसके फलस्वरूप उत्कृष्ट चित्तशुद्धि और पूर्ण अहिंसादि भावितता खड़ी होने से पूर्वोक्त सर्वथा निस्पृह भाव प्रकट होता है, जिसमें मोक्ष की भी स्पृहा (इच्छा) नहीं रहती।

प्रश्न— तब भी मोक्ष की इच्छा क्यों जरूरी है ?

उत्तर — यहां यह समझने लायक है कि प्रारम्भिक जीव को अभी त्रिलकुल निस्पृह भाव को दशा प्राप्त नहीं हुई अतः इच्छाएँ तो रहेंगी । इसमें यदि मोक्ष को अर्थात् सर्व संगरहितता का इच्छा नहीं हो, तो भौतिक सुख के संग को इच्छा रहा करेगी । इससे वह कभी भी ऊँचा नहीं उठ सकता । वह तो मोक्ष की इच्छा रखे तभी उसके मन में यह भाव उठेगा कि मोक्ष मुझे इसलिए चाहिए कि संसार में जो जन्म मरणादि की बार-बार की पीड़ा तथा जीव को इससे कर्म की तरफ से होने वाली दुर्दशा है वह मोक्ष में नहीं है । पण्डित यह संसार जगत के जड़ चेतन का संग होगा वहां तक नहीं छूट सकता और मोक्ष नहीं मिल सकता । अतः मुझे ये समस्त संयोग व संग नहीं चाहिये । इस तरह मोक्ष की इच्छा के पाँछे सर्व संग रहितता की इच्छा खड़ी होती है । इससे सभी भौतिक सुखों के संग से बचने की इच्छा हो जाती है । यह इच्छा जितनी बलवान होगी, उतना ही अहिंसा, सत्य .. अपरिग्रह आदि का पालन जोरदार बनेगा; जिसके उत्कृष्ट होने से आत्मा में उसके 'स्वाभाविक' हो जाने से बाद में मनको यह इच्छा नहीं रहती कि मैं यह साधना करूँ जिससे मुझे मोक्ष मिले । फिर वह साधना स्वाभाविक हो जाती है जिससे वहां मोक्ष को इच्छा भी नहीं रहती ।

दूसरे 'न प्रयोजनं विना मन्दोपि प्रवर्तते' न्याय के अनुसार अज्ञान मनुष्य भी प्रयोजन विना, किसी उद्देश्य की इच्छा के बिना कोई प्रवृत्ति नहीं करता; तो सज्ञान अभ्यासी आराधक मोक्ष के प्रयोजन से, मोक्ष की इच्छा से ही प्रवृत्ति करे यह स्वाभाविक है । यह भी एक हकीकत है कि प्रवृत्ति में चिकीर्षा याने करने की इच्छा कारणभूत होती है । अतः मोक्षार्थ प्रवृत्ति में मोक्ष की इच्छा जरूरी है ।

पुनः मोक्ष की इच्छा का अर्थ असंग या निःसंगता की इच्छा

होने से वह चित्त में से संग को—सांसारिक संग को—दूर करता रहता है। इससे चित्त निर्मल बनता जाता है। भौतिक सुख के संग के कारण ही चित्त रागादि से मलिन रहता है। निःसंगता की बलवान् इच्छा से स्वतः ही ये रागादि मल दूर होते जाते हैं। सारांश मोक्ष की तांत्र इच्छा से ही चित्त शुद्धि और मार्ग प्रवृत्ति प्रबल होती जाती है। अतः वैसे इच्छा वह पापरूप नियाणा या निदान नहीं है।

इस ११वीं और १२वीं गाथा में मुनि को आर्त्त ध्यान क्यों नहीं होता, कैसे नहीं होता, दवा उपचार करे तब भी उन्हें आर्त्त ध्यान का तीसरा प्रकार क्यों नहीं गिना जाता, इसका विचार हुआ।

यहां टीकाकार महर्षि कहते हैं, 'दूसरे इन दो गाथाओं की व्याख्या मुनि को चारों प्रकार के आर्त्त ध्यान का निषेध करने के लिए करते हैं।' अर्थात् उनके अभिप्राय से इन दो गाथाओं में यह बताया गया है कि मुनि को चारों प्रकार का आर्त्त ध्यान क्यों नहीं होता। पर यह व्याख्या, यह अभिप्राय अत्यन्त सुन्दर नहीं है। क्योंकि मुनि को आर्त्त ध्यान का पहला प्रकार 'इष्ट संयोग अवियोग आर्त्त ध्यान' तथा तीसरा प्रकार 'अनिष्ट वियोग असंयोग का आर्त्त ध्यान' होने का अवकाश ही नहीं है। इससे यह शंका होती है कि तो फिर 'मुनि को कैसे इष्ट संयोग, अनिष्ट वियोग की प्रवृत्ति करने पर भी आर्त्त ध्यान क्यों नहीं?' इस शंका के निवारण के लिए हेतुदर्शक ये दो गाथाएं कहनी पड़ती हैं। मुनि को असल में ही सांसारिक इष्ट अनिष्ट कुछ रहा ही नहीं, तो उसके आर्त्त ध्यान की शंका ही किस बात पर होती है कि जिसके समाधान के लिए इस गाथा से हेतु बताना पड़े। अतः शंका बराबर संगत न होने से इन गाथाओं को उनके निवारण के लिए नहीं लगाया जा सकता।

हां, दूसरे प्रकार की वेदना के आर्त्त ध्यान की शंका उठने का

रागो दोसो मोहो य जेण संसार हेयवो भणिया ।

अट्टमि य ते तिण्णि त्रि, तोतं संसार तरुवीयं ॥१३॥

अर्थ:— राग द्वेष तथा मोह को संसार का कारण कहा है और आर्त्तध्यान में ये तीनों हैं, इसलिए (उस कारण से) आर्त्तध्यान संसार वृक्ष का बीज है ।

अवकाश जखुर है । क्योंकि मुनि को रोग होता है और उस रोग को मिटाने के लिए औषधोपचार भी किया जाता है । तो वहां शंका स्वाभाविक रूप से ही होती है कि मुनि को तब दूसरे प्रकार का वेदना संबंधी आर्त्तध्यान क्यों नहीं ? अतः इस 'शंका के निवारण के लिए अर्थात् मुनि को रोग में वेदना सम्बंधी दूसरे प्रकार का आर्त्तध्यान क्यों नहीं होता, यह बताने के लिए ये दो गाथाएं कही हैं' यह व्याख्या सुसंगत है ।

अब प्रश्न यह है कि आपने आर्त्तध्यान से संसार बढ़ने का कहा तो वह किस तरह से ? उसकी स्पष्टता यह है कि आर्त्तध्यान संसार का बीज होने से उसमें से स्वतः संसार उत्पन्न होता है, संसार बढ़ता है । अब आर्त्तध्यान संसार का बीज है, इस बात को स्पष्ट तथा दृढ़ करने के लिए कहते हैं:—

आर्त्तध्यान संसार-वृक्ष का बीज:—

विवेचन :

भगवान् श्री तीर्थंकर देव कहते हैं:—रागद्वेष तथा मोह ये संसार के कारण हैं और आर्त्तध्यान में ये तीनों ही काम करते हैं; अतः प्रविष्ट (अन्दर समाये हुए) हैं, तो फिर आर्त्तध्यान भी संसार का कारण क्यों नहीं ?

प्रश्न— संसार के कारण तो मिथ्यात्वादि पांच हैं, रागादि किस तरह ?

उत्तर— मिथ्यात्वादि भी रागादि की नींव पर ही निभते हैं, अतः असल में रागादि ही कारण कहे जाते हैं। रागादि नींव इस तरह हैं— (१) अनंतानुबंधी कषाय याने रागद्वेष हों, वहां तक मिथ्यात्व नहीं हटता। यदि मिथ्यात्व हट भी गया हो, और रागादि का उदय हो जाय तो मिथ्यात्व पुनः जाग्रत हो जाता है। तब (२) अग्निरति भी, अप्रत्याख्यानीय कक्षा के कषाय याने रागद्वेष उदय में हों, वहां तक खड़ी रहती है। इससे यहां भी मूल में राग द्वेष ही हुए। (३) कषाय तो राग द्वेष रूप ही हैं। अथवा यों कहा जा सकता है कि क्रोध मानादि कषाय भी कहीं तो राग या कही द्वेष के कारण प्रकट होते हैं। (४) योग याने मन वचन काया की अशुभ प्रवृत्ति भी मूल में राग द्वेष होने पर ही निभती है। अस्तु विचार, पापवाणी या अशुभ बर्ताव भी किसी न किसी पर राग या द्वेष के कारण ही उत्पन्न होता है। (५) प्रमाद मे भी राग द्वेष काम करते होते हैं, यह समझ में आ सकने जैसा है। ऐसे जिस तरह मिथ्यात्वादि पांचों संसार हेतु है वैसे ही उसके नींव रूप राग द्वेष तो जरूर ही संसारहेतु कहलाते हैं।

प्रश्न— तो फिर संसारहेतु राग द्वेष को ही कहो, उसमें होते समाविष्ट होने वाले मिथ्यात्वादि को क्यों कहते हो ?

उत्तर— राग द्वेष पर मिथ्यात्व आदि भिन्न भिन्न असद् भाव हैं, यह बताने के लिए ही उसे अलग अलग कहा।

प्रश्न— ठीक है, तो मोह को अलग क्यों बताया ?

उत्तर— मोह यह मिथ्या ज्ञान रूप, भ्रम रूप है अथवा अज्ञान विस्मरण या संशय रूप है। कहीं राग का जोर न हो तब भी

मिथ्याज्ञान हो तो भी असत् प्रवृत्ति होती है। उदा० भर्तृहरि जैसे को संसार का राग तो मंद पड़ गया, पर सर्वज्ञ शासन मिला हुआ नहीं होने से सूक्ष्म अहिंसामय पांच महाव्रत आदि का चारित्र्य हाथ नहीं लगने से सूक्ष्म जीवों की हिंसामय प्रवृत्ति चालू थी। यह मोह-अज्ञान था। सर्वज्ञोक्त यथार्थ तत्त्व जानने समझने को नहीं मिले, इससे मिथ्यातत्त्व की मान्यतारूप मोह रूप में फंसे रहे। पर मुनियों को वैसा राग द्वेष या मोह न होने पर भी शास्त्र बोध उतना विस्तृत न हो या विस्मरण हो जाय अथवा संदेह उत्पन्न हो, तो इससे भी भूल वगैरह के कारण से असत् प्रवृत्ति आना संभव है; यह भी एक प्रकार का मोह हुआ।

सारांश यह कि रागद्वेष और मोह ये संसार के कारण हैं। आर्त्ता ध्यान के मूल में ये काम करते हैं और आर्त्तध्यान के साथ रहकर उसे मदद करते रहते हैं। इससे यदि रागादि संसार के कारण हैं, तो उससे समर्पित आर्त्ता ध्यान संसार-वृक्ष का बीज हो, इसमें आश्चर्य क्या? आर्त्ता ध्यान बीज का काम करता है, उस पर संसार वृक्ष बढ़ता है, विस्तृत होता है।

प्रश्न— ठीक है, परन्तु यदि वह सामान्यतः संसार वृक्ष का बीज हो तो उसे तिर्य्यचगति का मूल-कारण क्यों कहा जाता है?

उत्तर— असल में आर्त्ता ध्यान मोक्षगति का कारण न होकर तिर्य्यचगति का कारण होने से ही संसार का कारण है, संसार वृक्ष का बीज है। तिर्य्यचगति संसार ही है। दूसरे इसकी व्याख्या इस तरह करते हैं कि तिर्य्यचगति में बहुत ज्यादा जीव हैं। संसारी जीवों का अधिकांश हिस्सा अर्थात् अनन्तानन्त जीव तिर्य्यचगति के एकेन्द्रिय साधारण वनस्पतिकाय में हैं। उसकी स्वकाय स्थिति भी बहुत लम्बी है। अर्थात् इन जीवों का ऐसी ही एकेन्द्रिय काया में सतत् जन्म मरण करने का उत्कृष्ट काल बहुत लम्बा है, अनन्त उत्सर्पिणी

कावोय नील गालैस्साओ नाइसंकिलिट्ठाओ ।

अट्टुज्झाणोवगयम्म कम्मपरिणामजणियाओ ॥ १४॥

अर्थ: - आर्त्त ध्यान करने वाले को अति संक्लिष्ट नहीं वैसी कापोत, नील या कृष्ण लेश्याएं होती हैं। ये लेश्याएं कर्म परिणाम से उत्पन्न होती हैं।

अवसर्पिणी है। अतः यहां सिर्फ तिर्य्यचगति में 'संसार' शब्द का उपचार किया। वैसे तो संसार चार गति का है; पर यहां उपचार से कहा कि आर्त्त ध्यान तिर्य्यचगति का कारण है इसीलिए संसार का कारण है।

आर्त्त ध्यान में लेश्या

अब आर्त्त ध्यान करने वाले की लेश्या कौन-सी है सो कहते हैं-

विवेचन :

लेश्या मन वचन काया के योगों के समय वैसे वैसे कृष्ण नील आदि द्रव्य के सहारे होने वाले आत्मपरिणाम हैं। सराग जीव को वह प्रशस्त अप्रशस्त कषाय में बल देती है। धन्ना शालिभद्र मुनि को तप संयम के राग में उच्च तेजो, पद्म, शुक्ल लेश्या का बल रहता था, जिससे उच्च भावोल्लास का वे अनुभव करते थे।

यह लेश्या दो प्रकार की है १. द्रव्य लेश्या व २. भाव लेश्या। जीव की लेश्या कृष्ण, नील, कापोत, तेजो, पद्म, शुक्ल, वर्ण स्वरूप है। शास्त्र उसे कर्मान्तर्गत द्रव्यस्वरूप या स्वतन्त्र पुद्गल स्वरूप कहते हैं। जीव उसे ग्रहण करता है अतः कृष्णादि द्रव्य के सहयोग से आत्मा में उस प्रकार का एक परिणाम खड़ा होता है, उसे भाव लेश्या कहते हैं। कहा है कि:—

कृष्णादि द्रव्य साचिख्यात् परिणामो य आत्मनः ।

स्फटिकस्येव तत्रायं लेश्या शब्द प्रयुज्यते ॥

अर्थात् कृष्णादि द्रव्यों के सहयोग से स्फटिक की तरह आत्मा का जो परिणाम होता है उसमें लेश्या शब्द का प्रयोग होता है। स्फटिक उज्ज्वल होता है, परन्तु उसके पीछे काला, नीला आदि जैसे वर्ण का कागज कपड़ा रखा जाय, वैसे रंग से रंगा हुआ वह स्फटिक दिखता है। वैसे ही यहां कृष्णादि द्रव्य के सम्बन्ध से आत्मा वैसे परिणाम वाला याने तीव्र मन्द शुभाशुभ अध्यवसाय वाला होता है। इस परिणाम को 'लेश्या' कहते हैं। श्रेणिक राजा अन्तिम समय आराधना मग्न होने से शुभ अध्यवसाय वाले थे, परन्तु अन्त में कृष्ण लेश्या में चढ़ गये। अलबत्त, वे क्षायिक समकित्ती थे, इससे उन्हें अति उग्र अनन्तानुबन्धी कषाय नहीं थे, तब भी उनसे कुछ हलके अप्रत्यक्ष्यानीय कषाय को कृष्ण लेश्या का बल मिला। इससे उनके दिल के अध्यवसाय भयंकर रूप से बिगड़ गये और वे मर कर नरक में गये।

लेश्या दो तरह की हैं—शुभ तथा अशुभ। उसमें अशुभ तीन प्रकार से—कृष्ण, नील तथा कापोत। शुभ भी तीन प्रकार की हैं—तेजो लेश्या, पद्म लेश्या तथा शुक्ल लेश्या। इसमें आर्त्ता ध्यान रौद्र-ध्यान का सेवन करने वाले को अशुभ लेश्या होती है। परन्तु रौद्र ध्यानी को यह कृष्णादि लेश्या अतिशय संक्लेश वाली अर्थात् क्रूर भाव वाली होती है। तो आर्त्ताध्यानी को वे लेश्या उतनी संक्लेश वाली नहीं पर उससे मन्द कृष्णादि तीनों लेश्या होती हैं।

ये लेश्या कौन करवाता है ?

वैसे वैसे कर्म का उदय वह लेश्या करवाते हैं। अलबत्ता मन वचन काया के योग सहयोगी कारण जरूर हैं, इसीलिए लेश्या

१३वें गुणस्थानक तक ही होती है। १४वें में अयोगी अवस्था होने से वहां कोई लेश्या नहीं होती, वह अलेश्य अवस्था है। तब भी लेश्या मुख्यतः कर्मपरिणाम से उत्पन्न होती है; कर्म के आधीन है। फिर इसमें मन वचन काया के योग याने आत्मा का पुरुषार्थ जिस प्रमाण में मिलता है, वैसी ही शुभ अशुभ मन्द या तीव्र लेश्या होती है।

शुभ योगों का सहृदयः—इसीलिए जिन भक्ति आदि शुभ योगों में रहने से शुभ लेश्या का लाभ मिलता है। परन्तु विषय, आरम्भ, परिग्रह आदि के पुरुषार्थ से लेश्या बिगड़ जाती है। लेश्या के जरा भी बिगड़ने पर आर्त्त ध्यान आता है और उसका फल पहले कहा जा चुका है। इसीलिए जैन शास्त्र मानव जीवन में अनेक प्रकार के शुभयोगमय कर्तव्य बताते हैं। यदि कोई उनमें रक्त रहे, तो वह अशुभ लेश्या से बचता है, आर्त्त ध्यान से तथा संसार-वृद्धि से बचता है; पर इसका अर्थ यह नहीं है कि इन्द्रिय विषय संपर्क, परिग्रह आदि अशुभ योगों में अशुभ लेश्या और आर्त्त ध्यान ही होंगे। नहीं ऐसा नहीं है। यदि कोई उस समय भी अपनी विचारधारा अच्छी रखे, अच्छी वाणी बोले तो शुभ लेश्या भी आ सकती है। इसमें एक अन्य विशिष्टता यह भी है कि काययोग अशुभ होने पर भो मनोयोग तथा वचनयोग शुभ रहने से लेश्या शुभ बनती है, ध्यान भी शुभ आता है। त्याग वैराग्य के ऐसे उत्कट शुभ मनोयोग के पुरुषार्थ में चढ़े हुए गुणसागर श्रेष्ठी पुत्र आठ कन्याओं के साथ पाणिग्रहण के अशुभ काययोग के समय भी शुक्ल भावनारूप मनोयोग, शुक्ल लेश्या, धर्म ध्यान और शुक्ल ध्यान में चढ़कर वीतराग सर्वज्ञ बन गये। तात्पर्य कि पहले तो काययोग ही शुभ रखना चाहिये और दूसरे वह न हो सके तो भी वचनयोग, मनोयोग याने वाणी विचार तो शुभ रखना जरूरी ही है।

तस्सकक्रंदण सोयण परिदेवण ताडणाइं लिङ्गाइं ।
 ईड्डानिड्ड - विओगाविओग - वियणा - निमिच्छाइं ॥१५॥
 निन्दइ य नियक्कायाइं पससइ सविम्हओ विभूर्हओ ।
 पत्थेइ तासु रज्जइ तयज्जण - परायणो होइ ॥१६॥
 सदाइविसयगिद्धो सद्धम्म - परम्महो पमायपरो ।
 जिणमयमणवेक्खंतो वट्ठइ अट्ठमि भाणमि ॥१७॥

अर्थ:—आर्त्ता ध्यान के लिंग (चिह्न) हैं आक्रन्द, शोक, क्रोध, पीटना आदि । ये इष्टवियोग, अनिष्ट अवियोग तथा वेदना के कारण से होते हैं । (पुनः) अपने किये हुए कार्य की (अल्पफल आने से या निष्फल जाने से) निन्दा करता है तथा दूसरे की सम्पत्ति की विस्मित हृदय से प्रशंसा करता है, अभिलाषा करता है, उसी में रक्त बनता है और उसका उपार्जन करने में लग जाता है । शब्दादि विषयों में गृद्ध व मूर्छित बनता है, क्षमादि चारित्र धर्म से पराङ्मुख बनता है और मद्यादि प्रमाद में आसक्त होता है । आर्त्ता ध्यान में रहा हुआ जीव जिनागम से निरपेक्ष बनता है ।

आर्त्ता ध्यान के बाह्य चिन्ह

आर्त्ता ध्यान दिल में स्थित है, वह बाह्य कौन से चिह्नों से पहचाना जा सकता है, यह अब बताते हैं:—

विवेचन :

कभी कभी मनुष्य अपने आपको चतुर समझ कर यह मान लेता है कि मुझे आर्त्ताध्यान नहीं होता; परन्तु दिल में वह स्थित है, यह बाह्य लक्षण पर से साबित होता है । कारण कि ये लक्षण अन्तर से आर्त्ताध्यान हुए बिना नहीं हो सकते । तो रात दिन ऐसे

एक या दूसरे लक्षण चलते हों तो उस पर से हम नाप सकते हैं कि जीव को रात दिन का कितना ज्यादा हिस्सा आर्त्तध्यान में बीतता है।

आर्त्तध्यान के लक्षण

ये लक्षण इस प्रकार हैं:—

किसी इष्ट वस्तु के चली जाने से, बिगड़ने से या नष्ट हो जाने के कारण अथवा किसी अनिष्ट के आने से उसके न जाने या न मुँधरने के कारण या किसी वेदना के कारण जीव —

(१) आक्रन्द करता है, जोर से चिल्लाकर रोता है, या

(२) बिना चिल्लाये भी आंसू भरी आँखों से दीन हीन जैसा बन जाता है, अथवा

(३) वाणी से दिल का गुस्सा या रोष क्रोध प्रकट करे, कुछ बकवास करे, अरुचि सूचक शब्द बोले, या उससे आगे बढ़ कर

(४) सिर या छाती पीटे या बाल नोंच डाले।

ये आन्तरिक रूप से मन में खटकते हुए—रहे हुए आर्त्त ध्यान के कारण ही होते हैं। ये आर्त्त ध्यान के बाह्य लिंग या चिह्न हैं।

अनिष्ट होने से आर्त्त ध्यान

(१) ऐसा बहुत होता है। पुत्र मर गया तो इष्ट का वियोग हुआ। वह वापस तो नहीं आने वाला, तब भी उस पर चिल्लाकर रोते हैं। कई दिन, अरे कई महीने बीते, तब भी कोई याद करवाये या स्वयं याद आवे तो रोना आ जाता है। यह सूचित करता है कि अन्तर में आर्त्त ध्यान है। इसी तरह कुछ भी मन के विपरीत बन गया; उदा० खरीदते में ठगे गये, चीज हलकी मिली, तो उसके बारे में हृदय की व्यथा १०-२० व्यक्तियों के आगे शब्द से बाहर व्यक्त

की जाती है। व्यर्थ बकवास करते हैं; कंसा समय आया है ? व्यापारी लुच्चे हैं, मिलावट ज्यादा होती है, सरकारी तन्त्र रिश्वतखोर है .. आदि। यह मन में स्थित आर्त्ता ध्यान के कारण ही है। वैसे ही घर में स्वयं को अनिच्छनीय लगे वैसे कुछ हो गया या दूसरे को इष्ट मिला और स्वयं को न मिला तो वहां आर्त्ता ध्यान बढ़ने पर स्वयं सिर कूटता है, छाती पीटता है इत्यादि। अथवा (२) नापसंद नौकर व० से पाला पड़ गया है अब वह हटता नहीं है या (३) किसी रोगादि कारण से वेदना हो रही है, वहां वह अपनी व्यथा प्रकट करता है, हाय हाय करता है। यह सब भीतर (हृदय) के आर्त्ता ध्यान के कारण होता है।

इतने बड़े प्रमाण में आक्रन्द, रुदन या ताड़न न भी हो तो अन्य आर्त्ता ध्यान के लक्षण भी उपस्थित होते हैं।

(४) स्वकार्य की निन्दा के पीछे आर्त्ता ध्यान

(गाथा १६)

स्वयं ने यदि कोई बनावट की हो, शिल्प, कला या व्यापार में इच्छित नहीं हुआ हो, अल्प फल मिला हो, निष्फल गया हो, तो उसकी घृणा प्रकट करता है। उदा० रसोई में कोई वस्तु बिगड़ गई, कपड़ा बराबर नहीं धुला, शिल्पी या अन्य कारीगर की कारीगरी इच्छानुसार नहीं हुई, घर में ही किसी चतुराई के काम में कुछ गलती रह गई, या नौकरी धन्धे में कुछ झगड़ा टंटा हुआ, उस पर वह उन चीजों की निन्दा करे, दूसरे के आगे, या मन ही मन 'यह खराब हुआ, बिगड़ गया' कह कर घृणा व्यक्त करे; अरे ! यों तो स्वयं अपनी चतुराई, सामग्री आदि के हिसाब से बराबर किया हो, तब भी दूसरे का वैसे कार्य अच्छा बना हुआ देखकर स्वयं अपने काम की निन्दा करे, यह आंतरिक आर्त्ता ध्यान की स्थिति की सूचना करता है।

(५-८) दूसरे के वैभव पर आश्चर्य करना, वैभव की इच्छा करना, मिले पर खुशी होना तथा सहर्ष वैभव उद्यम के पीछे आर्त्त ध्यान ।

(५) खुद को नहीं मिला और दूसरे को अच्छी संपत्ति, वैभव, बंगला, मोटर, फर्नीचर आदि मिला देखकर उस पर आश्चर्य करे, प्रशंसा करे, वैभव के गुणगान करे, यह भी आर्त्त ध्यान का लक्षण है । मन के अन्दर यह आश्चर्य लगे कि 'दूसरे को मिला वैसा हाय ! मुझे इष्ट नहीं मिला ? मुझे नहीं और दूसरे को कैसा अच्छा मिला ।' अरे ! बाजार से कहीं से कोई दूसरा व्यक्ति कोई अच्छी चीज लेकर आया हो तो वह देखकर भी यह होता है ।

(६) स्वयं माल सम्पत्ति या वैभव की इच्छा करे, संखना करे, प्रार्थना करे, वह वैसे उद्गार आदि बाहर के लक्षण से दिखता है । यह भी रहे हुए आर्त्त ध्यान का सूचक है । मनमें 'यह इष्ट कैसे मिले ?' इसके तन्मय चिंतन बिना बाहर प्रार्थना, इच्छा या प्रशंसा कैसे व्यक्त हो ?

(७) प्राप्त हुई चीज वस्तु, सम्पत्ति, सम्मान आदि में समता, राग, खुशी आनन्द रहे; वह भी मुख मुद्रा, रहन सहन, और शब्दों से व्यक्त होता है । यह भी आन्तरिक आर्त्त ध्यान का सूचक है ।

(८) सम्पत्ति, सम्मान आदि प्राप्त करने के लिए उत्साह सहित तैयार हो, उद्यम परिश्रम करे, वहां भी अन्तर में आर्त्त ध्यान उपस्थित है ।

उपरोक्त लक्षण कदाचित् मात्र धनराशि के बारे में हीन हो, पर एकाध वस्तु के बारे में और वह भी साधारण वस्तु के बारे में हो, तब भी वह आर्त्त ध्यान की सूचक है । यहां विचारणीय यह है

कि दिन भर किसी एक या दूसरे पदार्थ के बारे में, किसी बात के बारे में घृणा, प्रशंसा, अभिलाषा, राग-रक्तता और प्राप्ति या निवारण के लिए कितनी ज्यादा मेहनत चालू रहती है, इस पर से भी प्रत्येक दिन भर में भी कितना ढेरों आर्त ध्यान होता रहता है ?

इसके अलावा भी आर्त ध्यान के अन्य लक्षण इस प्रकार उपस्थित रहते हैं ।

६. इन्द्रियों के इष्ट विषयों पर गृद्धि—
अर्थात् शब्द रूप रस गन्ध या स्पर्श के बारे में जो गृद्ध हो आसक्त हो, मूर्छित हो, जिसे उसकी कांक्षा (इच्छा) अपेक्षा रहती हो, वह भी आर्त ध्यान में ही रक्त है । ऐसी एक भी वस्तु मन में घुसी उतनी ही देर, आर्त ध्यान शुरू ही है । फिर अनिष्ट होगा तो वह मन को कुदेरता रहेगा । जीव को विषयासक्ति कहाँ कम है ? फिर आसक्ति के कारण मन में विषयों के विकल्प, विचार, कल्पनाएं इतने ज्यादा चलते हैं कि उसमें क्षण भर भी कहीं मन स्थिर या तन्मय होने से आर्त ध्यान का रूप पकड़ता है । इसमें कुछ भी मिलने या भोगने का न होने पर भी दिन में ऐसे आर्त ध्यान भी कितने ?

विषयगृद्धि रखना है और आर्त ध्यान नहीं करना ऐसा कैसे हो सकता है ?

१०. चन्द्रम याने शुद्ध धर्म से पराङ्मुख
होता है उसे भी आर्त ध्यान ही है । जीवन में यदि धर्म की स्थापना नहीं है, अथवा वह गौण है, बहुत मामूली तथा वह भी रिवाज के अनुसार अमुक क्रिया ही कर देने के रूप में हो, तो उसके मनमें दूसरा क्या चलेगा ? इधर उधर के फालतू विचार, इसमें किसी इष्ट अनिष्ट के बारे में मन जरा भी स्थिर हुआ कि आर्त ध्यान आ कर खड़ा ही है । शुद्ध धर्म क्षमा मृदुता आदि १० प्रकार के चारित्रधर्म

से पराङ्मुखता याने क्रोध, मानादि में ओतप्रोतता होना; वह भी आर्त्त ध्यान ही हुआ। इसमें विशेषता यह है जीवन में धर्म तो हो, पर वह अशुद्ध, असर्वज्ञ-कथित या हिंसा रागादि पाप से मिश्रित हो तो वहां भी उसके कार्य आत्महितकारी न होकर मनमाने इष्ट के लिए हो जाते हैं और इसीलिए उन पर का ध्यान आर्त्त ध्यान रूप हो जाता है। कैसी दुःखद स्थिति ! धर्म के नाम की प्रवृत्ति में भी आर्त्त ध्यान ? इसीलिए कहा है कि 'धर्म वही है जो दुर्गति में गिरने वाले आत्मा को बचा ले' 'धारयतीति धर्मः'—धारण करे, बचावे वह धर्म।

११. प्रमाद में तत्परः—'मज्जं विसय कसाय्या, निद्रा विगहा य पंच पमाया' इस वचन से शराब आदि व्यसन, शब्दादि विषयों का आकर्षण, क्रोधादि कषाय, निद्रा तथा राजकथा भोजन कथा आदि विकथा ये पांच प्रमाद हैं। इनमें लीन रहने वाले को आर्त्त ध्यान होता ही रहता है। उदा० ऊपर ऊपर से देखने से ऐसा लगता है कि 'हमने यदि भोजन सम्बन्धी कोई बात की तो इसमें आर्त्त ध्यान कैसे ?' परन्तु यह अज्ञानता है। इसके पीछे भोजन के इष्ट अनिष्ट की कल्पना लगी हुई ही है, अतः स्वाभाविक ही वह आर्त्त ध्यान करवाता है।

१२. जिन वचन की लापरवाही रखने वाले को भी आर्त्त ध्यान होता रहता है।

प्रश्न—सद्धर्म पराङ्मुख कहने के बाद यह कहने की क्या जरूरत है ?

उत्तर—इसकी अलग से कहने की जरूरत इसलिए है कि 'सद्धर्म-पराङ्मुख' तो न हो, कम से कम जीवन में सद्धर्म के जिन वचन की श्रद्धा करता हो, इतनी सन्मुखता हो, परन्तु दूसरी ओर अर्थ काम में इतना अधिक फंसा रहता है कि सद्धर्म की साधना

दूर रह जाती है। इससे भी वह आर्त्ति ध्यान में डूब जाता है। जिनमूर्ति भरवाने वाला तथा जिन वचन से आकर्षित होने वाला सागरचन्द्र सेठ व्यापार धन्धे में इतना डूबा रहा कि उसे आर्त्ति ध्यान होता रहा और उससे तिर्य्यच-गति का आयुष्य उपार्जन करके मर कर जितशत्रु राजा के घोड़े के रूप में उत्पन्न हुआ; जिसे त्रिलोकनाथ श्री मुनिसुव्रत स्वामी भगवान ने आकर प्रतिबोध किया। क्षण भर का भी ऐसा आर्त्ति ध्यान जीव को भुलावे में डाल देता है; उदा० भगवान श्री पार्श्वनाथ का जीव मरुभूति के प्रथम भव में जिनवचन का आदर करने वाला और सुन्दर श्रावकधर्म पालन करने वाला था और अन्त में कसूरवार अपने भाई से भी क्षमायाचना करने गया; तब भी उसने उसके मस्तक पर शिला का प्रहार किया इससे वेदना के आर्त्ति ध्यान में मर कर वह मरुभूति श्रावक जंगल में जंगली हाथी के रूप में उत्पन्न हुआ। तो यहां विचारने लायक यही है कि जिन-धर्म मिलने पर भी (१) खान पान, पैसा, परिवार, धन्धा रोजगार में ओतप्रोत रहने से आर्त्ति ध्यान का कितना अधिक ढेर लगेगा? तथा (२) धर्म प्रवृत्ति भी करे तो भी कभी कभी यदि आर्त्ति ध्यान में फंसा और यदि उसी समय आयुष्य बांधे तो वह कैसी दुर्गति में जावेगा? यह तो सद्धर्म की श्रद्धा होने पर भी कम या ज्यादा समय भी सद्धर्म सेवन से पराङ्मुख रहने वाले की बात हुई।

अब जो पहले से ही जिनवचन की अपेक्षा से रहित हो, उसकी बेपरवाही वाला अर्थात् श्रद्धा रहित हो उसका विचार करें तो देखेंगे कि वह तो ठीक ठीक आर्त्ति ध्यान में डूबा रहता है। जिनवचन की परवाह जिसे नहीं है, इससे वह जिनेश्वर-कथित हेय उपादेय त्याज्य आदरणीय तत्त्व को कुछ गिनता नहीं, मानता नहीं। फिर त्याज्य का सेवन करता है, उपरान्त उसे उसका कोई अफसोस भी नहीं रहता। उलटे वह उसी में शाबाशी मानेगा। 'इसका सेवन

तदविरय देसविरय पमायपरसंजयाणुगं भाणं ।

सव्वप्पमायमूलं वज्जेयव्वं जइजणेणं ॥१८॥

अर्थ:—यह आर्त ध्यान अविरति वाले को, देश विरतिधर को और प्रमादनिष्ठ संयमधर को होता है। उसे सर्व प्रमाद का मूल समझ कर साधुजनों के द्वारा उसका त्याग कराना चाहिये।

क्यों न करें ? इसके सेवन में कुछ भी हर्ज नहीं।' ऐसा ऐसा मानेगा तथा बोलेगा। इस तरह वह आदरणीय तत्त्व के बारे में विरुद्ध मानेगा, बोलेगा। इन दोनों के कारण आगे व पीछे ढेरों आर्त ध्यान चलता है उसमें आश्चर्य नहीं।

आर्त ध्यान किसे ?

अब 'आर्त ध्यान के स्वामी कौन' इसका विचार करते हुए कहते हैं—'तदविरय ...'

विवेचन :

आर्त ध्यान अविरतिधर मिथ्यादृष्टि आत्मा को, सम्यग्दृष्टि आत्मा को तथा देशविरतिधर श्रावक को भी होता है और सर्व विरतिधर प्रमत्त मुनि को भी होता है।

अविरति याने प्रतिज्ञापूर्वक हिंसादि पाप से विराम का न होना, या पाप का प्रतिज्ञाबद्ध त्याग न होना। प्रतिज्ञा न हो तथा हिंसादि नहीं करता हो, वह तो केवल पाप की अप्रवृत्ति है, पर विरति नहीं है, पाप विराम नहीं है; क्योंकि दिल में पाप की अपेक्षा बैठी हुई है कि 'मौका आने पर पाप करने की छूट', इसीलिए तो वह प्रतिज्ञा नहीं करता। ऐसी अपेक्षा ही अविरति है। वह अपेक्षा जब तक है, तब तक पाप का आचरण न हो ऐसे वक्त भी इष्टसंयोग अनिष्ट वियोग आदि का आर्त ध्यान होता रहे यह स्वाभाविक है।

ऐसे अविरति वाले आत्मा मिथ्यादृष्टि या सम्यग्दृष्टि दोनों हो सकते हैं। सभी मिथ्यादृष्टि जीव अविरति में ही हैं; क्योंकि विरति तो सम्यक्त्व के बाद की भूमिका है। पहले जिनोक्त सर्व तत्त्व की श्रद्धा चाहिये; उसके बाद ही सच्चा विरति भाव आ सकता है। इसीलिए तो अभवी जैसे जीव जैन चारित्र्यदीक्षा लेने पर भी अविरति में ही हैं, प्रथम मिथ्यात्व गुण स्थानक वाले हैं।

अब सम्यक्त्व प्राप्त अर्थात् सम्यग्दृष्टि जीव दो प्रकार के हैं विरतिधारी तथा विरतिरहित। इसमें जिन्हें थोड़े से पाप त्याग की भी उदा० में त्रस जीव की हिंसा नहीं करूंगा', इत्यादि प्रतिज्ञा नहीं हैं, वह अविरत सम्यग्दृष्टि कहलाता है। 'पाप का त्याग करना चाहिये' ऐसी उन्हें श्रद्धा है, तब भी वह करने की हिम्मत नहीं है; वे अविरति वाले हैं। यह सूचित करता है कि हिंसा, परिग्रह आदि पापों की ओर आकर्षण अभी भी खड़ा है। ऐसी अविरति भी आर्त्त-ध्यान की प्रेरणा दे इसमें क्या आश्चर्य ?

इसी तरह देशविरति अर्थात् जिसने देश से याने अंश से विरति का स्वीकार किया है, उसे भी शेष अविरति बाकी है; इससे आर्त्त ध्यान होता रहता है।

प्रश्न— तो इसका अर्थ यह हुआ कि सर्वांश में (सर्व से याने संपूर्ण) विरति कर ले तो फिर आर्त्त ध्यान नहीं रहे न ?

उत्तर— नहीं। उसमें भी प्रमाद हो तो आर्त्त ध्यान सुलभ है। सर्वविरतिधर भी दो प्रकार की स्थिति में होते हैं।

१. प्रमाद वाले और २. प्रमाद रहित। इसमें राग, द्वेष, निद्रा विकथा, धर्म में उत्साह-रहितता व अज्ञानादि प्रमाद अवस्था में आर्त्त ध्यान होता है, जरा सा भी प्रमाद, आर्त्त ध्यान को सुलभ (सरलता से होने वाला) बना देता है। क्योंकि यह प्रमाद किसी न किसी

इष्टसंयोग के आकर्षण या अनिष्ट वियोग की चिन्ता या वेदना के साथ संकलित होता है, तो फिर आर्त ध्यान क्यों नहीं आवेगा ?

बस, इस हिसाब से प्रमाद रहित याने अप्रमत्त अवस्था हो, तभी आर्त ध्यान से छूटकारा मिलता है। अतः कहा है कि 'अप्रमत्त मुनि जो सातवें और उससे ऊपर के गुणस्थानक पर होता है, उन्हें आर्त ध्यान नहीं होता।' यह देखने से पता चलता है कि आर्तध्यान की कितनी ज्यादा सूक्ष्मता है कि मिथ्यात्व तथा अविरति वाले को तो क्या किन्तु जरा भी प्रमाद वाले को भी यह आर्त ध्यान हो जाते देर नहीं लगती। पूरा संसार छोड़, सर्वविरतिधर मुनि हुए तो भी यह निश्चित नियम नहीं कि आर्त ध्यान नहीं ही आवेगा। अतः इस गाथा में कहा है कि 'आर्तध्यान यह सर्व प्रमाद की जड़ होने से उन्हें उसका त्याग करना चाहिये।' यदि आर्तध्यान रहता है, तो प्रमाद आते देर नहीं। स्वरूप से आर्तध्यान समस्त प्रमाद का कारण है। अतः साधु तथा श्रावक दोनों ने उसमें से दूर रहना आवश्यक है।

प्रश्न — पहले जो यह कहा कि प्रमाद वाले को आर्तध्यान होता है, उसका अर्थ तो यह है कि प्रमाद कारण है और आर्तध्यान उसका का **कार्य** है। तो फिर यहां आर्तध्यान को सर्व प्रमाद की जड़ याने **कारण** कहा, यह कैसे घटित होगा ?

उत्तर— बात बिल्कुल सच है कि अन्तर में (मन के अन्दर) रागादि हों, उससे आर्तध्यान उठता है। परन्तु जीव को मन मिला है, इससे उसे कुछ न कुछ उथल पुथल करने को, सोचने को चाहिये ही। इससे 'किसी इष्ट का संयोग हो', या 'वियोग न हो', या 'हाय वेदना बहुत सता रही है, शान्त हो जाय' ऐसा कुछ न कुछ आर्तध्यान चलता ही रहता है। फिर उसकी चिन्ता या व्याकुलता मन में उठने पर जीव शान्त कैसे रह सकता है ?' इस आर्त ध्यान के जोश व प्रवाह के कारण विषय-कषाय की त्रिविध प्रवृत्ति, वाणी,

विचार बर्ताव के रूप में चलती रहे बिना नहीं रह सकती। इस तरह मद्य आदि व्यसन, निद्रा, निन्दा, विकथा, बेकार बातें आदि भी सुलभ (सरल) होते हैं। पुनः क्रिया के खेद उद्वेग आदि दोषों का भी सेवन होता रहता है। यह सब प्रमाद ही है। उसकी जड़ है आर्त्ति ध्यान। आर्त्तिध्यान से हृदय बिगड़ता है उससे प्रमाद सेवन चलता है।

इस तरह से आर्त्तिध्यान चाहे राग द्वेष या मोह में से उठता है याने वहां रागादि प्रमाद कारण और आर्त्तिध्यान उसका कारण हुआ। परन्तु जब आर्त्तिध्यान बार-बार चलता है तब स्वाभाविक ही है कि इससे वह सब प्रमाद प्रवृत्तियाँ रहेंगी ही। इस तरह यहां आर्त्तिध्यान को सर्व प्रमाद की जड़ कह कर उसे छोड़ने का कहा। आर्त्तिध्यान बन्द करके धर्म-ध्यान चलाने से हृदय पवित्र रहने से प्रमाद सेवन रुक जाता है। इतना आर्त्ति ध्यान के बारे में विचार हुआ।

रौद्र ध्यान

रौद्र ध्यान भी ४ प्रकार का है:— १. हिसानुबन्धी, २ मृषानुबन्धी, ३. स्तेयानुबन्धी और ४. संरक्षणानुबन्धी। श्री उमास्वाति वाचकवर्य ने तत्त्वार्थ महाशास्त्र में (अ० ९ सू० ३६) कहा है 'हिंसा-जुतस्तेय विषय संरक्षणेभ्यो रौद्रम्' अर्थात् हिंसा, जूठ, चोरी और इन्द्रिय विषयों के संरक्षण के लिए रौद्र ध्यान होता है। रौद्र याने भयानक अर्थात् आर्त से ज्यादा उग्र अति क्रूर। इन हिंसादि चार में से किसी भी एक पर चित्त क्रूर चित्तन में उतर जाय तो वहां रौद्र-ध्यान का प्रारम्भ कहा जायगा।

कर्म बन्ध का जजमेंट ध्यान पर

यहां ध्यान में रहे कि इसमें हिंसादि क्रिया का आचरण करने

सत्त्वह वेह बंधणडहणङ्कण मारणाइ पणिहाणं ।

अइ कोहणहधत्थ निग्धिण मणसोऽहमविवागं ॥१६॥

अर्थः—अति क्रोध ग्रह से जकड़े हुए मन का लक्ष्य जीवों को पीटने, विधने, बांधने, जलाने, चिह्न करने, मार डालने इत्यादि पर जाता है, चिपकता है। (यह रौद्रध्यान है।) यह निर्दय हृदय वाले को होता है और अधम (नरकादि प्राप्ति के) फल वाला होता है।

की बात नहीं है। हिंसा कुछ भी नहीं करता हो, मुख से झूठ कुछ भी नहीं बोलता हो, तब भी मन से करने व बोलने के क्रूर उग्र अभिप्राय, चिन्तन या दिल का लगाव रौद्रध्यान है। जैसे आर्त्ति में वैसे ही रौद्र में काया से करने का या वाणी से बोलने का कुछ नहीं होता, पर मात्र मन से उसका दृढ़ चिन्तन करता है, वह आर्त्ति रौद्र ध्यान है। मन तो चौबीसों घण्टे कुछ न कुछ चिंतन करता ही है, फिर वह चिंतन आर्त्तिध्यान या रौद्रध्यान न बन जाय, इसके लिए कितना ज्यादा ख्याल रखना पड़े? ध्यान को कर्म बन्ध के साथ सीधा सम्बन्ध है। कर्म कैसे बांधे जावेंगे, उसका जजमेन्ट मन में तात्कालिक चलने वाले भाव या ध्यान के प्रकार पर पड़ता है। आर्त्तिध्यान से तिर्य्यगति के कर्मों का बन्ध होता है और रौद्रध्यान से नरकगति के कर्मों का बन्ध होता है। वे भी तुरन्त ही बांधे जाते हैं; इसमें उधार नहीं। जिस समय जैसा ध्यान, उसी समय वैसे कर्मों का बन्ध हो जावेगा। इसीलिए जीवन का सबसे बड़ा काम यह, कि मन में होने वाले खराब ध्यान को रोक कर शुभ ध्यान को चालू रखने की बड़ी सावधानी रखना आवश्यक है।

१. हिंसानुबन्धी रौद्र ध्यान

यहां अब पहला हिंसानुबन्धी रौद्र ध्यान समझाते हुए कहते हैं:-

विवेचन :

अति क्रोध में आकर निर्दय हृदय से हिंसा का एकाग्र चिंतन किया जाय, वह हिंसानुबन्धी रौद्रध्यान है। हिंसा अनेक प्रकार से सोची जाती है। उदा० एकेन्द्रिय से पंचेन्द्रिय तक के किसी भी जीव के प्रति क्रोधान्ध बन कर यह सोचे कि, 'मैं इस हरामी को थप्पड़ धूँसे लगाकर सीधा कर दूँ।' 'चाबुक लगा दूँ।' 'लातें मार कर सीधा कर डालूँ।' 'अथवा नाक कान बीन्ध दूँ।' 'रस्सी या बेड़ी से जकड़ लूँ।' 'अग्नि से जला दूँ, लाल जलता हुई सलाइयों से दाग लगा दूँ।' 'कुत्ते या सियार के पैरों के नाखून से चिरवा दूँ, नोंच डालूँ, तलवार के झटके से या भाला चुभाकर या खजर भौंककर जान से मार डालूँ अथवा खूब पीड़ा दूँ। चीर डालूँ, कुचल डालूँ, चटनी कर दूँ' आदि आदि जीव को पीड़ा देने वालो वस्तु पर मन को केन्द्रित करे। यह पहले प्रकार का रौद्रध्यान है।

भारी क्रोध किसी ग्रह या भूत की तरह लगा हुआ हो, और दिल से दया तो बिलकुल ही खतम हो गई हो, अपना स्वार्थ बिगड़ता हो, स्वमान को हानि हुई हो, अथवा शत्रुता हो, वहां ऐसा होता है। सेठ को नौकर पर, माता पिता को पुत्र पर, पड़ौसी को पड़ौसी के प्रति इत्यादि में ऐसा होता है। देश परदेश के कुछ समाचार जान कर, कोर्ट के गुनहगार को छोड़ देने का सुनने पर इत्यादि कई प्रसंगों पर चिन्ता वाले का मन रौद्रध्यान तक पहुँच जाता है। जैसा क्रोध के आवेश में वैसा ही अभिमान में चढ़कर भी वैसा ही होता है। उदा० रावण ने अभिमान से चक्र छोड़कर लक्ष्मण का मला काटने का सोचा। माया या लोभ के आवेश में भी वैसा हो सकता है। कोणिक ने राज्य के लोभ में सगे बाप श्रेणिक को कैद में डलवाकर चाबुक लगवाने पर मन को केन्द्रित किया।

पिसुणासम्भासम्भूयभूयघायाइ वयणपणिहाणं ।

मायाविणोऽइसंघणपरस्स पच्छन्नपावस्स ॥२०॥

अर्थ:—चुगली खाना, अनिष्ट सूचक वचन, गाली इत्यादि असभ्य वचन, असत्य वचन, जीव घात का आदेश आदि का प्रणिधान (एकाग्र मानसिक चिंतन) रौद्रध्यान है। यह कपटी, ठगाई करने वाले या गुप्त पापी को होता है ॥२०॥

ध्यान में खूबी तो यह है कि स्वयं हिंसा आदि कर भो न सके, तब भी हिंसा आदि करने (की इच्छा) में चित्त दृढ़तापूर्वक लग गया, तो वह रौद्र ध्यान हुआ। तो जीवन में ऐसा दृढ़ चित्त होने में कितनी देर लगती है ?

रौद्रध्यान से नरक

इस रौद्रध्यान का परिणाम बहुत हलका (खराब) आता है। नरक आदि दुर्गति के दुःखों से पीड़ित होना पड़ता है। जीवन अच्छा धर्ममय चलता हो, पर कभी रौद्र ध्यान आया और कदाचित् उसी समय आयुष्य का बन्ध हुआ तो वह नरक का ही बंधेगा और एक बार तो नरक में जाना ही पड़ेगा। प्रसन्नचन्द्र राजर्षि महासंयमी तपस्वी होते हुए भी मन ही मन लड़ाई तथा हिंसा के ध्यान में चढ़े और उसी समय श्रेणिक ने महावीर भगवान को उनकी गति पूछी तो प्रभु ने कहा: 'अभी मरे तो सातवीं नरक में जाय।' जीवन में बहुत हाय हो, लोभ लालच भरा हो या अहंकार में खिंचा जाता हो, तो रौद्र ध्यान सुलभ होता है। इतनी रौद्रध्यान के पहले प्रकार की बात हुई।

२. दूसरा प्रकार : मृषानुबन्धी रौद्रध्यान

अब दूसरे प्रकार के मृषानुबन्धी रौद्रध्यान का वर्णन करते हैं:—

विवेचन :

मृषानुबन्धी रौद्रध्यान उस प्रकार के दुष्ट वचन बोलने के उग्र चिंतन से होता है। दूसरे की चुगली खाने का सोचे, अपने आपको दूसरे नापसंद बात किसी के सामने नमक मिर्च लगा कर कह देने की निश्चित उग्र व क्रूर इच्छा (धारण) करे तो वह रौद्र-ध्यान होता है। वैसे ही तिरस्कार वचन, गाली, अपशब्द या अधम असभ्य शब्द सुना देने का सोचे अथवा असत्य बोलने का सोचे तो यह भी रौद्रध्यान है।

असत्य वचन के तीन प्रकार:—१. अभूतोद्भावन, २. भूत निन्हव और (३) अर्थान्तर कथन। (१) अभूतोद्भावन याने न हो वंसी वस्तु कहना। उदा० आत्मा विश्वव्यापी नहीं है तब भी कहना कि 'वह विश्व व्यापी है।' स्वयं श्रीमन्त या विद्वान हो तो भी कहे, 'मैं श्रीमन्त हूं विद्वान हूँ।' (२) 'भूत निन्हव' याने जो वस्तु हो उसका निषेध करे या उसे गलत बतावे। उदा० यह कहे कि 'आत्मा जैसी वस्तु ही नहीं है।' पैसेदार हो तब भी कहे 'मेरे पास पैसे नहीं हैं।' (३) 'अर्थान्तर कथन' याने एक पदार्थ को दूसरा ही पदार्थ कहना। उदा० बेल को घोड़ा कहे, असाधु को साधु कहे....इत्यादि।

इसी तरह 'भूतोपधाती' वचन याने ऐसा बोले कि जिसके पीछे पीड़ा, वेदना या हिंसा हो। उदा० कहे 'काट दे, चीर डाल, सेक कर गरम कर दे, मार....' इत्यादि। अलबत्ता इन वचनों में कोई प्रत्येक्ष असत्य नहीं दिखता, पर उसमें परिणाम जीव घात का है, अतः यह वस्तुगत्या मृषा ही है।

उपरोक्त वचनों में प्रकारांतर से अनेक वचन आते हैं। उदा० 'पिशुन' के रूप में कई प्रकार के अनिष्ट सूचक वचन होते हैं; जैसे

कि कोई व्यक्ति अपने उत्तम या अच्छे कार्य के लिए बाहर जा रहा हो उसे अपशकुन करने वाला वचन कहे जैसे 'कुछ होने का नहीं है । इसमें तो उल्टा हो जावेगा....' इत्यादि ।

असत् तरंग से रौद्रध्यान

अब रौद्रध्यान की बात ऐसी है कि ऐसे शब्द चाहे बोलता न हो, पर उस समय भी वैसा बोलने का निष्ठुरता से दृढतापूर्वक चिंतन करता हो तो वह रौद्रध्यान होता है । मनुष्य हलके ढंग से सोचते हुए या मन तरंगों में झूठ के किसी एक या दूसरे प्रकार के वचनों का चिंतन करता रहता है । वहां वह रौद्रध्यान में क्यों नहीं चढ़ जावेगा ? कोर्ट में गवाही देना हो तब सचमुच में तो पता नहीं क्या पूछा जायेगा; परन्तु मूढ़ मनुष्य पहले से विचारों में चढ़ता है कि, 'कोर्ट में यह पूछा जायगा, वह पूछा जायगा.... तो मुझे जो आता है ऐसे असत्य उत्तर दे दूंगा ।' चाहे फिर वैसा बोलने का उसे कोई मौका ही न मिले । तब भी ऐसे निष्ठुर चिंतन में रौद्रध्यान आते क्या देर लगेगी ? वैसे पुत्र या नौकर आदि सचमुच में कसूर में न हो, तब भी पिता या सेठ उसका कसूर समझ कर भयंकर गुस्से में सोचे; 'हरामखोर को आने तो दो, ऐसे भारी तिरस्कार के वचन सुनाकर उसे सीधा कर दूंगा ।' परन्तु बाद में जब वह आकर स्पष्टता करे तो क्रोध उतर जाता है । तब भी पहले जो चिंतन किया वह तो रौद्रध्यान की कक्षा का भी हो चुका हो ।

यह रौद्रध्यान किस किस तरह आता है ?

कपटी जीव उदा० व्यापारी आदि, जिसे दूसरों के पास से येनकेन प्रकार से स्वार्थ साधन करना हो तो उसे किसी तरह फंसाने के लिए संकल्प करता (सोचता) है । मैं उसे यह कहूंगा, असत्य को सत्य के रूप में उसके गले उतार दूंगा ।...' ऐसे असत्य भाषण,

हिंसा प्रेरक वचन या पापोपदेश पर मन केन्द्रित होने पर उस कपटी को रौद्रध्यान सरल हो जाता है ।

ऐसे ही दूसरे को ठगने में तत्पर हो, जैसे एक भाई दूसरे भाई को हिस्सा बांटने में ठगना चाहता हो, व्यापार में दुकानदार अपने दूसरे भागीदार (हिस्से वाले) को ठगना चाहता हो, या दलाल या नौकर किसी सौदे में कमीशन खाकर सेठ को ठगने की इच्छा रखता हो अथवा कोई कबाड़ेबाज किसी भोले व्यक्ति को किसी भी प्रवृत्ति में स्वार्थ से या विरोध या शत्रुता के कारण ठगना चाहता हो, वहां वह उसके लिए उस प्रकार के (कपटपूर्ण) मायामृषा के वचन मन में घड़ता रहे । इस प्रकार की मनगढ़न्त से रौद्रध्यान होता है ।

वैसे ही, प्रच्छन्न पापी याने गुप्त रूप से पाप करने वाला या छिपे छिपे प्रपंच करने वाला भी बाहर अपने आपको अच्छा, निर्दोष तथा निष्पाप बताने के लिए मन में घड़ता रहे कि 'जरूरत पड़ने पर मेरी निर्दोषता या अच्छापन बताने के लिए इस इस तरह बात करूंगा ।...' इस प्रकार की चिकनी मनगढ़न्त से रौद्रध्यान होता है अथवा प्रच्छन्न पापी याने मिथ्याधर्मी ब्राह्मण आदि स्वयं गुण हीन होने पर भी स्वयं को गुणवान के रूप में बताये, इसके लिए गप्प लगाने का उसका मानसिक दृढ प्रणिधान भी रौद्रध्यान रूप बनता है । गुणहीन अपने आपको गुणवान के रूप में पहचान करवाये, उससे ज्यादा फिर गुप्त पापी कौन होगा ? खुले रूप से पाप करने वाला तो स्वयं दोषी होने को छिपाता नहीं है । पर यह तो अन्दर खाली या पोला होने पर भी बाहर ढोल बजाता है । इसीलिए वह प्रच्छन्न पापी है । पुनः पाप छिपकर करता है । इसका परिणाम यह होगा कि स्वयं गुणहीन होते हुए भी दूसरे के आगे गुणवान दिखने तथा अपना कृत्रिम बड़प्पन टिकाने के लिए वह बाहर अमुक प्रकार

तह तिव्वकोहलोहा उल्लस्स भूओवधायणमणज्जं ।

परदव्वहरणचित्तं परलोयावायनिरवेवक्क ॥२१॥

अर्थ:—जैसा दृढ चिन्तन दूसरे प्रकार में, वैसा तीसरे प्रकार में होता है और जीव हिंसा करने तक का पर द्रव्य चुराने का अनर्थ दृढ चिन्तन रौद्रध्यान है। वह तीव्र क्रोध तथा लोभ से व्याकुल और परलोक के अनर्थ की परवाह बिना के जीव को होता है।

की बात कहेगा। उसके मन में चलते हुए निष्ठुरता भरे दृढ विचार रौद्रध्यान के कहे जा सकते हैं। यह दूसरा प्रकार हुआ।

३. तीसरा प्रकार : स्तेयानुबन्धी रौद्रध्यान

अब तीसरे प्रकार के स्तेयानुबन्धी रौद्रध्यान का वर्णन करते हैं:—

विवेचन :

तीसरे प्रकार का रौद्रध्यान चोरी के क्रूर चिन्तन में से उत्पन्न होता है। 'दूसरे के पैसे, दूसरे का माल, दूसरे की पत्नी पुत्रादि, दूसरे की जायदाद, साधना, सम्पत्ति आदि कैसे उठालूँ, किस तरह से हड़प कर लूँ....' ऐसे क्रूर चिन्तन में तन्मय हो, वहाँ यह रौद्रध्यान हुआ। उसके उपायों का विचार, दांव पेच लगाने का विचार करना, सामने वाले की नजर बचाने, आंखों में धूल डालने आदि की तन्मय विचारधारा में चढता है। जंगल के डाकू और शहर के चोर तो यह रौद्रध्यान करें ही, पर साहूकार गिने जाने वाले भी जब कौटुम्बिक सगे सम्बन्धी का या दुकान के भागीदार या ग्राहक, व्यापारी या सेठ का कुछ उठा लेने के क्रूर चिन्तन में चढ जायें तो वे भी रौद्रध्यान वाले बनते हैं।

रौद्रध्यान क्रोध या लोभ से:—यह रौद्रध्यान आने का कारण तीव्र क्रोध या लोभ है। जीव जब किसी पर भी उग्र क्रोध से व्याकुल हो जाता है और उससे तीव्र शत्रुता या विरोध खड़ा होता है, तब उसकी खुजली उतारने, उसे बता देने के लिए उसका कुछ चुराने (उठा लेने) के क्रूर चिंतन में चढता है। तीव्र लोभ से ग्रस्त जीव अपने इच्छित किसी पदार्थ को प्राप्त करने के लिए चोरी, लूट या उठाइगिरि करने के क्रूर चिंतन में चढता है। इस तीव्र लोभी या क्रोधी का इच्छित सफल होगा या नहीं, यह निश्चित नहीं है। अरे ! वह चोरी का प्रयत्न भा कर सकेगा या नहीं, यह भी अनिश्चित है। तब भी अन्धा बनकर अभी जो क्रूर चिंतन करता है वह तो रौद्रध्यान के रूप में उसकी ललाट पर चिपक ही जाता है। तीव्र क्रोध या लोभ की व्याकुलता ही ऐसी है कि उसे ऐसा अन्धा बना दे

जिसे ऐसे अन्धेपन के योग से जीवन में आते हुए भयंकर फल का विचार ही नहीं, यहाँ चोरी करते पकड़े जाने पर कैसी सजा होगी, बेइज्जती होगी आदि का जिसे डर न हो या विचार नहीं, उसे वह न हो तो भी परलोक में इस घोर पाप से उत्पन्न भयंकर अशुभ कर्म के अति कटु विपाक से नरकागमनादि के कैसे भयंकर दुःख भोगने पड़ेंगे, उसकी तो परवाह ही कैसे हो ? परलोक के अनर्थों से तो वह लापरवाह है ही।

इसीलिए चोरी के उग्र चिंतन में कदाचित् उसे लगे कि उसे कोई रोकने या पकड़ने आवेगा तो उसे मारने तक का निर्णय करता है। दृढ प्रहारी ऐसे ही क्रूर ध्यान से चोरी करने घुसा, तो बीच में आये हुए गाय आदि को उसने मार डाला। इसीलिए ऐसा क्रूर चिंतन अनार्य कोटि का है। आर्य अर्थात् सर्व त्याज्य धर्म (बात या पदार्थ) जैसे शिकार, जुआ चोरी आदि से बाहर निकला

सदाश्विसयसाहण धन सारक्खण परायणमणिट्ठं ।

सव्वाभिसंक्रण परोवधायकलुसाउलं चित्तं ॥२२॥

अर्थ:— शब्दादि विषयों के साधन समान पैसों के संरक्षण में तत्पर और सर्व को शंका तथा अन्य (उसको ताकने वाले) के घात की कलुषित बुद्धि से व्याकुल चित्त चित्तन चौथा संरक्षणानुबन्धी रौद्रध्यान है ।

हुआ । तो उसमें पड़ा हुआ अनार्य । उसके ये खराब क्रत्य भी अनार्य कहे जावेंगे और उनका क्रूर चित्तन भी वैसा ही कहा जावेगा । अतः यहां इस रौद्रध्यान को अनार्य कहा । यह तीसरा प्रकार हुआ ।

४. चौथा प्रकार : संरक्षणानुबन्धी रौद्रध्यान

अब रौद्रध्यान के चौथे प्रकार का वर्णन करते हैं:—

विवेचन :

संरक्षणानुबन्धी रौद्रध्यान उसका चौथा भेद है । इसमें धन संरक्षण में मशगूल होकर उसका उग्र चित्तन होता है । जीव को अच्छे अच्छे शब्द रूप रस आदि विषयों की प्राप्ति तथा भोग बहुत पसंद हैं । इससे उसके साधन रूप धन की प्राप्ति व रक्षा में वह तत्पर रहता है । इसके लिए वह 'कैसे मिले, कैसे रक्षा हो' उसके खूब चित्तन में वह चढता है । इसमें विशिष्टता यह है कि उसकी प्राप्ति का चित्तन आर्त्तध्यान है और रक्षा का चित्तन रौद्रध्यान होता है । कारण यह है कि प्राप्त करने से रक्षा करने की बुद्धि में ज्यादा क्रूरता आती है । अलबत्ता प्राप्त करने की लेश्या में भी कोई झूठ, चोरी तथा जीव घात की क्रूर विचारधारा हो, तो वह भी रौद्रध्यान बन जाता है । परन्तु उसके संरक्षण के चित्तन में 'मिला हुआ कैसे टिके', उसका सामान्य हो तो वह भी आर्त्तध्यान हो जाता है ।

तब भी रक्षण की लेश्या जोरदार हो, तब उसका चितन उग्र व क्रूर हो जाने से रौद्रध्यान रूप बन जाता है ।

धन की रक्षा के चितन में उग्रता इसलिए आती है कि उस धन को किसी भी तरह करके रक्षा करने की तीव्र इच्छा है। इससे वह दूसरों के बारे में यह शंका करता है कि 'वह ले तो नहीं जावेगा ?' पुनः इस भय के बढ़ने पर इस धन के निमित्त से आवश्यकता होने पर जीवहिंसा तक की क्रूर लेश्या होती है कि 'सब को मार डालना अच्छा है ।' भिखारी को उसके फूटे बर्तन में मिले हुए झूठे-एँठे माल पर भी अति ममतावश उसके संरक्षण की चिंता में उसे ऐसा होता है कि 'यह मैं किसी भी भिखारी को नहीं बताऊँगा, कहीं अकेले कोने में जाकर थोड़ा थोड़ा खाऊँ जिससे जल्दी खतम न हो । इसमें यह भी सम्भव है कि वहाँ ही दूसरे भिखारी भी मांगने आवें ! तो उन्हें जरा भी नहीं दूँ । कदाचित् कोई इसे खींच लेना चाहे, तो मैं उसे क्यों देने लगा ? उनके बाप का माल है ? लेने तो आवें ? उनका सिर ही तोड़ डालूँ ।' यह संरक्षणानुबन्धी रौद्रध्यान है । तो बड़े लोभी राजा की भी क्या दशा है ? वह भी अपना राज्य टिकाने के लिए मौके बे मौके ऐसे विकल्प करने लगता है । कल्पना में किसी अन्य राजा के आक्रमण का, उसकी सेना के साथ के मुकाबले का तथा उसका निकन्दन निकालने का सोचकर अपने राज्य के संरक्षण करने के रौद्रध्यान में चढता है ।

यह रौद्रध्यान सज्जनों के लिए इष्ट नहीं है, क्योंकि इसमें एक तो नाशवान परिग्रह की अति ममता से परमात्मा आदि का शुभ ध्यान चूकते हैं । दूसरे अच्छे मनुष्यों के लिए भी यह शंका रहती है कि 'वह ले तो नहीं जावेगा ? किसे पता वह क्या करेगा ?' आदि फिर इनमें आगे बढ़ने पर उग्र क्रोध हिंसा आदि के पाप

इयकरणकारणाणु मइविसय मणुचितगं चउब्भेयं ।

अविरय- देसासंजय जणमणसंसेवियमहाणं ॥२३॥

अर्थ:—इस प्रकार स्वयं करने, दूसरे के पास से करवाने तथा करने वाले का अनुमोदन करने सम्बन्धी पर्यालोचन चारों प्रकार के रौद्रध्यान में होता है। (उसके स्वामी कौन हैं ?) अविरति मिथ्या-दृष्टि, सम्यग्दृष्टि और देशविरति श्रावकों तक के जीवों के मन से इसका सेवन हो सकता है और वह अहितकर निन्द्य पाप है।

विचार सरल-मुलभ बन जाते हैं; चित्त पापिष्ठ अध्यावसायों से व्याकुल रहता है।

यहां प्रारम्भ में 'शब्दादि विषयों के साधन रूप' ऐसा धन का विशेषण रखा है। यह सूचित करता है कि केवल ऐसे विषयों की प्राप्ति तथा भाग के उद्देश्य से धन का संरक्षण करने का ध्यान रौद्र-ध्यान तक पहुँच जाता है। परन्तु देवद्रव्य की संपत्ति या जायदाद की रक्षा का चिंतन दुर्ध्यान नहीं होगा। देवद्रव्य की रक्षा की बुद्धि तो धर्म बुद्धि है।

**रौद्रध्यान किसे होता है तथा ध्यान की कौन सी
कक्षा में आता है**

अब चारों प्रकार के रौद्रध्यान की विशेषता बताते हुए उप-संहार करते हैं:—

विवेचन :

हिंसा, मृषा, चोरी तथा संरक्षण सम्बन्धी क्रूर चिंतन हिंसादि स्वयं करने से ही होगा, ऐसा नहीं है; किन्तु हिंसादि दूसरों के पास करवाने सम्बन्धी भी उग्र चिंतन हो सकता है; तथा दूसरे ये हिंसादि

करते ही उसकी अनुमोदना का भी क्रूर चिंतन हो सकता है। इस तरह हरेक प्रकार में ३-३ तरह से रौद्रध्यान होता है। उदा०

हिंसादि कराने सम्बन्धी रौद्रध्यान

दूसरे के पास किसी को पिटवाने, बंधवाने, बिधवाने, जलवाने, दाग लगवाने तथा मार डालने आदि का क्रूर चिंतन होता है। अथवा असम्य चुगली झूठ बोलने या हिंसा का उपदेश करवाने का भी चिंतन हो सकता है, अथवा किसी के पास चोरी, लूट आदि करवाने का भी क्रूर चिंतन हो सकता है, अथवा दूसरे के पास विषय सुख के साधन स्वरूप धन माल का संरक्षण करवाने के बारे में वैसा चिंतन हो सकता है; जैसे कि 'मैं अमुक के पास हिंसा आदि करवाऊं.....'

अनुमोदन से कैसे रौद्रध्यान

इस तरह स्वयं करने या दूसरे के पास करवाने का ही नहीं, किन्तु कोई ऐसी हिंसा झूठ आदि का आचरण करता हो उसकी अनुमोदना करने का भी क्रूर चिंतन हो सकता है। जैसे मन में ऐसा क्रूर भाव उत्पन्न हो कि 'उसने उसको मारा या पीटा यह अच्छा हुआ ! वह उसके लायक था।' लड़ाई (युद्ध) के जमाने में लोगों ने ऐसा चिंतन बहुत किया। जापान या जर्मनी वालों ने अंग्रेजों का निकन्दन निकाला। यह जानकर खुश होकर उसकी अनुमोदना के क्रूर चिंतन किये। ऐसा ही हुल्लड़ (साम्प्रदायिक दंगे) में होता है। इसमें किसी की कतल हुई जानकर खुशी का चिंतन होता है। अथवा हिंसामय नील आदि की अच्छी कमाई के धन्वे पर ऐसा चिंतन होता है। अरे ! स्वयं को जिस पर अरुचि है वह किसी से लूटा जाय या पीटा जाय या किसी दुर्घटना द्वारा उसे हानि या मृत्यु हो तो उस पर खुश होने का क्रूर चिंतन होता है। यह सब रौद्रध्यान है।

इसी तरह कोई झूठ बोला, किसी ने गाली दी, चुगली खाई, भयंकर गवाही दी, वह पसंद आने पर अनुमोदना का क्रूर चिंतन होता है। ऐसे किसी के किये हुए चोरी, लूट, उठाइगिरी के बारे में खुशी का चिंतन हो; अथवा चतुराई से, चालाकी से दूसरे को मार डालने तक की तैयारी से धन के संरक्षण करने की अनुमोदना का चिंतन हो। उदा० सेफ डिपोजिट वोल्ट में चालू बिजली के पाँवर सहित धन रक्षा होती है कि जिसमें कोई लेने घुसे तो बिजली के करेन्ट से चिपक कर मर जाय, तो ऐसी धन रक्षा पर खुशी का चिंतन हो जैसे 'वाह ! यह अच्छा संरक्षण है ! चोरी करने आने वाला हरामी खतम ही हो जाय ! इत्यादि चिंतन क्रूर होने से रौद्र-ध्यान होता रहता है।

आज के भौतिकता, धनप्रीति, विजयासक्ति, मशीनरी, अख-बार आदि के युग में अपने जीवन को चारों ओर से जाँचें तो पता चलेगा कि कभा कभी हिंसा, झूठ, चोरी, संरक्षण स्वयं करने के बारे में क्रूर चिंतन चाहे नहीं किया हो, पर करवाने या अनुमोदना करने के बारे में क्रूर चिंतन आ जाता है या नहीं ? यदि ऐसा चिंतन हो तो वह रौद्रध्यान के घर का चिंतन होगा।

रौद्रध्यान के स्वामी कौन ? अर्थात् कौन से गुण स्थानक तक के जीवों को रौद्रध्यान आ सकता है ? वह कहते हैं:—

मिथ्यादृष्टि जीवों को तो विचारों को सच्चे तत्त्व का पता ही नहीं, श्रद्धा ही नहीं अतः वे रौद्रध्यान में फंस जाय, परन्तु अविरति याने व्रत रहित सम्यग्दृष्टि तथा व्रतधारी देवविरति श्रावक भी मीके पर फंस जाते हैं। सर्व विरतिधर मुनि को रौद्र-ध्यान नहीं होता; क्योंकि वह हिंसादि पापों से मन वचन काया से प्रतिज्ञाबद्ध होकर सर्वथा विरमित है; अतः वह कदाचित् प्रमाद के कारण आर्त्तध्यान में चढ़ जाय पर रौद्र में नहीं। अन्यथा तो रौद्र-

ध्यान चितन के चितन में उग्र कषाय होने से मंद कषाय का यह सर्वविरति गुणस्थानक ही गुमा देगा । साधु वेश पड़ा रहे, वह इस गुणस्थानक से नीचे उतर जावेगा । प्रसन्नचन्द्र राजर्षि रौद्रध्यान के अति क्रूर चितन मात्र में चढ़े तो उतरे मिथ्यात्व गुणस्थानक तक और वहां सातवीं नरक तक को पाप एकत्रित किये । अतः मुनि को रौद्रध्यान नहीं होता । बाकी देशविरति श्रावक तक वह कभी कभी आ सकता है ।

प्रश्न— श्रावक को त्रस की दया अहिंसा का तो व्रत है, फिर वह उन जीवों के घात का चितन क्यों करे ? कैसे करे ?

उत्तर— उसे निरपराधी त्रस जीवों का निरपेक्ष हिंसा नहीं करने का व्रत है; किन्तु अपराधी त्रस जीव की अहिंसा का व्रत कहाँ है ? वहाँ सम्भव है कि ऐसी हिंसा के क्रूर चितन में चढ़ जाय तब रौद्रध्यान होता है ।

प्रश्न— तो उस समय सम्यक्त्व रहेगा ? यदि न रहे तो वह तुरन्त उस गुणस्थानक से नीचे गिरता है । फिर उस गुणस्थानक पर रौद्रध्यान कहाँ रहा ?

उत्तर— ऐसा नहीं है । सम्यक्त्व रह सकता है क्योंकि सम्यक्त्व में सर्वज्ञोक्त हेय उपादेय पदार्थों की मात्र यथार्थ श्रद्धा ही है, पर हेय का त्याग नहीं है । अतः कर्मवश हेय का सेवन करता है । तब भी हेय गलत है, ऐसी श्रद्धा परिणति मन के भीतर हो सकती है । 'मारने में दोष नहीं', यह बुद्धि मिथ्यात्वमोहनीय कर्म करवाता है । 'उसे मारूँ'; ऐसी बुद्धि चारित्र्यमोहनीय करवाता है । इससे मिथ्यात्व जाकर समकित आया हो तब भी चारित्र्यमोहनीय कर्म मारने की बुद्धि करवाये ऐसा होता है । इसलिए कहा कि 'देशविरति तक के जीवों का मन रौद्रध्यान भी अपना सकता है ।' यहाँ 'मन' शब्द

एयं चउच्चिहं राग-दोस मोहाउलस्स जीवस्स ।

रोदञ्झाणं संसारवद्धणं नरयगइमूले ॥२४॥

अर्थ:—यह चार प्रकार का रौद्रध्यान राग द्वेष और मोह से व्याकुल जीव को होता है । यह संसार की वृद्धि करवाने वाला और नरकगति की जड़ है ।

रखा, वह ध्यान की विचारधारा में मन प्रधान अंग है यह सूचित करने के लिए ही रखा है ।

यों चाहे देशविरति तक के जीवों को चाहे रौद्रध्यान आता हो परन्तु इससे उनका यह ध्यान प्रशंसनीय नहीं हो जाता । वह तो निन्द्य है, अकल्याण करने वाला है । वह जरा ज्यादा टिका या ज्यादा उग्र बना तो सम्भव है कि हृदय में अनन्तानुबन्धी कषाय उठे और जीव को नीचे मिथ्यात्व तक घसीट जाय ।

रौद्रध्यान का फल और लेश्या

अब यह आर्त्तध्यान किस बल पर होता है और उससे भी ज्यादा क्या है तथा कौन सी गति होती है यह बताते हैं:—

विवेचन :

जो जीव राग से या द्वेष से या मोह मूढता या मिथ्याज्ञान से विशेष आकुल व्याकुल हो, उसे इन चारों में से किसी भी प्रकार का रौद्रध्यान हो जाता है । जगे ही ऐसा नियम नहीं, परन्तु बहुत राग द्वेष मोह की पीड़ा खड़ी हुई तो रौद्रध्यान को जगाने की सुविधा हो जाती है । मम्मण को धन के अति राग की पीड़ा थी । अग्निशर्मा को बाद को भवों में समरादित्य के जीव के प्रति बहुत द्वेष की पीड़ा थी और सुभूम चक्रवर्ती बहुत मूढ बना, तो इन सब

को रौद्रध्यान हुआ। अतः चित्त यदि बहुत राग द्वेष या मोह से वासित हो जाय, धिर जाय तो फिर उस विषय के हिंसा, झूठ, चोरी, संरक्षण के क्रूर चिंतन में ही मन के तन्यम होने की सम्भावना है और इससे रौद्रध्यान आ खड़ा होता है। अतः उससे बचना हो तो इस तीव्र राग, द्वेष, मोह को रोके रखना चाहिये।

सानुबन्ध कर्म से संसार वृद्धि

यह अच्छी तरह सोच समझ लेना चाहिये क रौद्रध्यान सामान्यतः संसार की वृद्धि करने वाला है और खास तौर से नरक-गति के पापों का सर्जन करने वाला है। संसार वृद्धि अर्थात् भवों की परम्परा। यह सानुबन्ध पाप कर्म के योग से होती है। 'सानुबन्ध कर्म' याने क्या ? यहां खुशी से जो दुष्कृत्य किये जाते हैं, उससे जो अशुभ कर्म खड़े होते हैं वे ऐसे होते हैं कि आगे के भव में उनका उदय होने पर नई पाप बुद्धि उत्पन्न होकर नये दुष्कृत्य किये जायें, नये अशुभ कर्म बांधे जायें, तो वे पूर्व के कर्म अनुबन्ध (परम्परा) वाले याने सानुबन्ध कर्म कहे जाते हैं। ऐसे कर्म दुःख तो देते ही हैं, पर साथ में पापबुद्धि, नये पाप और उससे भवों की परम्परा का सजन करे वे सानुबन्ध कर्म। ऐसे सानुबन्ध कर्म चित्त के तीव्र संक्लेश वाले भावों से बांधे जाते हैं। रौद्रध्यान में तीव्र संक्लेश ही होता है, इससे उनसे बांधे जाने वाले सानुबन्ध कर्म द्वारा भव परम्परा का सर्जन होना, संसार की वृद्धि होना यह स्वाभाविक है।

विशेष रूप से रौद्रध्यान नरकगति की जड़ है। जड़ है तो वृक्ष सलामत है। रौद्रध्यान पर नरकगति में वेदना देने वाले कर्मों का पेड़ उगता है। व्यक्त उत्कृष्ट दुःखों वाली गति नरकगति है तथा व्यक्त उत्कृष्ट अशुभ ध्यान रौद्रध्यान। इन दोनों का कार्य कारण भाव है। उत्कृष्ट अशुभ ध्यान से उत्कृष्ट अशुभ गति, अतः रौद्रध्यान से नरकगति।

काबोय-नील-काला लेस्साओ तिव्वसंक्रिलिङ्गाओ ।

रोद्रभाणोवगयस्स कम्मपरिणामजणियाओ ॥२५॥

अर्थ:—रौद्रध्यान में चढ़े हुए को तीव्र संक्लेशवाली कापोत, नील व कृष्ण लेश्याएँ होती हैं और वे कर्म परिणाम से उत्पन्न होने वाली हैं ।

प्रश्न—यों तो अविरत सम्यक्त्व में तथा देशविरति में भी कभी कभी रौद्रध्यान आ जाने का कहा, तो उन्हें नरकगति का बन्ध क्यों नहीं ?

उत्तर—इसका कारण है, साथ में रहे हुए सम्यक्त्व का प्रतिबंधक होना । वह नरकगति का रोकने वाला है । परन्तु ऐसा रौद्रध्यान उठे तब हम अपने आप में सम्यक्त्व के टिकने का विश्वास कैसे रख सकते हैं ? अतः संसार वृद्धि तथा नरकगति से बचने के लिए सदा रौद्रध्यान से बचना चाहिये ।

रौद्रध्यान में लेश्या

अब रौद्रध्यान वाले को कौन सी लेश्या होती है, वह कहते हैं:—

विवेचन :

रौद्रध्यान के समय जीव को कापोत लेश्या, नील लेश्या और कृष्ण लेश्या होती है । यों तो आर्त्तध्यान के वक्त भी ये लेश्याएँ होती हैं, परन्तु इसमें वे उससे ज्यादा तीव्र संक्लेश वाली होती हैं । लेश्या कर्मजन्य पुद्गल परिणाम है, वैसे वर्ण के पुद्गल हैं और उनके सम्बन्ध से जीव को वैसा भाव जागता है । रौद्रध्यान में रागादि तीव्र संक्लेश के कारण लेश्या के भाव भी अति संक्लेश वाले होते हैं । श्रेणिक कृष्ण में क्षायिक सम्यक्त्व था, तब भी अन्त

लिंगाईं तस्स उस्सण्ण-बहुल नाणाविहाऽऽमरणदोसा ।

तेसि-चिय हिंसाइसु बाहिरकरणोवउत्तस्स ॥२६॥

अर्थ:— रौद्रध्यानी के लिंग, चित्त ये हैं:—

उत्सन्न दोष, बहुल दोष, नानाविध दोष और आमरण दोष । (रौद्र-ध्यान के एक प्रकार में सतत प्रवृत्ति, चारों प्रकार में बहुत प्रवृत्ति, हिंसादि के उपायों में अनेक बार प्रवृत्ति और स्व या पर के मृत्यु तक भी असंताप ।) ये लिंग हिंसा मृषा आदि में बाह्य साधन वाणो काया द्वारा भी लगे हुए को होते हैं:—

समय में कोणिक द्वैपायन पर तीव्र द्वेष उठने से हिंसानुबन्धी रौद्र-ध्यान आया तो वहां तीव्र संक्लेश वाली कृष्ण लेश्या आ गई ।

रौद्रध्यानी के बाह्य लिंग-लक्षण

अब रौद्रध्यान वाला किन लिंग या लक्षणों से पहचाना जाता है वह बताते हैं:—

विवेचन :

हृदय में, मन में, रौद्रध्यान की प्रवृत्ति चलती है, उसका पता नीचे के चिह्नों से चलता है:

पहले तो अन्तर के रौद्रध्यान के अनुरूप वचन और कायारूपी बाह्य साधन से हिंसा मृषा आदि में जीव लगा हुआ रहता है । उदा० हिंसा के बारे में कहता हो, 'मार डालूंगा, मुंह तोड़ दूंगा....उन लुच्चों को तो मार ही डालना चाहिये....' इत्यादि । यह हिंसानुबन्धी ध्यान के बारे में हुआ । वैसे ही मृषानुबन्धी ध्यान के बारे में कहे, 'आज सच बोलने वाले की दुनिया नहीं है । उनके आगे तो झूठ ही चलाना चाहिये । उसकी पोल तो खोलना ही चाहिये' आदि । स्तेयानुबन्धी में वह बोलता है; 'आज के श्रीमन्तों को तो लूटना ही

चाहिये । सरकार टैक्स क्या ले जाय ? उसे तो ऐसे सफाई बन्द तैयार किये हुए बनावटी चोपड़े ही दिखाने चाहिये कि वह हवा खाय । तब भा यदि अफसर चूँ चा करे तो उसे किसी गुण्डे द्वारा उड़ा देना चाहिये ।' आदि । संरक्षणानुबन्धी ध्यान में बोले; 'आज तो बिजली आदि के साधन प्राप्त हैं । उन्हें काम में लगा कर पैसे तिजोरी में इस तरह रखना चाहिये कि जिससे उन्हें चुराने वाला मरे'....इत्यादि ।

जैसे वचनों से हिंसादि में उपयोग वाला हो, वैसे ही काया-शरीर से हिंसादि में इसी तरह लगा हुआ हो । उदा० आंखों में खुन्नस रहता हो, हाथ में छुरा आदि रखकर किसी पर उठाता हो, खोपड़ी तोड़ने के लिए मुक्का उठाया हो, गुण्डाओं की सहायता लेकर आ खड़ा हो....आदि ।

इस तरह वचन व काया के प्रयोग से हिंसा मृषादि में लगा रहता हो और हिंसानुबन्धी आदि में प्रवृत्ति उत्सन्न, बहुल, नाना-विध और आमरण ऐसे चार दोष वाली हो, तो वे रौद्रध्यान के लिए, लक्षण है, ज्ञापक (बताने वाले) चिह्न हैं । इससे समझ में आवेगा कि उसके अन्तर में रौद्रध्यान की प्रवृत्ति है ।

(१) **उत्सन्न दोष**-अर्थात् हिंसादि चारों में से किसी भी एक में सतत, अधिकांश बहुत प्रवृत्ति करता हो अर्थात् बार बार हिंसा करे, हिंसा का बोले या झूठ का समर्थन करे इत्यादि । अथवा

(२) **बहुल दोष**-याने मात्र एक में ही नहीं, पर हिंसादि चारों में वाणी तथा बर्ताव से बार-बार प्रवृत्ति करता हो । या

(३) **नानाविध दोष**-अर्थात् हिंसादि के अनेक उपायों में प्रवृत्ति करता हो । उदा० चमड़ी उखाड़ना, आंखें फोड़ना आदि

परव सणं अहिन्दइ निरवेक्खो निदइओ निरणुतावो ।

हरिसिज्जइ कयपावो रोदइभाणोवगयचिच्चो ॥ २७ ॥

अर्थ:—दूसरे के कष्ट पर खुश होना, इहलोक परलोक भय से बेपरवाह, निर्दय होना, पश्चात्ताप रहित होना और पाप करके खुश होना ये सब रौद्रध्यान प्राप्त चित्त के लक्षण हैं ।

हिंसा के उपाय कहलाते हैं । उसमें तथा झूठ चोरी संरक्षण के विविध उपायों में प्रवृत्ति करता हो । और

(८) आत्मरक्षण दोष-याने चाहे अपना या सामने वाले का मृत्यु हो जाय वहां तक उसे अपने हिंसादि दुष्कृत्य का कोई पश्चात्ताप ही न हो । उदा० कालसौकरिक कसाई को श्रेणिक राजा ने कुएं में उलटा लटका दिया, जिससे वह हिंसा बन्द करे; परन्तु उसने तो वहां भी मिट्टी से ही कुएं की दीवार पर भेंस बना बनाकर उन्हें काटता रहा । यह तो केवल उलटा ही लटकाया गया था, पर मरता तो भी क्या ? हिंसा का रोष, ख़ुन्नस पूरा ही नहीं होता ।

यों वचन से या कामा से झूठ, चोरी तथा संरक्षण में प्रवृत्ति करे ये सब रौद्रध्यान के चिह्न हैं ।

अब दूसरे चिह्न कहते हैं:—

विवेचन :

जिसका चित्त रौद्रध्यान में चढ़ा हुआ होता है उसके अन्य भी कुछ चिह्न होते हैं । वे ये हैं:—

(५) दूसरे पर आफत कष्ट या संकट आवे तो उस पर खुश होता है । चित्त बहुत संक्लेश वाला होने से उस पर खुश होकर कहे, 'यह अच्छा हुआ कि उस पर आफत आई । वह इसी के लायक था ।

(६) वह जिस किसी दुष्कृत्य का सेवन करता हो, वह निरपेक्ष हृदय से अर्थात् इस लोक या परलोक में उसके कैसे उपाय या अनर्थ होंगे उसका कुछ भय नहीं, परवाह नहीं है। उदा० वह कहे, आज साहूकारों में तो मृत्यु है, झूठ चोरी से ही जिया जा सकता है। इसमें कुछ हर्ज नहीं, पाप वाप क्या लगते थे ?

(७) जीवन जीते हुए जीवों पर दया न हो, उसके वचन तथा बर्ताव ही ऐसे निर्दय निष्ठुर दिल के दिखाई देते हों। उदा० वह कहे, 'भगवान ने ये दूसरे जीव अपने जीने के लिए ही बनाये हैं।' 'जीवो जीवस्य जीवनम्'.... 'अपने को हैरान करे उसे खतम करो' आदि। चलने में भी कीड़े मकोड़ों के मरने की परवाह न करे। खाने पीने में अभक्ष्य पदार्थों का खुशी से खुलकर उपयोग करे। इत्यादि आन्तरिक रौद्रध्यान का सूचक है।

(८) पुनः किसी को दुःख दिया, कोई पाप किया, अनुचित बर्ताव किया.... इत्यादि का संताप पछतावा ही नहीं होता। मुख व मुद्रा ऐसे ही ढीठ दिखते हैं। या बोलेगा; 'इसमें क्या हो गया ? क्या बुरा कर दिया ?' कोई शिक्षा दे तो सामने उलटा बोलेगा 'ऐसा मैंने क्या किया है ? ये तुम ही मुझे हलका बताते हो....' यह क्या है ? आन्तरिक रौद्रध्यान का बाह्य स्वरूप-वचन में।

(९) पाप करके खुश होता है फिर बाहर अपना बड़प्पन गाता है। 'कैसा पीटा ?' उदा० त्रिपृष्ठवासुदेव ने सिंह को चीर डाला और शय्यापालक के कान में गरम किया हुआ सीसा डलवाकर आनन्द का अनुभव किया। पाप का भारी आनन्द दिखाई दे तो समझना चाहिये कि अन्तर में रौद्रध्यान प्रवर्तित है।

दूसरे का तो बाद में, पर अपने स्वयं के बारे में खास देखने का है कि ऐसा कोई लिंग तो नहीं है न ? मूढ मन रौद्रध्यान करता हो तब भी उसे नहीं लगता कि मैं रौद्रध्यान करता हूँ। वहां उप-

भाणस्स भावणाओ देसं कालं तहासणविसेसं ।

आलेखणं कम्मं भाइयव्वयं जे य भायारो ॥२८॥

तत्तोऽणुप्पेहाओ लेस्सा लिंगं फलं य नाऊणं ।

धम्मं भाइज्ज मुणी तग्गयजोगो तओ सुक्कं ॥२९॥

अर्थः—ध्यान की भावना^१, देश^२, काल^३, आसन^४, आलंबन^५, क्रम^६, उद्देश्य^७ (ध्येय) या ध्यान का विषय, ध्याता^८, अनुप्रेक्षा^९, लेश्या^{१०}, लिंग^{११} तथा फल^{१२} को जानकर मुनि उसमें चित्त लगाकर धर्मध्यान करे । उसके बाद शुक्ल ध्यान करना चाहिये ।

रोक्त कोई लिंग दिखाई दे तो अन्तर में रौद्रध्यान होने का समझकर उसे रोक देना चाहिये और उसके लिए बाहर के इन लिंगों लक्षणों से उलटा मार्ग लेना चाहिये । उदा० दूसरे की आफत देखकर अपने मन में दुख लगाना, हमदर्दी दिखाना, प्रार्थना करना 'बिचारे की आपत्ति मिटो ।' आदि ।

यह रौद्रध्यान के बारे में विचार हुआ ।

धर्म ध्यान

अब यहां धर्मध्यान का वर्णन करने की बारी आने से, ग्रन्थकार उसका निरूपण करने की इच्छा से उसका व्यवस्थित प्रतिपादन करने के लिए धर्मध्यान के सम्बन्ध में १२ द्वार, १२ मुद्दे (Points) बताते हैं । फिर प्रत्येक के विषय की स्पष्टता करते हुए धर्म ध्यान विस्तार सहित तथा व्यवस्थित रूप से समझाई जावेगी । आगे शुक्ल ध्यान के विचार के लिए भी ये ही १२ द्वार रहेंगे ।

धर्म ध्यान के १२ द्वार

अब १२ द्वारों के नाम बताते हैंः—

पुष्पकयम्भासो भावणाहि माणस्स जोग्गयमुवेइ ।

ताओ य नाणदंसण चरित्त वरेगनियताओ ॥३०॥

अर्थः—ध्यान से पहले भावनाओं से अथवा भावनाओं का अभ्यास करने से ध्यान की योग्यता प्राप्त होती है । ये भावनाएँ ज्ञान दर्शन चारित्र्य तथा वैराग्य के साथ संबद्ध हैं ।

विवेचन :

धर्म ध्यान क्या है उसका वर्णन करने के लिए इस प्रकार १२ द्वार हैंः—

(१) ध्यान की भावनाएँ उदा० ज्ञान भावना, दर्शन भावना आदि (२) ध्यान के लिए उचित देश या स्थान (३) उचित काल (४) उचित आसन (५) धर्म ध्यान के लिए आलम्बन जैसे वाचना आदि (६) ध्यान का क्रम मनोनिरोध आदि (७) ध्यान का विषय ध्येय जैसे जिज्ञासा, विपाक आदि । (८) ध्याता कौन ? अप्रमाद आदि वाले (९) अनुप्रेक्षा याने ध्यान रुकने पर चिंतन करने योग्य अनित्यता, अशरणाता आदि का आलोचन (१०) धर्मध्यानी की शुद्ध लेश्या (११) धर्मध्यान का लिंग, सम्यग् श्रद्धा आदि और (१२) ध्यान का फल ।

इन १२ द्वारों से धर्म ध्यान का अच्छा परिचय प्राप्त करके उसकी भावना, कारण, आलम्बन आदि का अच्छा अभ्यास प्राप्त करके धर्मध्यान करना और उसके बाद पराकाष्ठा पर पहुँचकर शुक्ल ध्यान करें ।

ये १२ द्वारों के नाम बताने के बाद अब प्रत्येक द्वार के बारे में ग्रन्थकार विस्तार से कहेंगे ।

ध्यान भूमि का रूप ४ भावनाएं

अब प्रथम द्वार 'भावना' का अर्थ समझाते हुए कहते हैं:—

विवेचन :

भावना याने अभ्यास का साधन या अभ्यास का विषय । वह चार प्रकार से है । ज्ञान भावना, दर्शन भावना, चारित्र भावना तथा वैराग्य भावना । ज्ञान, दर्शन, चारित्र तथा वैराग्य से अभ्यास या ज्ञानादि चार का अभ्यास किया जाय वह भावना । प्रत्येक का इन का अभ्यास कैसे किया जाय वह आगे बताते हैं । अभ्यास से मन भावित होता है अतः वह भावना हुई ।

भावना से ध्यान में क्या विशिष्टता ?

परन्तु इतना समझ लेना चाहिये कि इन भावनाओं का पहले अभ्यास करने से फिर धर्मध्यान की योग्यता प्राप्त होती है । शुभ ध्यान में रहने के लिए मन की निश्चलता चाहिये और इसके लिए मन से इन ज्ञानादि भावनाओं का अभ्यास करे, तभी वह ध्यान के लिए शान्त और सशक्त बनकर निश्चल होता है । मन का रोष या गरमी में चंचलता आती है और मनकी अशक्तता उसे तत्त्व पर स्थिर होने नहीं देती । उसे दूर करके मन में शान्ति और शक्ति लाने के लिए पहले ज्ञानादि भावनाओं का अभ्यास करना पड़ता है । इस अभ्यास से मन ज्ञान दर्शन चारित्र वैराग्य से भावित होता है, वासित होता है, रंग जाता है । अतः फिर मन को चंचल करने वाले; निसत्त्व करने वाले अज्ञान, मिथ्या ज्ञान, आहार, परिग्रह, इन्द्रिय विषयों, कषायों तथा संसाराक्ति से मन जो अनन्त काल से रंगा हुआ था, भावित हो चुका था, उसमें मन्दता आती है । उसका इन संसारादि के विषयों से भावित होना कुछ हलका या मन्द हो तभी, इस भावितता के कारण मन जो चंचल, अशान्त तथा निसत्त्व

भाणेशिच्चव्भासो कुण्ड मणोधरणं विसुद्धिं च ।

गाणगुण मुणियासारो सोभाइ सुनिच्चलमई ओ ॥३१॥

अर्थ:—श्रुतज्ञान में हमेशा प्रवृत्ति रखना, (उसके द्वारा) मन को (अशुभ व्यापार रोककर) धरिण कर रखे, (सूत्र व अर्थ की) विशुद्धि करे। 'च' शब्द से भवनिर्वेद का अभ्यास करे और ज्ञान से जीव अजीव के गुणपर्याय के सार परमार्थ को जाने। (अथवा ज्ञान गुण से विश्व के सार को समझे।) उसके बाद अतिशय निश्चल बुद्धि वाला बनकर ध्यान करे।

(मुर्दे सा) रहता था वह अब स्थिर, शान्त तथा सशक्त बन जाता है।

यह परिस्थिति खड़ी करने के लिए ज्ञानादि भावना का अभ्यास करना चाहिये। इससे यह स्पष्ट है कि आगे कही जाने वाली ज्ञानादि भावनाओं की प्रक्रिया का आचरण करने से आत्मा ज्ञानादि से भावित होता जाना चाहिये, मन रंगता जाना चाहिये। भावित करे इसलिए भावना। ऐसे ज्ञानादि से भावितता आती जाती है। ज्ञानादि का ऐसा रंग चढ़ता जाता है इसका प्रमाण यह है कि जीव को मिथ्या ज्ञान, आहार, विषय, परिग्रह और कषायों का रंग हलका होता जाय, उतर जाय। फिर ये चीजें मन को ध्यान में से खींच नहीं सकें, हटा नहीं सकें। जिसका रंग नहीं, मन को उसका आकर्षण भी नहीं।

ज्ञान भावना : पांच

अब पहले ज्ञान भावना का स्वरूप और उसका गुण बताते हुए कहते हैं:—

विवेचन :

पहली ज्ञान भावना में पांच कार्य करने के हैं:—

१. श्रुत ज्ञान में नित्य प्रवृत्ति ।
२. मन को अशुभ भाव से रोकना ।
३. सूत्र अर्थ की विशुद्धि ।
४. भवनिर्वेद तथा
५. परमार्थ की समझ ।

१. ज्ञान का नित्य अभ्यास:—श्रुतज्ञान अर्थात् सर्वज्ञ के शास्त्रों के ज्ञान में हमेशा लगा रहे । इसमें भी इन शास्त्रों का पांच प्रकार से स्वाध्याय करता रहे : (१) शास्त्र पढ़ने के लिए गुरु से उसकी वाचना ले, सूत्र अर्थ के व्याख्यान ले । पढ़कर उसमें चतुर बनकर फिर दूसरे को वाचना दे, अन्यथा मन खाली होते ही उसमें गलत विचारों के भूत घुस जावेंगे । (२) स्वयं वाचना लेने के बाद उसमें शंका पड़ने पर गुरु को पूछे; अन्यथा शंका से समकित जाय' जैसा हो जाय । (३) पढ़े हुए सूत्र अर्थ का परावर्तन पुनरावर्तन करता रहे । अन्यथा भुला देने पर उसका पारायण-स्वाध्याय नहीं हो सकेगा । (४) अनुप्रेक्षा याने सूत्र अर्थ का चिंतन मनन करे । इससे उसमें से विशेष रहस्य खुलें, श्रद्धा दृढ़ हो, तात्त्विक तर्क सिद्ध श्रद्धा हो, जिससे सामने से आकर्षक तथा चाहे जैसी विपरीत बात आवे, तब भी मन नहीं डिगे । (५) धर्मकथा याने पढ़े हुए श्रुत पर धर्मविचारणा व धर्मोपदेश करे । इस तरह श्रुतज्ञान में नित्य प्रवृत्तिचालू रखे ।

२. मनो धारण:—उपरोक्त नित्य ज्ञानाभ्यास तो करे, पर मन को बीच बीच में अशुभ या मुफ्त के विचारों या मलिन वृत्तियों में जाने दे तो मन इस श्रुतज्ञान से भावित नहीं होगा । अतः उन अशुभ व्यापारों में से मन को बचाले, धारण करे । श्रुत शास्त्र पर अब हृद प्रीति बहुमान धारण करने से यह सम्भव होगा ।

क्योंकि तब मन को समझा लिया जाय कि 'इस श्रुताभ्यास के समय तू किससे बात कर रहा है ? शास्त्र रचयिता महान गणधर या आचार्य महाराज के साथ । तो बड़े के साथ बातें चालू हों उस समय दूसरे के साथ बातें नहीं हो सकतीं ।' इस तरह समझाकर दूसरे तीसरे विचारों में जाते हुए मन को रोका जा सकता है । इसका नाम मनोधरणा ।

३. विद्युद्धिः—नित्य ज्ञानाभ्यास तथा मनोधरणा करने पर भी यदि जिस सूत्र को पढ़ रहे हैं उसे अर्थ शुद्ध न पढ़ें, तो शुद्ध ज्ञान भावना नहीं होगी । अतः उसके ज्ञान को विशेष विशेष शुद्धि करना आवश्यक है; वह ऐसा कि सूत्र स्वनामवत् परिचित हो जाय और अर्थ का हूबहू चित्र नजर समक्ष खड़ा हो जाय । फिर उसका आनन्द ही और हो जावेगा । मन उससे ऐसा ज्यादा भावित होकर उसमें जकड़ा हुआ रहेगा कि ध्यान के एकाग्र चिंतन के लिए सुन्दर अवस्था खड़ी हो जाय ।

४. भवनिर्वेदः—ज्ञान भावना के लिए संसार पर चमकता हुआ वैराग्य (भवनिर्वेद) भी अत्यन्त जरूरी है । वह यदि नहीं होगा तो संसार पर राग रहेगा । इससे संसार का कोई वैभव सत्ता, सन्मान, मुलायमियत आदि मनको पकड़ लेगा । ज्ञान पढ़ेगा तो कदाचित् ऐसे संसार हेतु के लिए, तो उसमें पवित्र शुद्ध ज्ञान-भावना कहां से होगी ? अतः तीव्र भवनिर्वेद का अभ्यास जरूरी है । दूसरे यह भी कि जिन सम्यक् शास्त्रों का ज्ञान लेने व रटने में आता है, उसमें तो मुख्यतः आत्म-तत्त्व की बातें होती हैं, रागादि दोषों को नष्ट करने का उपदेश होता है, तो वह हृदय में कब उतरे ? उससे दिल पिघल कर उन बातों से कब रंग जाय ? हृदय में भवनिर्वेद चमकता हो, जगमगाहट करता हो तभी । इसलिए भी भवनिर्वेद का अभ्यास आवश्यक है ।

जीवाजीव के गुण पर्याय का सार

५. ज्ञानगुण ज्ञान सारः—इसके दो अर्थ हैं:—(१) ज्ञान से जीव अजीव के गुणपर्याय के परमार्थ को जाना हो अथवा (२) ज्ञान के प्रभाव से विश्व के सार को परमार्थ को जाना हो। यह जानने का तरीका यह है:—

(i) **नाणगुण सुणियसारो का अर्थः**—जीव के गुण दो प्रकार के हैं। १. ज्ञान, दर्शन, सद्वीर्य, चारित्र, त्यागतप, उपशम उदासीनता आदि तथा २. राग, द्वेष, कषाय, असद्वीर्य, आहारादि संज्ञा, सुख दुःख, मान अपमान, आदि। इसमें ज्ञानादि ये अपने स्वाभाविक गुण हैं और रागादि औपाधिक (उधार) गुण हैं। इसी तरह जीव के पर्याय भी दो प्रकार के हैं:—(१) मोक्ष अवस्था में होने वाले भिन्न भिन्न शुद्ध ज्ञानादि परिवर्तन के कारण उपस्थित होने वाली उस उस समय की स्थिति-वर्तना; ये स्वाभाविक पर्याय है और २. भिन्न भिन्न गति शरीर वय, आपत्ति सपत्ति की भिन्न भिन्न अवस्थाएँ आदि। ये औपाधिक पर्याय हैं।

अब इन दोनों प्रकार के गुण व पर्यायों को जान कर उनमें से सार खींचना या परमार्थ पकड़ना। उसमें—

स्वात्मा के गुणपर्याय का सारः—यह इस तरह है कि 'इन दोनों में स्वाभाविक गुण पर्याय ही मेरी सच्ची वस्तु है। औपाधिक गुण व पर्याय तो अज्ञान और कर्म की उपाधि से उत्पन्न होने से आये गये जैसे हैं। उन पर क्या आधार रखा जाय ? रागादि होते हैं आत्मा के अज्ञान के कारण। सुख दुःखादि होते हैं, वह कर्म की विडम्बना है। अज्ञान तथा कर्म की विडम्बना से किस लिए पीटा जाना ? इस तरह औपाधिक पर्याय भिन्न भिन्न भवादि भी कर्म की विडम्बना ही है। काल कर्म भवितव्यता का तो नाटक है।

इसमें क्या परेशान होना ? ये गुण तो आत्मा के गिने जाते हैं और उल्टे उसे ही विडम्बना करते हैं । अतः ये तो अपकारी हैं । हां, आराधना में ये मानव-गरीर आदि उपयोगी होते हैं सही, परन्तु उनको जाति तो औपाधिक की ही है । अतः अन्त में छोड़ने पड़ेंगे, छूटे तभी तो मोक्ष होगा । अतः उनका ममत्व तथा लालन-पालन नहीं करना चाहिये । ममता तो ज्ञानादि स्वाभाविक गुणों की ही करनी चाहिये, प्रयत्न भी उसी के लिए हों । वैसे ही पर्यायों के लिए संखन-इच्छा तो मोक्ष-पर्यायों की ही रखना चाहिये, 'कब वे प्रकट हों ?' इसका नाम जीव के गुण पर्याय का सार परमार्थ जानना । यह अपने जीव के बारे में गुणपर्याय का सार हुआ ।

दूसरे जीव के गुणपर्याय का सार-परमार्थः
 अब इस भी ध्यान में लेना चाहिये । इससे जीवों के साथ सम्बन्ध होने पर निमित्त वश या कल्पना मात्र से मन अशुभ भाव में जाता हुआ रुक जाय और ध्यान का भंग न हो । इसमें सार क्या ग्रहण करने का है ? यही कि, '(१) यदि ये जीव राग, मोह आदि करते हैं तो ये उनके औपाधिक गुण हैं । इससे न उनको लाभ है न मुझे लाभ है । अतः मुझे रागमूढ नहीं होना चाहिये । (२) तब यदि ये जीव ईर्ष्या द्वेष आदि करते हुए आते हैं तो ये बिचारे अपने असली गुण उपशम को ठेस पहुँचाते हैं । इससे मुझे उनकी करुणा का चितन करना चाहिये, जिससे मेरे असली गुणों को समर्थन मिले । फिर ये जीव ज्यादा सुखी संपत्तिवान यशस्वी दिखते हैं तो वह उनके पुण्य की लीला है, औपाधिक है, अतः मेरे लिए ईर्ष्या करने योग्य नहीं है । दुःखी दिखें तो करुणा पात्र हैं । जीवों में दोष दिखें वे उपेक्षा योग्य हैं । इत्यादि रूप में अन्य जीवों के गुणपर्याय का परमार्थ पकड़ना चाहिये ।

यह जीव के गुणपर्याय का सार परमार्थ जानने की बात हुई ।

अजीव के गुणपर्याय के परमार्थ का विचार :

अजीव में मुख्य द्रव्य पुद्गल है । जीव के सम्बन्ध में इस जड़ पुद्गल को बहुत सी वस्तुएँ आती हैं और जीव उसके अच्छे बुरे रूप रस आदि गुणों तथा उसके अमुक भाव व पर्याय देख कर उनमें मोहित हो जाता है और राग में या द्वेष में पड़ता है । वहाँ यदि उसके गुणपर्याय का मर्म सार जाना सोचा हो तो उससे मोहित होने का न हो ।

अनुकूल प्रतिकूल में ध्यान कैसे नहीं बिगड़े ?

उदा० मूल्यवान् हीरे की कीमत, चमक आदि देख कर जीव मोहित हो जाता है । परन्तु यदि उसका सार पकड़े कि, 'यह बहुत ही राग, मोह, ममता कराने वाला होने से चिकने कर्म तथा दुर्गति का सर्जन करने वाला है ।' तो राग मोह आदि उतर जाय और इसीसे फिर कोई शुभ ध्यान के बीच में उसका हस्तक्षेप नहीं रहे ।

वैसे ही प्रतिकूल वस्तुओं के अनिष्ट गुणों से घबरा कर द्वेष न कर के उसका सार रूप यह देखे कि 'ये अनिष्ट पदार्थ वैसे वैसे अशातावेदनीय आदि कर्म खपाने में सहायक हैं', तो भी चित्त की स्वस्थता रहे और ध्यान न बिगड़े । महात्माओं ने घोर उपसर्ग में यह सार पकड़ा कि 'यह शस्त्र-प्रयोग तो काया को काटेगा, छेदन करेगा या जलायेगा, पर आत्मा तथा उसके ज्ञानादि गुणों का जरा भी छेदन भेदन या दहन नहीं कर सकता । उलटे उसकी वेदना से तो आत्मा पर बद्ध कर्म क्रमशः उदय प्राप्त करते करते अवश्य क्षय होते जाते हैं । बाह्य शस्त्र वास्तव में तो आंतरिक कर्म की गाँठ को काटता है । इसमें बुरा क्या है ?' इस तरह यदि सार पकड़ा तो ध्यानधारा शुक्ल ध्यान तक चढ़ गई । अन्यथा वह खण्डित हो जाती है ।

‘नाणगुण मुणियसारो’ का एक अर्थ यह हुआ कि ‘ज्ञान से जीव अजीव के गुणपर्याय का सार पकड़ो ।’

(ii) ‘नाणगुणमुणियसारो’ का दूसरा अर्थ :

‘ज्ञान के प्रभाव से विश्व का सार पकड़ा हो’ इसका भाव यह है कि विशेष श्रुतज्ञान से विश्व के धर्मास्तिकायादि छ द्रव्य जाने, उनके परस्पर सम्बन्ध जाने, उन पर काल, स्वभाव, भवितव्यता, कर्म व पुरुषार्थ नामक पांच कारणों का प्रभाव जाने, उनमें परिवर्तन होने वाले पर्याय जाने । यह सब जान कर उसका यह सार पकड़े कि ‘सब द्रव्य द्रव्यरूप से नित्य हैं, किन्तु पर्याय रूप से अनित्य हैं ।’ इससे अकेला नित्य अंश ही पकड़ कर मोहित होने जैसा नहीं है, क्योंकि पर्याय पलटने वाला है, बदलने वाला है । अकेले अनित्य अंश को ही पकड़कर घबराने जैसा भी नहीं है, क्योंकि उसका मुख्य स्वरूप नित्य होने से वह कायम रहेगा । उदा० ‘आत्मा को शुभ कर्मों के योग से स्वर्गीय सुख सन्मानादि मिले । पर ये सुख-पर्याय अनित्य हैं । इनसे मोहित होने जैसा नहीं है । वैसे ही आत्मा को अशुभ कर्मों के संयोग से दुख आवे, तो भी घबराने का नहीं, क्योंकि उसके सब के बीच में आत्मा का असल ज्ञानादि स्वरूप नित्य है, कायम है, आने वाला दुख तो चला जावेगा, पर ज्ञानादि गुण स्थिर रहेंगे । फिर चिन्ता क्या ? इस तरह ज्ञान के प्रभाव से विश्व का सार पकड़ने से हर्ष उद्वेग न होकर उदासीन भाव खड़ा होगा । इससे कर्म बन्धन नहीं होगा, साथ ही ध्यान भग भी न होगा । इससे कर्म-निर्जरा होगी ।

तात्पर्य यह है कि दोनों अर्थ में जीव अजीव के गुण पर्याय का सार या विश्व का सार पकड़ने से अन्यथा प्रवृत्ति याने रागादि भरी

संकादोसरहिओ पसम-थेज्जाइगुणगणोवेओ ।

होइ असंमूढमणो दंसणसुद्धीए आणंमि ॥३२॥

अर्थ:—(सर्वज्ञ वचन में) शंका आदि दोष रहित तथा सर्वज्ञ शास्त्र परिचय, प्रशम, सम्यक्त्व में स्थिरता, गिरते हुए का स्थिरीकरण आदि गुण समूह से सम्पन्न (पुरुष, सम्यग्दर्शन की शुद्धि से संमोहरहित (स्थिर) चित्त वाला हो जाता है—बनता है ।

गलत प्रवृत्ति नहीं होगी । साथ ही सन्मति में से चलविचलता (चलित होना) नहीं होगा । इससे बुद्धि निर्मल और निश्चल रहेगी । इस तरह से ज्ञान भावना का यह पांचवा प्रकार 'नाणगुण मुणियसार' भी ध्यान की अच्छी भूमिका का सर्जन करता है । इसका यह ऐसा अभ्यास आत्मा को शुद्ध ज्ञान से भावित करता है, अतः उसका नाम ज्ञान भावना ।

२. दर्शन भावना

अब दर्शन भावना का स्वरूप तथा उसकी महिमा बताते हुए कहते हैं:—

विवेचन :

ध्यान के लिए दूसरी दर्शन भावना करना जरूरी है । इससे आत्मा सम्यग्दर्शन से ऐसा भावित हो जाता है कि यदि वैसा न हो तो उससे विपरीत दोषों के कारण ध्यान अशक्य (असंभव) हो जाता, वह अब इन गुणों के कारण स्थिर ध्यान कर सकता है ।

इस दर्शन भावना के लिए इस प्रकार शंकादि ५ दोषों का निवारण तथा प्रशम, प्रशम आदि ५ गुणों का पालन जरूरी है।

पांच दोष	पांच गुण
१. शंका	१. प्रश्रम
२. कांक्षा	२. स्थैर्य
३. विचिकित्सा	३. प्रभावना
४. प्रशंसा	४. आयतन सेवा
५. संस्तव	५. भक्ति
	१. प्रशम
	२. संवेग
	३. निर्वेद
	४. अनुकम्पा
	५. आस्तिक्य

सम्यक्त्व में त्याज्य पांच दोष

शंका:—याने जिन वचन पर शंका, देश से या सर्व से आंशिक या सर्वथा । उदा० 'आत्म असंख्य प्रदेशी होगा या निष्प्रदेश ?' यह देशशंका 'धर्मास्तिकादि द्रव्य कथनानुसार होंगे या नहीं ?' यह सर्व शंका । शंका नहीं करना चाहिये, क्योंकि इसमें मिथ्यात्व लगता है । शास्त्र में मिथ्यात्व के प्रकार कहे हैं; जैसे कि आभिग्रहिक, अनभिग्रहिक, सांशयिक...आदि; वहां संशय शंका को भी मिथ्यात्व में गिना । कहा है कि:—

‘एकस्मिन्नप्यर्थे सन्दिग्धे, प्रत्ययोऽर्हति हि नष्टः ।

मिथ्यात्वदर्शनं तत् स चादिदेतुर्भवगतिनाम् ॥

सूत्रस्यैकस्यारोचनादक्षरस्य भवति नरः ।

मिथ्यादृष्टिः सूत्रं हि नः प्रमाणं जिनाभिहितम् ॥

अर्थ:—‘सर्वज्ञ के कहे हुए एक भी पदार्थ पर शंका हो तो सर्वज्ञ अरिहंत प्रभु परका विश्वास नष्ट हो गया गिना जावेगा । यह मिथ्यात्व दर्शन है और वह संसार की गतियों का प्रथम कारण है ।

‘सूत्र के एक भी अक्षर की अरुचि से मनुष्य मिथ्यादृष्टि बनता है। अतः हमारे लिए तो जिनोक्ति सूत्र (संपूर्ण) प्रमाण है।’ इस तरह शंका रहित होना। कदाचित् कहीं शंकास्पद लगे तो भी सोचना चाहिये कि ‘जैसे दूसरे सर्वज्ञ-वचन वैसे ही यह वचन भी सर्वज्ञकथित होने से सत्य ही है। मात्र हमारी मति दुबल है, अतः यह हमारी समझ में नहीं आता।’ यह सोचकर शंका दूर करना चाहिये। शंका विनाश का सजन करनी है। एक माता ने दूध में भुने हुए उड़द डालकर उसका पेय बनाया। उसके दो पुत्र स्कूल से आये। अन्धेरा था और वे पीने लगे। एक को शंका हुई ‘इस में मक्खियें तो नहीं गिरी?’ ऐसे शंका सहित पीता रहा, इससे उसे कै (उलटी) का दर्द लागू हो गया और आखिर वह मर गया। दूसरे ने सोचा, मेरी मां मुझे मक्खियाँ वाला पेय देगी ही नहीं।’ ऐसे निःशंक दिल से पी कर वह तुष्ट पुष्ट हुआ।

२. कांक्षा—याने बौद्ध आदि अन्यान्य मतों की आकांक्षा, अभिलाषा; वह भी अंश से तथा सर्वथा। ‘अंशतः कांक्षा’ याने उदा० बौद्ध दर्शन की ऐसी आकांक्षा होती है कि ‘इस दर्शन में चित्त-जय का प्रतिपादन है और वह मोक्ष का मुख्य कारण है। अतः यह दर्शन भी कार्य कर सकता है, सर्वथानगण्य नहीं है।’ **सर्व-कांक्षा** याने सभी दर्शनों की अभिलाषा होती रहे कि ‘सब में अहिंसादि तो कहे ही हैं; तथा लोक में वे कुछ अत्यन्त क्लेश की बात तो कहने वाले नहीं हैं। अतः सभी दर्शन अच्छे हैं।’ ऐसी दोनों कांक्षा गलत है; क्योंकि ये सभी दर्शन एकांतवादी हैं। इससे वे वस्तुतत्त्व को न्याय देने वाले नहीं हैं, उलटे जो धर्म पदार्थ में सचमुच रहे हुए हैं, वे धर्म उनको असत् लगने से उनका वे खण्डन करते हैं। पुनः मार्ग के बारे में अन्य दर्शन जो अहिंसा या चित्तजय आदि कहते हैं वह स्थूल है। बाकी सूक्ष्म अहिंसा या हिंसा का उन्हें कुछ पता

नहीं चलता । अतः वे नदी स्नान आदि हिंसा का प्रतिपादन करने वाले होते हैं । ऐमे दर्शनों की कांक्षा नहीं रखना चाहिये; अन्यथा सम्यक्त्व को ठेस पहुँचती है । मरीचि ने परिव्राजक वेश में धर्म है ऐसा कहा तो एक कोड़ाकोड़ी सागरोपम संसार बढ़ाया ।

कांक्षा का दूसरा अर्थ है:- इस लोक परलोक के फल की इच्छा । 'धर्म से मुझे पैसा मिले, प्रतिष्ठा मिले, देवलोक के सुख मिलें ।' यह निदान या नियाणा कांक्षा है । यह कांक्षा भी गलत है । क्योंकि इससे सम्यक्त्व में अतिचार लगता है । सम्यक्त्व का लक्षण तो 'सुरनर सुख जे दुख करी लेख वे, वंछे शिवसुख एक' (मनुष्यो तथा देवों के सुख का भी दुख के समान समझे और एक मात्र शिव सुख की इच्छा करे ।) मोक्ष में ही एकांत, शाश्वत तथा स्वाधीन सुख है । अतः उसे छोड़कर हलके ठगने वाले संसारसुख की कांक्षा से सम्यक्त्व को हानि होती है, भव भ्रमण बढ़ता है । वीर प्रभु का जीव विश्वभूति मुनि यों ही भटक मरा ।

३. विचिकित्सा का एक अर्थ:- युक्ति और आगम से संगत क्रिया में भी, रोग की चिकित्सा की तरह, फल की शंका करे । 'फल मिलेगा या नहीं ? या रेत के निवाले की तरह उपवासादि निष्फल जावेगा ?' यह शंका भी सम्यक्त्व में अतिचार है । यह तीसरा विचिकित्सा अतिचार ।

प्रश्न— 'शंका' नामक प्रथम अतिचार में इसका समावेश नहीं हो जाता ?

उत्तर— पहला 'शंका' अतिचार द्रव्यगुण के बारे में है, यह क्रिया के फल के बारे में है । यों तो सभी अतिचार मिथ्यात्वोदय वश होने वाले जीव-परिणाम हैं; परन्तु जीवों को समझाने और समय पर हटाने या बचाने के लिए भिन्न भिन्न रूप से अतिचार

बताये हैं। अतः पहला अतिचार तत्त्व में मजबूत श्रद्धा रखवाने के लिए कहा, तो मार्गसाधना में मजबूत श्रद्धा रखवाने के लिए इस अतिचार को अलग बताया। इससे बचने के लिए यह सोचना चाहिये कि 'सर्वज्ञ कथित और आचरित कल्याण अनुष्ठान निष्फल होते ही नहीं। अतः विचिकित्सा नहीं करना चाहिये।' पुनः धर्म-साधना के फल के तौर पर सांसारिक सुख सन्मान पर दृष्टि जाती है, इससे फल की यह शंका उत्पन्न होती है। सचमुच तो साधना का आत्मिक फल ही इच्छनीय है। आत्मा के रागादि विकार दबें, जड़ के बारे में अस्वस्थता कम हो, यह महान फल है। दानादि धर्म साधना से वह सिद्ध होती ही है। तब भी लौकिक फल के बारे में भी शंका नहीं करनी चाहिये। क्योंकि वह भी सर्वज्ञोक्त है। सर्वज्ञ ने लौकिक फल भी बताये हैं। वस्तुस्थिति जैसी हो वैसी तो दे कहें ही न ?

एक श्रावक को उसके किसी मित्रदेव ने कोई एक विद्या दी। उसने कहा : 'इमशान में चार पैरों वाला छींका खड़ा करके नीचे अग्नि रखकर छींके पर बैठ कर १०८-१०८ बार यह विद्या जपते जपते छींके का १-१ पैर काटना। इस तरह चारों पैरों के काट देने पर आकाश में उड़ा जावेगा।' इतने में द्रव्य सहित एक चोर जिसके पीछे सिपाही लगे हुए थे भागता हुआ आया। सिपाही तो 'अब इसे सुबह ढूँढ लेंगे।' कह कर जंगल को घेर रहे थे। यहां चोर ने ५ छद्मा 'क्या करता है ? उसने कहा, 'विद्या साध रहा हूं।' चोर ने कहा : 'यह सब द्रव्य ले ले और विद्या मुझे दे।' श्रावक को फल की शंका (विचिकित्सा) हुई इससे धन ले कर विद्या दी। चोर ने सोचा, श्रावक तो चींटी मारने का भी पाप करना नहीं चाहता। अतः यह विद्या गलत नहीं होगी।' उसने श्रद्धा से उसे साधा और आकाश में उड़ा। सुबह सिपाही ढूँढते हुए आये तो श्रावक को माल के साथ पकड़ कर मारने लगे। चोर ने आकाश में से सिपाहियों को भय

प्राप्त करवा कर श्रावक को छुड़वा दिया। दोनों को श्रद्धा हुई। इस तरह धर्म के फल सम्बन्धी विचिकित्सा नहीं करना चाहिये।

विचिकित्सा का दूसरा अर्थ 'साधु के मलिन गात्र व वस्त्र की दुगंध' है। 'साधु उत्तम हैं, पर जरा अचित्त पानी से सफाई रखें तो क्या हर्ज है?' यह दुगंध नहीं करना चाहिये। क्योंकि साधु तो सुबुद्ध है, संसार के स्वभाव को जानने वाले हैं, और इसीलिए सर्व संग के त्यागी हैं। वे बालिश स्नानादि सफाई में नहीं पड़ते। यह 'बालिश' इसलिए है कि शरीर असल में अशुचिभरा ही है, उसमें से अशुचि बह रही है, उसे स्नान से स्वच्छ हुआ मानना एक भ्रम है। फिर स्नान तो काम का अंग है। इसलिए भी स्नान नहीं करे तो उनकी दुगंध नहीं करना चाहिये।

एक श्रावक की पुत्री के लग्न के समय साधु उनके घर आये। पिता ने कहा : 'पुत्री ! महाराज साहब को बहोराओ।' उसे साधु के मलिन गात्र देख कर मन में दुगंध उत्पन्न हुई। 'कैसे मैले हैं ? भगवंत ने धर्म तो निरवद्य कहा है, पर उसमें जरा स्नान करने का कहा होता तो क्या दोष लग जाता ?' इस दुगंध से घोर कर्म बांध कर मरकर गणिका के पेट में उत्पन्न हुई। गणिका को भारी उद्वेग उत्पन्न होने से गर्भपात की दवाएँ लीं। तब भी वह मरी नहीं। जन्म से ही उसके शरीर से भारी दुर्गंध निकलने लगी। इससे उसे जंगल में छोड़ा। राजा श्रेणिक ने प्रभु से पूछा : भगवंत ! इस जंगल में से आते हुए बहुत खराब बदबू वाली कन्या देखी, बदबू क्यों ?' प्रभु ने सब अधिकार कहा। 'यह दुःख कब मिटेगा ?' प्रभु ने कहा : 'पाप भुगता जा चुका है। अब बड़ी होकर ८ वर्ष तेरी पट्टरानी बन कर रहेगी।'।

४ प्रशंसा:— सर्वज्ञ कथित व्रत, मार्ग, तत्त्व के अलावा

अन्य मिथ्यादृष्टि के देव-गुरु-धर्म व्रत आदि की स्तुति, गुणगान या वाहवाही पुकारे । उदा० पाखण्डी के मत की प्रशंसा करे ।

३६३ पाखण्डी

व्रत को या मत को संस्कृत में 'पाखण्ड' कहते हैं । मिथ्यादृष्टि के ३६३ पाखण्ड याने मत होते हैं ।

असीइसयं किरियाणं अकिरियवाईण होइ चुलमीती ।

अण्णाणिय सत्तङ्गी वेणइयाणं च बत्तीसं ॥

अर्थः—क्रियावादी के १८०, अक्रियावादी ८४, अज्ञानी के ६७ तथा वैतनिक के ३२ मिल कर कुल (१८०+८४+६७+३२=३६३) ३६३ हुए । वे इस तरह हैंः—क्रियावादी याने अस्तित्ववादी । जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आश्रव, सवर, बध, निर्जरा, मोक्ष इन नव तत्त्वों में से प्रत्येक को स्वतः या परतः अस्ति (है वैसा) माने । वह भी नित्य या अनित्य तथा काल से, ईश्वर से, आत्मा से, नियति से, या स्वभाव से अस्ति माने । उदा० जीव काल से स्वतः नित्य है, जीव ईश्वर से स्वतः नित्य है ।... इस तरह प्रत्येक तत्त्व को लेकर गिनने से $६ \times २ \times २ \times ५ = १८०$ भेद क्रियावादी के हुए ।

अक्रियावादी याने नास्तिकवादी, 'पुण्य पापसिवाय के सात तत्त्व लेकर, वे स्वतः या परतः नहीं है, वे भी काल, ईश्वर, आत्मा, नियति, स्वभाव, यदृच्छा में से एकेक से नहीं है' ऐसा मानता है । वह कहता है किसी भी अवस्थित पदार्थ में उत्पत्ति आदि क्रिया नहीं होती-घटित नहीं होती । यदि उत्पत्ति है तो वह पहले अवस्थित हो ही नहीं सकती ।

“क्षणिकाः सर्वं संस्काराः, अस्थितानां कुतः क्रिया ।

भूतिर्येषां क्रिया सैव, कारकः सैव चोच्यते ॥”

सभी संस्कार क्षणिक याने क्षण स्थायी है। वस्तु (स्थित या) अस्थित हो तो उसमें उत्पत्ति कैसी ?

जो अस्तित्व है वही उत्पत्ति है, और वही कारण है। अतः
(१) जीव काल से स्वतः नहीं है (२) परतः नहीं है। वैसे ही
(३) ईश्वर से जीव स्वतः नहीं है (४) परतः नहीं है। ...आदि
८४ भेद होते हैं।

अज्ञानिक के ६७ भेद हैं। वे जीवादि ९ तत्त्वों में से प्रत्येक के साथ सप्तभंगी के 'स्याद् अस्ति, ०^२नास्ति, ०^३अस्ति नास्ति, ०^४अवक्तव्य, ०^५अस्ति अवक्तव्य, ०^६नास्ति अवक्तव्य, ०^७अस्ति-नास्ति अवक्तव्य में से १-१ जोड़ने से $९ \times ७ = ६३$ भेद हुए। तदु-परांत उत्पत्ति के साथ 'स्याद् अस्ति', 'स्याद् नास्ति' आदि ४ भग के १-१ भग जोड़ने से $६३ + ४ = ६७$ भेद होते हैं। वह कहता है (१) कौन जाने जीव है ? (२) कौन जानता है कि जीव नहीं है ? (३) जीव है या नहीं है (४) कौन जानता है कि जीव अवक्तव्य है ? इस तरह से ७ भंग। इसी तरह अजीवादि तत्त्व के साथ। इसी तरह किसे पता वस्तु की उत्पत्ति है ? नहीं है ? है और नहीं है ? या अवक्तव्य है ? तात्पर्य यह कि 'यह कोई भी नहीं जानता।' ऐसा अज्ञानिक मानता है। 'अज्ञानिक' याने (i) मिथ्याज्ञान वाला अथवा (ii) अज्ञान से चलने वाला (iii) अज्ञान के प्रयोजन वाला याने कुछ भी विचार न करके योंही मान लेने वाला कि 'यदि उपरोक्त कुछ भी सत् या असत् आदि देखने जायँ तो कृतनाश आदि आपत्ति आती है, इसलिए अज्ञान ही श्रेयस्कर है।'।

वैयर्थिक मानता है कि वेग आचार शास्त्र को देखे बिना सभी का दिनय करना। उसके ३२ भेद हैं। सुर, नृपति, यति, ज्ञाति, स्वविर, अधम, माता, पिता इन आठ का मन, वचन, काया तथा

दान चार प्रकार से विनय याने $८ \times ४ = ३२$ प्रकार से विनय करना चाहिये ।

इस तरह से $१८० + ८४ + ६७ + ३२ = ३६३$ वाद से मिथ्या-दृष्टि होता है । उनकी तथा उनके मत की प्रशंसा नहीं करना चाहिये । जैसे 'अरे यह भाग्यशाली है ! वह भी तत्त्व-चिन्तक है....' आदि ।

(५) **संसृत्तव** याने मिथ्यादृष्टि का परिचय, संवास, समागम । यह भी त्याज्य है । कारण कि इससे उनकी मिथ्या प्रक्रिया का श्रवण, उनकी अज्ञान क्रिया का दर्शन आदि होते रहने से उसकी रुचि होने का भय है ।

इन शंकादि पांचों अतिचारों (दोषों) का त्याग और 'पसम' आदि ५-५ गुणों का अभ्यास करते रहने से दर्शन भावना होती है ।

प्रश्नमादि ५ गुण :

१. 'प्रश्न' = परिश्रम, स्वपर शास्त्र में परिश्रम से तत्त्व-बोध में कुशल होना । कहा है कि —

'सपरसमयकोसल्लं थिरयाजिणसासणे पभावणया ।

आययणसेव भत्ती दंसणदीवा गुणा पंच ॥

अर्थ:—स्वपर शास्त्र कुशलता, जिन शासन में स्थिरता, प्रभावना, आयतन सेवा और भक्ति ये दर्शन को उज्ज्वल करने वाले ५ गुण हैं ।

२. **स्थिरता:**—अर्थात्: जैन शासन पर अविचल श्रद्धा; वह भी ऐसी कि बड़ा देवता, बड़ा वादी या मायाजाल करने वाला भी डिगा न सके ।

३. प्रभावना याने इतरों में जैन शासन की प्रभावना हो, वाह वाह हो, आकर्षण हो ऐसे सुकृत, सुकृत्य करे ।

४. आयत्तन सेवा:—सम्यग्दर्शन के आयत्तन याने रक्षक स्थानों की सेवा करे तथा अनायत्तन का त्याग करे ।

५. भक्ति:—देव गुरु संघ तीर्थ शास्त्र की भक्ति आदर बहुमान करे ।

५ प्रशमादि लक्षणों का अभ्यास करे

१. प्रशमन: 'अपराधी शुंषण नवि चित्तथकी चित्तवीए प्रतिकूल' याने 'अपराधी के प्रति भी चित्त से प्रतिकूल (याने बुरा) नहीं सोचना', ऐसा उपशम भाव रखे । कारण वह आस्तिक्यादि गुणों से यह देखता है कि 'चाहे सामने वाले ने हमारा बिगाड़ा ऐसा दिखता हो, परन्तु सचमुच तो अपने कर्म ही बिगाड़ने वाले हैं, अतः सामने वाले पर क्रोध करना गैर वाजिब है । सामने वाला तो करुणापात्र है कि बिचारा पाप करके कर्म बांध कर भविष्य में दुःख में गिरेगा । वैसे ही अपना जीव भी करुणा पात्र है कि कर्मों से तो दंड पा ही रहा है, उसमें फिर नये कषाय कर के दुष्कर्म क्यों खड़े करे ?' इस तरह सोच कर अपराधी पर उपशम रखे ।

२. संवेग अर्थात् मोक्षसुख का और उसके लिए देव, गुरु, धर्म का ऐसा रंग हो कि देव तथा मनुष्य भव के सुख भी दुःख रूप लगें, तथा सुख का रंग याने आकर्षण उतर जाय । वह यह समझे कि 'ये जड़ सुख निस्सार, नाशवंत तथा हानिकारक हैं तथा जीव उनमें परतन्त्र है, उनसे ठगा जा रहा है । अतः 'सुर नर सुखजे करी दुख लेखवे, वंछे शिव सुख एक' अर्थात् देव तथा मनुष्य के सुखों को दुःख समझे और मात्र अकेले शिव सुख की ही इच्छा करे ।

६. निवेदः—‘नारक चारक सम भव उभग्यो, तारक जाणीने धर्म; चाहे नीकलवु’, अर्थात् संसार को नरक तथा जेल के वैसे जान कर धर्म को उससे तारने वाला समझ कर निकलना चाहे। संसार वास याने घर में रहने को पुण्य बेचकार केवल पाप खरीदने का धन्धा समझे और दीघ दुर्गति का भ्रमण समझ कर उस पर से नरकागार या जेल वास की तरह उससे बेचैन रहे। उसके प्रति अभाव, ग्लानि, अनास्था रहे और इसलिए ऐसे घर संसार से हमेशा निकल जाने की तीव्र इच्छा रहा करती है।

८. अनुकम्पा:—‘द्रव्यथकी दुखियानी जे दया, धर्म-हीणानी रे भाव’ याने द्रव्य से दुःखी जीव के प्रति दया द्रव्यदया है तथा धर्म हीन के प्रति दया भावदया है। जीव के द्रव्य दुःख भूख, प्यास, रोग, मारपीट आदि को दूर करने की इच्छा द्रव्य अनुकम्पा है; और भावदुःख जो पाप, भूल, कषाय, अज्ञान आदि, वे भाव दुःख हटाने की इच्छा भाव अनुकम्पा है। दूसरे के दुःखों के प्रति समवेदना हो तो ऐसी इच्छा हो कि, दूसरे मेरा दुःख हटायें, ऐसा सोचता हूँ, पर मुझे ऐसी इच्छा करने का अधिकार तभी होगा जब कि मैं दूसरों के दुःखों को शथाशक्ति मिटाने की इच्छा रखता होऊँ। पुनः पापी के प्रति द्वेष नहीं, दया करने जैसी है; क्योंकि वह बिचारा कर्म वश वैसा करता है और भव वृद्धि करके चौदह राजलोक में भटकता है। सब्बे जीवा कम्मवस चउदह राज भमंत’—सभी जीव कर्मवश चौदह राजलोक में भटक रहे हैं। बिचारे कर्म से परवश व्यक्ति पर द्वेष क्या करना? उसे तो दुःख में सहायक बनकर उसे ऊँचा लाऊँ।’

५. आस्तित्व याने ‘जे जिन भाख्यु’ ते नवि अन्यथा, एवो जे दृढ़ रंग।’ जिनेश्वर देव ने जो कुछ कहा है वह अन्यथा नहीं हो सकता, ऐसा दृढ़ रंग होना चाहिये। श्री जिन वितराग देव झूठ

नवकम्माणायाणं पोरणविणिज्जरं सुभायाणं ।

चारित्त भावणाए भाणमयत्तेण य समेइ ॥३३॥

अर्थ:—चारित्र भावना से (१) नये कर्मों का अग्रहण (२) पुराने कर्मों की निर्जगा और (३) नये शुभ का ग्रहण तथा (४) ध्यान सरलता से मिलता है ।

के कारणस्वरूप क्रोध, लोभ, भय, हास्य आदि रहित होने से झूठ बोल ही नहीं सकते । साथ ही सर्वज्ञ होने से अतीन्द्रिय सूक्ष्म कर्म आदि को साक्षात् देख कर उसके बारे में कहने वाले हैं । अतः उनका वचन सम्पूर्ण रूप से मान्य करना चाहिये । 'जिनेश्वर ने कहा वही सच्चा है, जिनेश्वर ने कहा वह सच्चा ही है ।' इस तरह से वह सत्य ही है ऐसा माने (अस्ति) अतः वह आस्तिक्य ही कहलाता है ।

इस तरह शंका आदि ५ दोष हटाकर प्रश्रम, स्थैर्यादि ५ भूषण और प्रशम संवेग, दि ५ लक्षण प्राप्त करना चाहिये । असर्वज्ञ के तत्त्व में जरा भी मूर्छित (मोहित) नहीं होना चाहिये, यह दर्शन भावना कहलाती है । इससे धर्मध्यान की योग्यता आती है, क्योंकि शंका, कांक्षा आदि तथा अप्रश्रम याने शास्त्र अपरिचय आदि तथा अ-प्रशम याने पर अहित चिंतन आदि धर्म ध्यान के विरोधी तत्त्व हैं । इन्हें इस तरह दूर हटाया जाता है, तब धर्म ध्यान को स्वाभाविक ही अवकाश प्राप्त हो जाता है ।

३ चारित्र भावना

अब चारित्र भावना का स्वरूप तथा उसके गुण बताते हैं:—

विवेचन :

चारित्र भावना यानी चारित्र का अभ्यास । जिससे अनिन्दित रूप में चरे-विचरे, उसका नाम चारित्र है । लोक तथा ज्ञानी की

दृष्टि से अनिष्ट बर्ताव जिस प्रकार के क्षयोपशम से होता है, उस क्षयोपशम को चरित्र या चारित्र कहते हैं : प्रत्याख्यानवरण नामक तीसरे क्रोध, मान, माया, लोभ कषायों की चौकड़ी का जब क्षयोपशम किया जाय, तो इससे क्रोध लोभादि कर्म के विपाक याने उदय रुक जाते हैं, तभी आत्मा सचमुच में सर्व विरति भाव में आता है। उसके कारण बाद में वे क्रोधादि कषाय तथा हिंसादि अविरति के योग से जो निष्ठ वाणी विचार या बर्ताव चलता था, वह रुक जाता है और क्षमादि १० यति धर्म के तथा ज्ञानाचारादि पंचाचार के प्रशस्त वाणो, विचार तथा बर्ताव चलते हैं। इस चारित्र का अभ्यास किया जाय, उसका नाम चारित्र भावना। इससे आत्मा ऐसा भावित हो जाता है, ऐसा रंग जाता है कि फिर वह सुखपूर्वक ध्यान कर सकता है।

चारित्र जीवन में तीन वस्तुएँ हैं।

(१) आश्रवों का रुकना।

(२) बारह प्रकार के तप का सेवन। और

(३) समिति गुप्ति आदि शुभ प्रवृत्ति।

इससे तीन प्रकार के फल उत्पन्न होते हैं (१) आश्रव निरोध से नये कर्मों का बंध रुक जाता है। (२) तप सेवन से पूर्व बद्ध ढेरों कर्मों की निर्जरा होती है, क्षय होता है और (३) शुभ प्रवृत्ति से नये शांता यश आदि शुभ कर्मों का उपार्जन होता है। इसका परिणाम यह होगा कि कर्मभार कम होगा, नया नहीं बढेगा और जो पुण्य बढेगा वह भविष्य के लिए आराधना की जोरदार सामग्री जैसे उत्तम भव, सबल पवित्र मन, अदि प्राप्त करवाने वाला बनता है। इससे वहाँ उच्च आराधना द्वारा पुनः कई कर्मों के भार को हलका या कम किया जा सकेगा। इसी तरह सर्व कर्म नाश की ओर तीव्र गति से प्रयत्न होता है।

सुविदियजगत्सभावो निस्संगो निम्भओ निरासो य ।

वेरग्गमावियमणो भाणमि सुनिच्चलो होई ॥३४॥

अर्थ: -वैराग्य भावना से भावित मन वाला जगत के स्वभाव, को अच्छी तरह जानने वाला, निसंग, निर्भय और आशा रहित बन कर ध्यान में सुनिश्चल होता है ।

ऐसी चारित्र भावना ध्यान की भूमिका किस तरह सज्जन करती है ? इसीलिए कि ध्यान में से मन को चंचल करने वाले इन्द्रिय विषय और कषाय तथा हिंसादि पापों के अधिरति स्वरूप आश्रय हैं । परन्तु ये आश्रय यहां चारित्र से रुक जाते हैं । पुनः चारित्र जीवन में मन वचन काया के शुभ योग सतत चालू हैं । विशेषतः मनोयोग स्वाध्याय, समिति, गुप्ति आदि में पकड़ा हुआ रहता है । इससे ध्यान को धक्का लगाने वाले अशुभ योगों में मनोयोग को अवकाश नहीं रहता । इसी तरह ध्यान से चलित करने वाली तन मन की सुकोमलता १२ प्रकार के तप से नष्ट हो जाती है और दृढता व मजबूती आती है । मन का सत्त्व खूब खूब विकसित होता है । अब यह सत्त्व मन को ध्यान में स्थिर रख सकता है । अतः चारित्र भावना से धर्मध्यान सुलभ बनता है, ध्यान में सुखपूर्वक चढ सकते हैं ।

४. वैराग्य भावना

अब वैराग्य भावना का स्वरूप तथा उसकी महिमा बताते हैं-

विवेचन :

वैराग्य भावना में ५ वस्तुएँ हैं:—

१. सुविदित जगत् स्वभाव ।
२. निस्संगता ।

३. निर्भयता ।
४. निराशंसता ।
५. तथाविध क्रोधादि रहितता ।

१. सुविदित जगत्स्वभाव

चराचर जगत के स्वभाव को अच्छी तरह पहचान लिया हो ।

‘जगन्ति जङ्गमान्याहुर्जगद् ज्ञेयं चराचरम् ।’

‘जन्म मरणाय नियतं, बन्धुदुःखाय धनमनिवृत्तये ।’

तन्नास्ति यन्न विपदे । तथापि लोको निराशोकः ॥’

अर्थः—जिसमें पदार्थ प्रति समय नये नये पर्यायों में जाते रहने से जंगम है, उसे जगत कहते हैं। यह चर तथा अचर दो प्रकार का है। मुक्त जीव आकाश, रत्न प्रभादि पृथ्वी मेरु आदि पर्वत, भवन विमान आदि अचर स्थिर हैं तथा अन्य संसारी जीव, तन धन आदि अस्थिर हैं, चर हैं।

ऐसे जगत का स्वभाव कैसा ? जन्म के पीछे अवश्य मृत्यु है। सम्बन्ध व सगे दुख दायक होते हैं। धन अशांति करवाता है। जगत की ऐसी कोई चीज नहीं है जो आपत्ति के लिए न हो। तब भी खेद इस बात का है कि लोगों को इस बात का भान नहीं है, ध्यान नहीं है। यदि उन्हें भान होता तो जन्म, सगे सम्बन्धी तथा धन से अर्थात् काया कुटुम्ब व कंचन से उन्हें वैराग्य हो जाता।

काया का जन्म हुआ अतः मृत्यु होना ही है और वह रंग-राग से भयंकर परलोक का सज्जन करती है। तो फिर उमकी इतनी अधिक माया और सार-संभाल क्यों ? मौत नहीं आती तब तक उसके पास से भारी त्याग, तप, साधना करवा लेना चाहिये। इसके बदले वह रंग, राग भोग तथा आलस व आराम में खतम हो कर एक दिन यकायक ही नष्ट हो जाय तो वह कितना दुःखद है।

लगता है कि सगे सम्बन्धियों से सुख मिलता है; पर सचमुच में तो उससे कष्ट क्लेश तथा आपत्ति ही आते हैं। सगों के लिये ही कितने ही कष्टमय धन्ये या व्यवहार आदि करना पड़ता है। उनके गुस्से होने पर, बीमार पड़ने पर, या आपत्ति में आने पर अत्यन्त दुःख होता है। तो ऐसे कुटुम्बियों से मोह करना किस बात का ? किस लिये ?

वैशेषिक ही धन अशांति उत्पन्न करता है। धन कमाने के लिए, कमाये हुए को संभालने के लिए और मित-व्ययता से भगने के लिए मन को कितनी ही चिंता करनी पड़ती है। धन के कारण ही मन को अशांति रहती है। ऐसे धन पर क्या अन्ध-राग करने लायक है ? इसका भान हो तो उससे विरक्त होकर उसका सदुपयोग और सर्व त्याग भी हो जाय। दुनिया की सभी चीज वस्तुएं माल मेवा हाट-हवेली आदि सभी धन है और वह सब अशांति के लिए होता है।

यों जगत का स्वभाव पहचान लिया जाय तो उस पर वैराग्य जगमगाहट करने लगे।

२. निस्संगता: जगत का स्वभाव जानने पर भी यह संभव है किसी कर्म के उदय से परवशता के कारण कहीं विषय-जन्य स्नेह आसक्ति हो जाय, तब यदि उसे दबाया नहीं जाय, तो आगे धर्मध्यान नहीं हो सकता। अथवा ध्यान का प्रारम्भ हुआ हो तो इस आसक्ति के जागने पर ध्यान रुक जाय। अतः जगत-स्वभाव को अच्छी तरह जानने के अलावा भी जगत के प्रति निस्संगभाव खड़ा करना चाहिये, जिससे बाद में उसकी किसी चीज के प्रति आसक्ति उठने ही नहीं पावे।

निस्संगभाव खड़ा करने के लिए यह सोचना चाहिये कि-

(१) संसार में जन्म जन्म में खिसकते हुए आत्मा ने एक जन्म

के उसी जन्म तक सीमित रहने वाले पदार्थ पर संग, आसक्ति या ममत्व करने का क्या अर्थ है ?

(२) 'चाहे एक जन्म के लिए, पर सुख तो देते हैं न ?' नहीं । चिन्ता, संताप, विह्वलता आदि दुःख और मद, माया, हिंसा आदि अनेकानेक दोष खड़े करते हैं, वहां सुख क्या ? वहां आसक्ति क्यों करनी चाहिये ?

(३) भविष्य का अनन्त काल उज्ज्वल कर सकने वाले परमात्मा, सद्गुरु सद्धर्म यावत् सर्वत्याग को कौन भुलाता है ? कहिये, ये प्रिय बनाए हुए जगत के पदार्थ । तो फिर उन पर आसक्ति क्या करना ?

(४) स्वात्मा के शुद्ध ज्ञान, क्षमादि कषायोपशम, उदासीनता आदि गुणों की ओर दृष्टि नहीं जाती, वह इन बाह्य पदार्थों के ऊपरी दिखावटी गुणों को देखते रहने के कारण ही तो । इसी से आत्म समृद्धि प्रकट करने का इस उच्च जीवन का कर्त्तव्य भुलाया जाता है । तो उस पर संग क्या । इस तरह सोच सोच कर संग या आसक्ति छोड़ कर निस्संगता का अभ्यास करना चाहिये ।

इ. निम्न्यत्ता: निस्संग बनने पर भी सम्भव है कि कभी स्वजाति, विजाति, द्रव्यहरण या मृत्यु आदि का भय खड़ा हो, तो वह मन को विचलित कर के, ध्यान नहीं करने दे या ध्यान-भंग करे । अतः भाग्य पर अटल विश्वास तथा सत्त्व को जागता हुआ रख कर निर्भयता का अभ्यास करना चाहिये । अथवा अपनी आत्मा की उन्नति के बारे में यदि भय रहे कि (१) इस में विघ्न तो नहीं आयेगा ? (२) आयुष्य बीच में ही पूरा हो कर उन्नति का कार्य अधूरा तो नहीं रहेगा ? (३) साधना में से पीछे हटना तो नहीं होगा ? यदि ऐसे ऐसे भय रहें तो इससे भी चिन्ता के परिणाम

चंचल बनते हैं, तो फिर ध्यान में स्थिरता या एकाग्रता कहां से टिकेगी ? अतः ऐसे भयों को छोड़कर निर्भयता का अभ्यास करना भी जरूरी है ।

निर्भयता के अभ्यास के लिए बाह्य वस्तुओं के बारे में इस तरह सोचना चाहिये (१) 'यह सब भाग्य के अनुसार होता है । भाग्यानुसार चलता है, भाग्य अनुसार टिकेगा या टूटेगा । इसमें कुछ भी फर्क नहीं पड़ेगा । तो फिर बेकार भय क्यों रखना । (२) पुनः भयभीत होने में मेरा सत्त्व घटता है; सत्त्व का नाश एक भयंकर हानि है । सत्त्व से ही अनेक गुणों का विकास और साधनाओं में आगे बढ़ा जाता है । बेकार का भय रख कर ऐसे सत्त्व को क्यों घटने दिया जाय ?' इस तरह सोच कर निर्भयता का अभ्यास किया जाय । दूसरी तरफ आत्मा की इन्नति के भय के बारे में (१) विघ्न के भय को रोकने के लिए विघ्न के कारणों को रोकना चाहिये । उदा० प्रवासी को तीन प्रकार के विघ्न आते हैं; १. कांटे लगे, २. बुखार आदि आवे, ३. दिशाभ्रम हो । तो (१) जूतों से कांटे नहीं लगें इससे कांटों के लगने से मुसाफरी नहीं रुकेगी । वैसे ही (२) आहार-विहार पर अंकुश रखे, अतः बुखार आदि रोग नहीं आवे । इसी तरह (३) रक्षण, मागदर्शक या स्पष्ट प्रकार के चिन्हों का पता हो तो दिशामोह नहीं होगा । बस धर्मसाधन मोक्षमार्ग के प्रवास में भी इसी तरह (१) कांटों जैसे विघ्न याने भूख, तृषा, ठंडी, गरमी, आक्रोश सत्कार आदि परिसह खड़े होना सम्भव है; परन्तु पहले से ही परिसहों को समता से सहन न करने का अभ्यास किया हो, उस पर तात्त्विक विचारधारा निश्चित कर रखी हो-तथा अवसर पर उसका उपयोग किया जाता रहे, तो इस भूख आदि से साधना रुके नहीं । इसी तरह (२) हितमित आहार विहार हो तो बुखार आदि रोगों के विघ्न नहीं आवें; और (३) साधना को तात्त्विक रूप में समझ कर रखा हो

तथा सर्वज्ञ-वचन पर अटूट श्रद्धा खड़ी कर रखी हो तो तीसरा दिशामोह विघ्न जैसा मतिमोह विघ्न रुकावट नहीं कर सकता । मतिमोह उठने लगे ता तुरन्त वह तात्त्विक समझ और सर्वज्ञ-श्रद्धा उमे उड़ा दे । इस तरह तीनों प्रकार के विघ्नों के सामने अच्छा सा प्रतीकार खड़ा हो गया हो तो फिर विघ्न का भय रखने का क्या कारण है ? इन तरह सोच कर निर्भयता खड़ी करनी चाहिये ।

वैसे आयुष्य पूर्ण हो जाने से उन्नतिसाधक साधना अधुरी रह जाने का डर भी बेकार है; क्योंकि (१) ऐसे भय से कुछ सुधरता नहीं है, बल्कि भविष्य के भय से जकड़ा हुआ मन वर्तमान साधना में जोरदार रूप से पकड़ा नहीं जाता । (२) फिर कदाचित् आयुष्य जल्दी पूर्ण हो जाने से साधना अधुरी रह गई तो भी क्या बिगड़ा ? यों तो थोड़ा ज्यादा जीने से भी यह साधना वीतरागता प्राप्त करवा कर थोड़े ही पूर्ण होने वाली थी ! अधुरी तो रहती ही । हां, थोड़ी ज्यादा साधना हो जाती । परन्तु इसमें भी यह देखने का है कि जैन शासन में विशेष महत्त्व आभ्यन्तर साधना का और साधना के प्रमाण से भी साधना के जोश, वेग तथा तन्मयता का है । ऐसे ही महत्त्व अन्तिम काल की साधना का है । अतः थोड़े समय की भी साधना आभ्यन्तर परिणति से जोशीली जोरदार बन जाय, यह महत्त्व का है, और वह दूसरे तीसरे भय न रखने से होती है । इससे ही अन्तिम समय में भी साधना में मन तन्मय हो जाने पर उच्च फल मिलता है, जिससे आगे के भव में विशेष ऊँची साधना प्राप्त होती है । यह सोच कर साधना अधुरी रहने का भय भी नहीं रखना चाहिये ।

तो कभी साधना में पीछे हटना पड़े तो ? यह भय भी बेकार है । क्योंकि इस भय में अत्मविश्वास की तथा अपने सत्त्व की दुर्बलता साबित होती है । यदि मजबूत आत्मविश्वास हो तो मन को ऐसा

लगे कि मैंने समझ कर साधना पकड़ी है, अतः अस्थिमज्जा की तरह इसमें मैं रंग गया हूँ। इसमें पीछे हटने की बात ही क्या ? इस तरह सत्त्व अच्छी तरह विकसित हुआ हो तो कायरता के विचार ही नहीं आवेंगे। इस तरह आत्मविश्वास और सत्त्व से भय को हटा कर निर्भयता को खड़ा करना चाहिये। भय से जो ध्यान भंग होता हो, वह इससे रुकेगा।

६. निराशंसता—इस लोक व परलोक के विषयसुख सम्मान आदि की आशंसा आकांक्षा नहीं होनी चाहिये। साधना के फलस्वरूप ऐसी वस्तु की इच्छा नहीं की जानी चाहिये।

प्रश्न पूर्व कथित निस्संगभाव का अभ्यास किया हो फिर ऐसी आशंसा होने का अवकाश ही कहाँ है कि 'निराशंसभाव' गुण का अलग से अभ्यास करना पड़े ?

उत्तर— निस्संगभाव से जगत के पदार्थों के प्रति राग द्वेष आसक्ति न होने देने का अभ्यास तो किया, परन्तु अनादि से अभ्यस्त रागादि के संस्कार वश कभी कहीं नया देखने को मिलने पर आशंसा उठ खड़ी होने की सम्भावना है। जैसे ब्रह्मदत्त के जीव ने पूर्व भव में मुनि के रूप में अच्छा निस्संग भाव तो खड़ा किया था पर चक्रवर्ती के वन्दन करने आने पर, उसकी पटरानी स्त्रीरत्न की मुलायम केशराशि मुनि को वन्दन करते हुए नीचे गिरी और उसका मुनि के पैरों से रपर्श हो गया। ध्यानस्थ मुनि की नीची नजर उस चमकती हुई केशराशि पर गिरने से तथा उसका पैरों से स्पर्श होते ही झनझनाहट पैदा हुई। मन लुब्ध बना, निदान किया। 'अरे, ऐसी मुलायम केशराशि वाली स्त्री कितनी रमणीय होगी ! ऐसी स्त्री मिलने पर साथ में वैभव भी कितना प्राप्त हो ? बस, इस कठोर तप संयम का फल हो तो ऐसा वैभव विलास मिलो।' यह क्या

हुआ ? एक आशंसा जाग उठी और निस्संगभाव दब गया । यदि साथ ही यह सोचा होता, 'यदि सब साधना निराशंस भाव से ही करना है तो मुझे किसलिए ऐसे तुच्छ फल की आशंसा करनी चाहिये ?' और ऐसा सोच कर निराशंसभाव टिका कर रखा होता तो ऐसा पतन नहीं होता ।

ऐसा ही महावीर प्रभु के जीव विश्वभूति मुनि को हुआ । तीव्र वैराग्य से उन्होंने राजाशाही सुखों को छोड़ कर चारित्र लिया, और उसके पालन में निस्संगभाव भी अच्छा प्राप्त किया । परन्तु चचेरे भाई के मजाक करने से अनादि के संस्कार वस्त्र अपमान लगा, मान उछला, एवं भवांतर में बल के मालिक होने की आशंसा खड़ी की और पतन हुआ ।

आशंसा रोकने के लिए इस प्रकार का निर्धार-निर्णय मन में खूब घोट रखना चाहिये कि 'धर्म के फलस्वरूप इस लोक या पर लोक के किसी पदार्थ की मुझे इच्छा ही नहीं करना चाहिये । अमूल्य धर्म को तुच्छ फल के खातिर तथा अविनाशी धर्म को नाशवन्त वस्तु के खातिर बेच डालना नहीं है । क्योंकि इस तरह धर्म को बेच डालने से दीर्घ भावी काल के लिए धर्म के संस्कार ही नहीं रहेंगे । फिर भवांतर में धर्म ही नहीं रहा, तो पापी जीवन ही बना रहेगा; क्योंकि सांसारिक आशंसा से वासना रोग दृढ़ होगा ।'

इस तरह निस्संगभाव के साथ ही निराशंसभाव को अवश्य खड़ा करना चाहिये । इससे मन वैराग्य से अच्छी तरह भावित होगा और ध्यान-भंग नहीं होगा । साथ ही शुभ ध्यान दुर्लभ नहीं होगा । अन्यथा आशंसा दिमाग को पकड़ लेगी तो शुभ ध्यान कहां से प्राप्त होगा ? या टिकेगा ?

५. क्रोधादि रहितता—उपरोक्त गुणों का अभ्यास करने पर भी सम्भव है कि निमित्त मिलते ही या स्वभाव-दोष से

अनादि के संस्कार वश क्रोध अभिमान आदि उठ खड़ा हो । तो यह भी ध्यान के लिए विघ्नरूप होगा । प्रसन्नचन्द्र राजर्षि सुन्दर ध्यान करने वाले होने पर भी दूत का वचन सुन कर गुस्से हो गये तो धर्म ध्यान दूट कर रौद्रध्यान में चढते हुए सातवीं नरक तक के कर्म बांधने लगे । चंडरुद्राचार्य को स्वभाव-दोष से क्रोध चढ आता था । अतः पहले से ही इन कषाय-चोरों को पहचान कर उनके निग्रह का अभ्यास करना चाहिये, उनका त्याग करते रहना चाहिये ।

क्रोधादि से वैराग्य भावितता क्यों नहीं ?

यद्यपि प्रस्तुत गाथा में 'क्रोधादि-रहितता' का स्पष्ट पद नहीं है, परन्तु 'निरासो य' शब्द में से 'य' याने 'च' का अर्थ उस प्रकार के क्रोधादि-रहितता समझने का टीकाकार महर्षि लिखते हैं । उस प्रकार के अप्रशस्त क्रोध लोभ, मान माया ईर्ष्या, हर्ष खेद आदि कषायों को रोकना चाहिये । क्योंकि ये स्थिर वैराग्य-भावितता नहीं आने देते । इसका कारण यह है कि ये क्रोधादि किसी सांसारिक पदार्थ को महत्त्व देने से उठते हैं । और उसे महत्त्व दिया जाय ता उसका प्रति वैराग्य-भावितता दृढ़ कहां से रहेगी ?

क्रोधादि दवाने के लिए क्या सोचना चाहिये ? '(१) सासारिक पदार्थ नाशवन्त है, एक दिन जाने वाला है और ये क्रोध लोभ आदि किये तो उसके संस्कार सिर पर पड़ेगे । तो नाशवन्त को महत्त्व देकर कायम के कुसंस्कार क्यों खड़े करें ? पुनः (२) ये क्रोधादि तो आत्मा के विकार हैं । यदि धर्म-साधना से मुझे आत्मा को शुद्ध हो करना है तो विकारों का पोषण किसलिये करें ?'

यहां इस बात का ध्यान रखना चाहिये कि जगत की चीजों के लिए तो नहीं, परन्तु साधना में अन्तराय करने वाली वस्तु या व्यक्ति की ओर भी गुस्सा उठता हो तो वह भी पसंद करने लायक

निच्चं चिय जुवइ पसु-नपुंसग कुशीलवज्जियं जइणो ।

ठाणं वियणं भणियं विससओ भाणकालंमि ॥३५॥

अर्थ:—यति के लिए हमेशा तथा विशेषकर के ध्यान के समय युवती, पशु, नपुंसक तथा कुशील मनुष्य से रहित एकान्त स्थान जरूरी कहा है ।

नहीं है । क्योंकि उसमें भी अहंत्व काम करता है; साथ ही साधना मात्र बाह्य वस्तु है ऐसा ख्याल रहता है । इसी से गुस्सा उठता है । परन्तु यह कषाय आभ्यन्तर साधना को धक्का पहुंचाता है । ऐसे कषाय कुछ उठे, तो वहां सौम्यभाव या उपशम टिक नहीं सकता । मन वैराग्य से भावित नहीं होता । पीठ महापीठ मुनि अनुत्तर विमान वाले देवलोक में जाने वाले, और फिर ब्राह्मी सुन्दरी बनकर मोक्ष में जाने वाले जीव थे । तब भी वे बाहु सुबाहु (भरत बाहुबली के जीव) मुनि की भक्ति व वैयावच्च की प्रशंसा सहन न कर सके । ईर्ष्या माया अभिमान दिल में उठें, तो वैराग्य भाव को धक्का लगा, आर्त्तध्यान हुआ और नीचे के गुणस्थानक पर उतरे । अतः वैराग्य-भावित मन करने के लिए वैसे क्रोधादि भी होना नहीं चाहिये, उसे उठते ही दबा देना चाहिये ।

इस तरह जगत के स्वभाव का ख्याल, निस्संगता, निर्भयता, निराशंसता तथा तथाविध कषाय-रहितता, इन पांचों का अभ्यास करने वाले का मन वैराग्य से भावित बनता है और वह ध्यान में सुनिश्चल बनता है । ध्यान से चलित करने वाले अज्ञानादि उपद्रव हैं, वस्तु स्वभाव का अज्ञान, आसक्ति, भय, फल-लालसा और छिपे हुए क्रोधादि कषाय । ये धर्मध्यान को जागने ही नहीं देते अथवा जागे हुए को तोड़ देते हैं । ये इन विदित-जगत्स्वभाव, निस्संगता आदि से दूर होने से ध्यान-निश्चलता का आना स्वाभाविक होता है ।

इस तरह से धर्म और शुक्ल ध्यान पर विचार करने के लिए द्वार गाथा में कहे हुए प्रथम द्वार 'भावना' का विचार किया ।

ध्यान के लिए देश (स्थान)

अब देश द्वार का विचार करते हैं:—

विवेचन :

ध्यान के लिए स्थान युवती आदि से रहित होना चाहिये । यों तो केवल ध्यान-काल में ही नहीं, किन्तु हमेशा मुनि के रहने का स्थान स्त्री आदि के वास या संचार से रहित एकान्त होना चाहिये, ऐसा तीर्थङ्कर भगवान तथा गणधर देवों ने कहा है । अतः ध्यानकाल में तो खास करके ऐसा एकान्त स्थान होना ही चाहिये, जरूरी है । कोई भी मानवी स्त्री या देवी, पशु स्त्री या नपुंसक या जुआरी आदि कुशील का संपर्क नहीं होना चाहिये । इन सबसे अलिप्त स्थान होना चाहिये । क्योंकि स्त्री आदि के सम्पर्क वाले स्थान में जिनागम कथित दोषों की उत्पत्ति होती है ।

सामान्य रूप से ब्रह्मचर्य पालन करने वाले के लिए भी नौ बाड़ में से यह एक बाड़ (Fence) पालन करने की है कि स्त्री आदि के वास या संचार से रहित निवास स्थान होना चाहिये । तो साधु के लिए तो विशेषतः ऐसा एकान्त स्थान जरूरी है । स्त्री चाहे वह पशु स्त्री हो, विजातीय तत्त्व है, अतः उसका दर्शन कामवासना का उत्तेजक है । नपुंसक तीव्र वासना से पीड़ित होने से चाहे जैसी चेष्टा करे, इससे वह भी कामोद्दीपक बनता है । अनादि मोह के संस्कार सम्पूर्ण वीतराग होने के पहले सर्वथा नष्ट नहीं होते; इससे निमित्त मिलने पर वे उद्बुद्ध या जाग्रत् बन कर जीव को मोह-मूढ कर देने की पूर्ण सम्भावना है । इसीलिए ऐसे निमित्त से दूर रहना खास जरूरी है । विजातीय तत्त्व स्त्री एक ऐसा ही निमित्त है ।

पास में उसका बसना भी खराब है और उसका आना जाना या दृष्टि पथ में पड़ना भी बुरा है। यह तो ब्रह्मचर्य की अपेक्षा से हुआ।

बाकी समय-चारित्र्य की अपेक्षा से कुशीलाचारी का संपर्क भी अनिर्कर्ता है। उदा० जुआरी, शराबी, शराब बेचने वाला, पर-स्त्रालपट आदि के सहवास में साधु रहे तो उनकी खराब बातें साधु के कान पर भी पड़े या उनको यह कुशील प्रवृत्ति उसकी नजर में चढ़े और इससे उसके समय भाव को धक्का लगे।

मुनि को अपने रहने के लिए भी जब स्त्री आदि से अलिप्त ऐसा एकान्त स्थान चाहिये, तो फिर ध्यान के लिए तो खास करके ऐसा स्थान आवश्यक है; क्योंकि ध्यान में तो जिनाज्ञादि किसी एक शुभ विषय पर मन को एकाग्र रखना जरूरी है। पुरुष साधु के लिए जैसे स्त्री सम्पर्क का त्याग वैसे साध्वी के लिए पुरुष सम्पर्क का त्याग; एवं दोनों के लिए नपुंसक सम्पर्क का त्याग; यह यथायोग्य समझ लेना चाहिये। न्याय है: 'एक जातीय ग्रहणे तज्जातीय ग्रहणम्' अर्थात् एक प्रकार की कोई बात की हो तो उसमें उसी जाति या प्रकार की और वस्तु आ जाती है। अतः यहां जब मुनि की बात की तो उस पर से साध्वी को पुरुष के वास या संचार से रहित स्थान चाहिये, यह बात समझ लेने की ही है। यह स्त्री आदि से रहित स्थान की बात अपरिणत योगी के लिए हैं। क्योंकि उसे अभी योग का अभ्यास चलता है। अतः योग उसे परिणत अर्थात् आत्मसात् नहीं हुआ। इससे बाधक तत्त्व हटाने का प्रयत्न चालू हो वहां तक योग अवस्था टिके अन्यथा योगभ्रष्ट होने का सम्भव है। अतः स्त्री आदि के सम्पर्क वाले स्थान में उनके लिए ध्यान की आराधना असम्भव है।

यह अपरिणत योगी के लिए ध्यान के स्थान की बात कही। अब परिणत योगी के बारे में विशेष वस्तु कहते हैं:—

थिरकयजोगाणं पुण मुणीण भाणो सुनिच्चलमणाणं ।

गामंमि जणाङ्णो सुणो रणो व, न विसेसो । ३६॥

अर्थ:—संघयण तथा धृतिबल वाले अभ्यस्त योगी, जीवादि पदार्थों का मनन करने वाले विद्वान, तथा धर्मध्यान में अत्यन्त निष्प्रकम्प मन वाले मुनि को तो लोगों से व्याप्त गांव में या शून्य स्थान में या जंगल में (चाहे जहां ध्यान करे उसमें) कोई फर्क नहीं पड़ता ।

विवेचन :

परिणत योगी आदि के लिए ऐसे स्त्री आदि से रहित स्थान का ही नियम नहीं है । परिणतयोगी याने जिसका शरीर संघयण मजबूत है और जिनका धृति-धैर्य भी स्थिर है तथा जो कृतयोगी हैं ।

कृतयोगी—अर्थात् कृत याने अच्छी तरह अभ्यस्त हैं योग जिन्हें वे ।

योग याने पूर्व कथित ज्ञान-भावना, दर्शन-भावना आदि भावित करने को प्रवृत्ति, अथवा जिनकल्पिकादि मुनिपन प्राप्त क ने के लिए पहले जो सत्त्व भावना, सूत्र भावना तथा तप भावना आदि का अभ्यास करना चाहिये वही ।

सत्त्वभावना में—स्मशान जैसे में भी अकेले निर्भोकता से रात भर 'कायोत्सर्ग' ध्यान में रहने के सत्त्व का अभ्यास करना होता है । **सूत्र भावना** में सूत्र को परावर्तन (पुनरावर्तन) करके इतना परिचित करना होता है कि कितने सूत्र स्वाध्याय में कितना समय गया, इसका पता चल जाय । इतना स्पष्ट अक्षर से तथा व्यवस्थित समय से चलने वाले सूत्र अर्थ के परावर्तन का अभ्यास किया जाता है । **तपभावना** में तप के ऐसे बल का

अभ्यास किया जाता है कि तप के समय में आहार का विकल्प ही न उठे तथा पारणा करते समय निर्दोष तथा निश्चित अभिग्रह वाली भिक्षा न मिले तो तप समाधिपूर्वक आगे बढ़ाने का सामर्थ्य हो।

स्थिर कृतयोगी की चतुर्भंगी:—इस ज्ञान-भावनादि व सत्त्वभावनादि के रूप में याग का जिन्हें अच्छा अभ्यास हो गया हो वे कृतयोगी कहलाते हैं। स्थिर तथा कृतयोगी की चतुर्भंगी इस प्रकार होनी है:—(१) कुछ स्थिर याने संघयण तथा धृति बल वाले हों, पर कृतयोगी न हों। (२) कुछ स्थिर न हों, पर कृतयोगी हों। (३) कुछ स्थिर भी और कृतयोगी भी होते हैं, एवं (४) अन्य कुछ स्थिर भी नहीं तथा कृतयोगी भी नहीं। इसमें तो तीसरा विकल्प यहां परिणत योगी के रूप में लेने का है। इसका कारण यह है कि यदि वह कृतयोगी होने पर भी स्थिर न हो, तो संघयण बल या धृति धैर्य के अभाव में किसी उपद्रव में ध्यान से डिग जाने की संभावना है। अतः जो स्थिर होने पर भी कृतयोगी न हो तो अभ्यास दशा में विपरीत संयाग आने पर विचलित होने की संभावना है, अतः दोनों गुण होने चाहिये।

यह तो स्थिर तथा कृतयोगी के दो गुणों की बात हुई। अथवा 'स्थिर किये हुए योग वाले' नामक एक ही गुण को भी लिया जा सकता है। इसका अर्थ है जिन्होंने बारबार योगाचरण करके योग को खूब परिचित किया हो वे स्थिर कृतयोगी। जैसे भोगी को भोग का परिचय होता है अर्थात् भोग को खास याद किये बिना ही जरा जरा में याद आ जाते हैं, इसी तरह इन्हें योग के खूब अभ्यास से प्राप्त अच्छे परिचय से योग स्वाभाविक बन जाता है। ऐसे गाढ परिचित तथा सुअभ्यस्त किये हुए योग वाले परिणत योगी कहे जाते हैं। ये पूर्वोक्त तीसरे विकल्प वाले ही होंगे।

ऐसे अच्छी तरह अभ्यस्त योग वाले मुनि को स्थान का

जो (तो) उत्थ समाहाणं होज्ज मणो वय काय जोगाणं ।

भूओवगेहरहिओ सो देसो भायमाणस्स ॥३७॥

अर्थ:— ध्याने करने वाले को जहां मन वचन काया के योगों की स्वस्थता रहे, ऐसा जीवसंघट्टा आदि की विराधन से रहित स्थान योग्य है ।

नियम नहीं है । मुनि याने जीव अजीव आदि तत्त्वों का मनन करने वाले; इन प्रत्येक तत्त्वों का भिन्न भिन्न स्वरूप, उनके गुण-दोष, अपाय-उपाय, हेय ज्ञेय-उपादेयता आदि पर गम्भीर चिंतन मनन परिणामन करके ऐसा आत्म-समन्वय करने वाले हुए हों कि चाहे जिस स्थान पर उनका ध्यान अखण्ड चल सकता है ।

अलवत्ता वे सुनिश्चल मन वाले होने चाहिये । मन धर्मध्यान में अत्यन्त निष्कम्प होना चाहिये । तभी उनके लिए स्थान का नियम नहीं । ध्यान लोगों से भरे गांव में करें, शून्य घर में करें या जंगल में करें, पर ध्यान में फर्क नहीं पड़ता । यहां 'गांव' शब्द से एक जातीयग्रहण में तज्जातीय का ग्रहण हो इस न्याय से नगर, बन्दर, कस्बा, उद्यान आदि समझ लेना चाहिये । वे सभी जगह ध्यान कर सकते हैं । क्योंकि उन्हें तो सभी स्थानों के प्रति समभाव है । उदा० भरा हुआ गांव उन्हें प्रतिकूल नहीं होता और शून्य घर ही उन्हें अनुकूल हो ऐसा नहीं । इसका कारण है कि वे अभ्यस्त योगी तत्त्व-परिणत हो चुके हैं । तत्त्व परिणति आई अर्थात् अन्तर में (मन में) तत्त्वपरिणत हो गया । फिर तो गांव या जंगल सभी उनके लक्ष या ध्यान से बाहर रहता है और किसी भी विशेषता से रहित होने से उनके मन समान है ।

काय-वाग् मनोयोगमय ध्यान

विवेचन :

ऐसे परिणत अपरिणत योग वाले के स्थान का जो विचार किया, उसका सार यह है कि ध्यान करने वाला खास तौर से यह देखे कि 'कैसे गांव आदि स्थान में अपने मन वचन काया के योग स्वस्थ रहते हैं ?' बस वह स्थान उसके लिए ध्यान के योग्य देश (स्थान) बनता है ।

प्रश्न — ध्यात् के लिए मनोयोग की स्वस्थता तो जरूरी है क्यों कि ध्यान मनोयोगमय है । परन्तु वचन व काययोग की स्वस्थता किस तरह जरूरी है ?

उत्तर— बात सच है, परन्तु मनोयोग की स्वस्थता पर वचन-योग व काययोग की स्वस्थता उपकारक है । यदि वचनयोग अस्वस्थ हो उदा० अगर चाहे जैसे पाप शब्द, विकथा के शब्द आदि बोले जाते हैं, तो स्वाभाविक तौर से उससे मनोयोग याने विचार व्यापार बिगड़ता जाता है । ऐसे ही काययोग में परस्त्री आदि का तरफ आंखें देखती रहे, तो भी मनोयोग बिगड़ता है । इसके उलटे वाग् व्यापार धर्म का चलता हो, उदा० वैराग्य के काव्य बोले जाते हों, या काययोग परमात्मा की या किसी तपस्वी सयमी या सन्त को उपासना में हो तो उससे अच्छा मनोयोग चलता है । अतः चाहे ध्यान मनोयोगमय हो, तब भी इसके लिए प्रशस्य वाक्काययोग जरूरी है ।

जैन शासन की दूसरी एक विशिष्ट बात यह है कि ध्यान स्थिर मनोयोगमय की तरह स्थिर स्वस्थ वचनयोगमय और काय-योगमय भी होता है । कहा है:—

‘एवंविहा गिरा मे वत्तव्वा, एरीस न वत्तव्वा ।

इय वेयालियवक्कस्स भासओ वाइमं भाणं ॥

सुसमाहित्यकर पायस्स अकज्जे कारणमि जयणाए ।

किरियाकरणं जं ते काइयभाणं भवे जइणो ॥

इस प्रकार की भाषा बोलना, इस प्रकार की नहीं बोलना, ऐसे दशवैकालिक सूत्र के वचनानुसार बोलने वाले को वाचिक ध्यान होता है । तथा हाथ पैर को अच्छी तरह व्यवस्थित रखकर उसे अकार्य में नहीं जोड़ने वाला और कारण हो तो जयणापूर्वक क्रिया करने वाले यति का यह क्रिया-करण ध्यान है ।

इससे सूचित होता है कि स्वस्थ वचन योग काययोग भी ध्यान रूप है । इस ग्रंथ में आगे जाकर कहा जायगा कि 'ध्यान' का अर्थ (१) 'ध्ये' चिन्तायाम् (२) 'ध्ये' कायनिरोधे (३) 'ध्ये' अयोगित्वे है । याने एकाग्रचित्तन, कायनिरोध और अयोगिता करण ऐसे अर्थ होते हैं । साथ ही ग्रंथ के अंत में यह भी लिखा है कि मुनिकी सब क्रिया ध्यान रूप ही है । इस तरह से वचनयोग व काययोग ध्यान रूप बनते हैं ।

यहां एक खास बात समझने की यह है कि ध्यान के योग्य देश के रूप में स्थान मात्र योग का समाधानकारी याने स्वस्थताकारी हो इतना ही काफी नहीं है । किन्तु वह 'जीवोपरोध रहित' भी होना चाहिये । जीवोपरोधरहित याने जहां पृथ्वीकायादिजीवों का संघट्टा होता हो, जीवों को परिताप होता हो, इत्यादि जीव विराघनावाला स्थान नहीं होना चाहिये । ध्यान में बैठने से चाहे अपने हाथों जीवों को दुःख न भी पहुंचता हो, किन्तु उस स्थान में जीवों को दूसरों से भी दुःख पहुंचता हो, तो भी वह स्थान ध्यानयोग्य नहीं गिना जायगा । क्योंकि यति के दयापूर्ण हृदय को यह देख कर स्वाभाविक ही उन जीवों के प्रति भाव, दयार्द्रता होगी, जिससे चित्त उसमें जाने से प्रस्तुत विषय के ध्यान का भंग होगा ।

कालो वि सो च्चिय जहिं जोगसमाहाणमुत्तमं लहई ।

न उ दिवसनि सावेलाइ नियमणं भाइणो भाणयं । ३८॥

अर्थ:—ध्यान करने वाले के लिए काल ऐसा होना चाहिये कि जिसमें योगस्वस्थता उत्तम प्राप्त हो। परन्तु दिन ही या रात्रि कालादि ही योग्य समय है, ऐसा नियम नहीं है। ऐसा तीर्थंकर गणधरो ने कहा है।

इतना ही काफी नहीं है। किन्तु 'एकजातीय के ग्रहण से तज्जातीय दूसरे का भी ग्रहण होता है।' इस न्याय से 'जोवोपरोध' शब्द से हिंसा जैसे असत्य, अदत्तादान, मैथुन, परिग्रह इत्यादि पाप भी संग्रहित होता है। अतः ऐसे पापों का जहाँ सेवन होता हो वह स्थान भी नहीं चाहिये। इसका भी कारण यही है कि योगी का हृदय पापघृणा वाला होने से दूसरों का पाप नजर समक्ष आते ही उन पापों के प्रति घृणा तथा पाप करने वाले जीवों के प्रति दया के असर वाला हो जाने की संभावना है और इस घृणा व दया के उठ आने से ध्यान भंग होता है।

अतः ध्यान के योग्य स्थान ऐसे जीवहिंसादि पापरहित होना चाहिये। इस पर से यह सूचित होता है कि मुनि का दिल परिग्रहादि पापों के प्रति कैसा होना चाहिये। यह 'देश' की बात हुई।

ध्यान के लिए काल

अब ध्यान योग्य 'काल' की बात कहते हैं:—

विवेचन :

काल याने कलन, जिसमें गिनती हो अथवा काल याने कला समूह ढाई द्वीप समुद्र में सूर्य चंद्र की गति क्रिया से सूचित दिन आदि। 'कालो वि' में 'वि' अक्षर समानता बताने वाला है। ध्यान करने वाले के लिए जैसे देश योग्य होना चाहिये इतना ही, पर नाम

जच्चि देहावस्था जियाण भाणोवरोहिणी होइ ।

भाइज्जा तदवत्थो ठिओ निसण्णो निवण्णो वा ॥३९॥

अर्थ:— कोई भी अभ्यास की हुई देह की अवस्था जो ध्यान के पीड़ा उत्पन्न करने वाली नहीं, उस अवस्था में रहकर ध्यान करे । चाहे खड़े खड़े काउस्सग ध्यान से चाहे वीरासनादि में बैठकर या लंबे हाँकर या सिकुड़कर सोते हुए भी ।

से अमुक ही देश, स्थान, आदि का नियम नहीं; इसी तरह काल में भी अमुक समय हो ऐसा नियम नहीं, किन्तु इतना ही कि काल भी योग्य चाहिये, यह कहा है ।

योग्य काल कैसा ? जहाँ योग का उत्तम समाधान मिले, योग की उत्तम स्वस्थता मिले, जिस समय मन वचन काया का व्यापार स्वस्थ हो उस समय ध्यान हो सकता है । यह काल दिन में हो वैसे ही रात्रि में भी हो सकता है । कोई भी मुहूर्त (याने दो घड़ी) आदि या दिन का पूर्वं हिस्सा या पिछला हिस्सा भी हो सकता है । अमुक दिन ही या रात्रि ही या पूर्वान्ह ही, ऐसा कोई नियम नहीं । इस तरह तीर्थङ्कर देवों तथा गणधर देवों ने कहा है यह काल द्वार का विचार किया ।

ध्यान का आसन : योग-समाधान ही ध्यान

अब 'आसन विशेष' द्वार की व्याख्या करने के लिए कहते हैं:—

विवेचन :

ध्यान किस आसन से करना चाहिये ? इसके लिए भी यह नियम नहीं कि पद्मासन आदि से ही हो । किन्तु शरीर की जो अवस्था स्वयं को अभ्यस्त हो, जिसकी आदत पड़ गई हो या जो उचित हो, उस अवस्था में रह कर ध्यान किया जाय । अलबत्ता

सव्वाणु वट्टमाणा मुणओ जं देसकाल चेद्वासु ।

वर केवलाइलाभं पत्ता बहुसो समिय पाव ॥४०॥

अर्थ:—देश काल आसन का नियम नहीं है क्योंकि मुनि सभी देश काल या शरीर अवस्था में रह कर पाप का शमान करके अनेक बार मुख्य केवल ज्ञानादि को प्राप्त कर चुके हैं ।

वह अवस्था ऐसी होनी चाहिये कि जिससे थकान या विह्वलता होने से चित्त उसमें जाकर ध्यानभंग जो होता है, वह न हो । यदि उस अवस्था में बीच में अंगोपांग घुमाने पड़ते हों, तो उसका अर्थ यह हुआ कि वहां थकान का अनुभव हुआ । इससे ध्यान में से चित्त डिगता है, ध्यान अस्खलित होता है ।

अतः मुख्य बात यह है कि ध्यान अस्खलित चल सके, ऐसा कोई भी स्थिर आसन याने स्थिर रहने वाली शरीर की अवस्था ध्यान के लिए योग्य आसन है । फिर चाहे वह खड़े खड़े काउस्सग (पालखी) की अवस्था सेहो, बैठे बैठे वीरासन, पद्मासन या पर्यकासन से हो अथवा जीवन के अन्तिम काल में पादपोषगमन अनशन में जैसे सोने की अवस्था रखी जाती है, वैसे लम्बे होकर या सिकुड़ कर सोते हुए आसन से भी किया जा सकता है । अत्यन्त बीमार तथा शय्यावश हो तो क्या करे ? वह सोते सोते भी ध्यान कर सकता है । परन्तु तन्दुरुस्त होकर वैसा करे तो प्रमाद, निद्रा या झोके उसे आ जावेंगे । 'ध्यान अस्खलित व अखंड' का अर्थ यही कि जिसमें बीच में कोई विक्षेप नहीं आवे याने दूसरे विचारों में मन न खिचे अथवा प्रमाद या निद्रा भी नहीं आवे ।

दूसरे तो ध्यान के लिए गुफा आदि स्थान ही, दिन या रात्रि का अमुक निश्चित समय तथा निश्चित पद्मासन आदि जरूरी बताते

तो देशकाल चेष्टा नियमो भ्राणस्स नत्थि समयंमि ।

जोगाणं समाहाणं जह होइ तहा जइयव्वं ॥४१॥

अर्थ:—इसीलिए आगम में 'देश काल शरीर चेष्टा' आदि वही चाहिये, ऐसा नियम नहीं है । सिर्फ (इतना ही नियम कि) योगों की स्वस्थता जिस तरह रहे वैसा प्रयत्न करना चाहिये ।

हैं और उसके बिना ध्यान हो ही नहीं सकता ऐसा कहते हैं । तो यहां स्थान, काल या आसन का ऐसा कोई नियम क्यों नहीं किया ? इसकी स्पष्टता करते हैं:

विवेचन :

ध्यान के लिए देशकाल आसन का नियम नहीं बांधने का कारण यही है कि मुनि ढाई द्वीप के सभी स्थानों में, दिन व रात्रि के सभी समय में और किसी भी चेष्टा प्रवृत्ति या शरीर अवस्था में पाप का शमन करके (पाप नष्ट कर के) केवलज्ञान आदि पा चुके हैं । केवलज्ञान की प्राप्ति ध्यान बिना तो हो ही नहीं सकती; क्यों कि कठोर तपस्या आदि करने से अमुक ढेरों कर्म नाश करने के बाद भी जो घाती कर्म के पाप बाकी रहते हैं उसे तोड़ने की ताकत एकमात्र ध्यान में है । तो चाहे जिस स्थान आदि में केवलज्ञान हुआ उसे ध्यान तो हुआ ही, तो फिर ध्यान के लिए अमुक ही स्थान आदि का नियम कहाँ रहा कि उसमें ही ध्यान हो सकता है ?

अकेला केवलज्ञान ही नहीं, पर अवधिज्ञान मनःपर्यवज्ञान आदि भी, ध्यान से पापों का शमन होने से, प्रकट होते हैं और यह ध्यान भो कईयों को अनियत अर्थात् अनिश्चित स्थानादि में होता रहा है । वह भी एक ही बार नहीं पर अनेक बार । यह सूचित करता है कि ध्यान के लिए अमुक ही देश काल या आसन हो ऐसा

आलंबणार्थं वायणं पुच्छणपरियट्ठणाऽणुचिंताञ्च ।

सामाध्यायं सद्धम्मावस्सयाइं च ॥४२॥

अर्थः—(धर्म ध्यान में चढने के लिए निर्जरा के लिए कराने वाली सूत्र की) वाचना में याने पठन पाठन, शंकित में पृच्छा, पूर्व पठित का परावर्तन, अनुचितन, अनुस्मरण और चारित्र धर्म के सुन्दर अवश्य कर्तव्य, सामायिक पडिलहेन आदि साधु समाचारी उसका आलंबन है ।

नियम नहीं है । तब भी इतना सच है कि ध्यान का अभ्यास करने वाले को अपने तीनों योगों की स्वस्थता रहे तथा ध्यान भंग न हो वैसे देश काल आसन रखना चाहिये ।

यह बात सारांश में पुनः कहते हैंः—

विवेचन :

जीव किसी भी देश आदि में केवलज्ञान प्राप्त कर चुके हैं अतः ध्यान के लिए देश काल शरीर चेष्टा अवस्था आसन अमुक ही चाहिये ऐसा नियम नहीं है । आगम में कहा भी ऐसा नियम नहीं रखा । यदि नियम है तो इतना ही कि ध्यान करने में मन वचन काया के तीनों योग समाहित-स्वस्थ होने चाहिये और इस तरह प्रयत्नशील रहना चाहिये कि जिससे योगों का समाधान हो, स्वस्थता रहे ।

यहां तीनों योगों का समाधान याने स्वस्थता कहा है उसका अर्थ यह है कि कोई भी धार्मिक प्रवृत्ति प्रतिक्रमणादि कायिक प्रवृत्ति या स्वाध्यायादि वाचिक प्रवृत्ति अथवा तत्त्व चिंतन या अनित्यादि भावना चिंतनादि मानसिक प्रवृत्ति स्वस्थता से शास्त्र विधि के अनुसार चलती हो उसमें ध्यान हो सकता है और पूर्व में कहा

वैमे जबरदस्त पापकर्मों को नष्ट कर सकता है । इस तरह आसन-द्वार का वर्णन हुआ ।

ध्यान के लिए आलम्बन

अब आलम्बन द्वार का अवयव अर्थ बताने के लिए कहते हैं:—

विवेचन :

पूर्व-कथित ज्ञान-भावनादि चार भावनाओं से मन को अच्छी तरह भावित किया हो अतः आत्मा योग्य देशकाल आसन में त्रिविध योगों को स्वस्थ रखने के लिए अभ्यस्त हुआ । वह आज्ञा-विचय आदि धर्मध्यान में कौन कौन से आलम्बन से चढ सकता है अर्थात् ऐसी कौन कौन सी प्रवृत्ति रखे कि उसके आधार पर धर्म ध्यान हो । ये आलम्बन यहां बताते हैं ।

इसमें पहला आलम्बन 'वाचना' है । वाचना याने गणधर-देव आदि द्वारा रचित सूत्र का योग्य शिष्य को धर्म निर्जरा के हेतु से दान देना चाहिये, सूत्र पढ़ाना चाहिये । वह पढ़ाने में उसका अर्थ पढ़ाना भी समाविष्ट होता है । उपलक्षण से सूत्र अर्थ का ग्रहण याने गुरु के पास सूत्रार्थ पढ़ने का समझ लेना चाहिये । इस वाचना का आलम्बन यानी प्रवृत्ति रखे तो उसमें मन एकाग्र होने से धर्म-ध्यान में चढ सकता है ।

इसी तरह 'पृच्छना' अर्थात् पढ़े हुए में जहां शंका हो, प्रश्न उठे, तो गुरु के पास जाकर उसके निराकरण के लिए विनय से पूछे । फिर 'परियट्टण' अर्थात् पढ़े हुए सूत्र व अर्थ को भुलाया न जाय, और वाचना के अतिरिक्त समय में भी शुभ प्रवृत्ति रहे उसके लिए पढ़े हुए सूत्र अर्थ का परावर्तन पुनरावृत्ति पारायण करे । वैसे ही 'अनुचिंता' अर्थात् सूत्रादि का विस्मरण न हो उसके लिए मन से ही चिंतन करे । यह 'वायण पुच्छण परियट्टणाऽनुचिंताओ' का द्वन्द्व समास हुआ ।

श्रुतधर्म-चारित्रधर्म: यह वाचना आदि प्रवृत्ति श्रुत धर्म के अन्तर्गत गिनी जायगी। धर्म की आराधना दो प्रकार से करने की है। श्रुत धर्म व चारित्र धर्म। श्रुत धर्म के रूप में वाचनादि प्रवृत्ति रखना चाहिये और चारित्र धर्म के रूप में अब जो कहेंगे वह सामायिकादि आवश्यकों का आचरण करना चाहिये।

सामायिकादि में सामायिक, पडिलेहन आदि समस्त चक्रवाल समाचारी (साधु की) आती है। 'सामायिक' तो प्रसिद्ध है। सावद्य योगों का मन वचन काया से प्रतिज्ञापूर्वक त्याग करके राग द्वेषादि रहित समभाव में आना सामायिक कहलाता है। इसमें स्वाध्याय ध्यान महाव्रत समिति गुप्ति का पालना आदि करना होता है।

पडिलेहन में मुहपत्ति (मुखवस्त्रिका) का तथा वस्त्र, पात्र, वसति (स्थान) का प्रत्युपेक्षण प्रमाजंन करने का आता है जिससे कोई जीव-जन्तु मरे नहीं। इत्यादि समस्त चक्रवाल समाचारी का पालन ही ध्यान के लिए आलम्बन रूप होता है।

साधु जीवन में गुरु तथा गच्छ के साथ रहते हुए 'इच्छाकार' अर्थात् दूसरे को कुछ काम बताना हो तो उसको वह करने की इच्छा पूछना चाहिये। 'मिच्छाकार' याने भूल होने पर मिथ्यादुष्कृत देना चाहिये। 'तहत्तिकार' याने गुरु वचन तुरन्त 'तहत्ति' (तथास्तु) कह कर स्वीकार करना, अपने स्थान या मन्दिर में घुसते व बाहर निकलते हुए 'निसिहि' या 'आवस्सही' कहना चाहिये। गोचरी (भिक्षा) जाते वक्त और आहार लाने के बाद मुनियों को 'छंदणा' (इच्छा) पूछना तथा 'निमंतणा' करना इत्यादि आचार का पालन करना चाहिये। इस तरह पांच समिति व तीन गुप्ति की प्रवृत्तियों जिसमें ४७ दोष रहित गोचरी लाने व उसका उपयोग करने की प्रवृत्ति भी आ जाती है। ये तथा दोनों समय के प्रतिक्रमण की

विसमंमि समारोहइ दढदन्वालंबणो जहापुरिसो ।

सुताइ कयालंबो तह भाणवरं समारुहई ॥४३॥

अर्थ:—जिस तरह मनुष्य नीचे के किसी स्थान से मजबूत रस्सी आदि द्रव्य के आलम्बन से ऊपर चढ़ जाता है, उसी तरह सूत्रादि का आलम्बन करने वाला उत्तम ध्यान (धर्म ध्यान) पर चढ़ जाता है ।

क्रिया, देव-वन्दन की क्रिया आदि बराबर शास्त्रोक्त विधिपूर्वक किये जायं । ये सब साधु का आचार है और वे चारित्रधर्म में सुन्दर आवश्यक हैं याने अवश्य कर्तव्य हैं ।

इस तरह श्रुत धर्म के वाचना पृच्छना आदि सत्कृत्य तथा चारित्र धर्म के सामायिकादि आवश्यक सत्कर्तव्य ध्यान के लिए आलम्बन रूप हैं । उसमें मन लग जाय, तो धर्म ध्यान सुलभ (सरल) बन जाता है । ये आलम्बन के पदार्थ भी बताते हैं कि ध्यान के अर्थों को संसार की बेकार बातों (उधेड़बुन) में से छूट कर ऐसी प्रवृत्ति में लग जाना चाहिये ।

अब इन श्रुत-चारित्र-धर्म के अंगों को ही आलम्बन रूप क्यों कहा, उसका कारण बताते हैं:—

विवेचन :

मनुष्य किसी कुंए आदि में गिर गया हो तो उसे किसी मजबूत रस्सी आदि का आलम्बन या आधार के रूप में मिलने पर उसके आधार से ऊपर चढ़ जाता है । वह चढ़ेगा अपने पुरुषार्थ तथा अपनी शक्ति से ही, किन्तु रस्सी या सीढ़ी आदि कुछ भी साधन, आधार या आलम्बन नहीं मिले तो वह नहीं चढ़ सकता । इसी तरह यहाँ दुर्ध्यान कुविकल्प आदि में पड़ा हुआ जीव गणधरादि

भाण्यपडिवशिकमो होइ मणोजोगनिगहाईओ ।

भवकाले केवल्लिणो, सेसाण जहा समाहीए ॥४४॥

अर्थ:—ध्यान प्राप्ति का क्रम (मोक्ष मार्ग के अति निकट के) संसार काल में केवलज्ञानी को मनोयोग निग्रह आदि होता है । अन्यो को स्वस्थानुसार (होता है ।)

से रचित सूत्र की वाचनादि का आलम्बन ले कर धर्मध्यान में चढ़े जाता है । शुभ ध्यान में अपने मन से या पुरुषार्थ से ही चढ़ा जाता है किन्तु ऐसी वाचनादि श्रुतधर्म या सामायिकादि आवश्यक का आलम्बन नहीं करे तो धर्मध्यान में नहीं चढ़ सकता । आगेसा भवन में या लगने मण्डप में धर्मध्यान में चढ़े वे भी सूत्रोक्त शुभ चिंतन का आलम्बन कर के ही चढ़े । अतः ध्यान के लिए आलम्बन अति महत्त्व की वस्तु हैं । यह 'आलम्बन' द्वार कहा ।

धर्म-शुक्ल-ध्यान में क्रम

अब क्रम द्वार आता है । वह लाघव के लिए याने संक्षेप में पूर्ण हो इसलिए धर्मध्यान और शुक्लध्यान दोनों का क्रम बताते हुए कहते हैं:—

विवेचन :

ध्यान प्राप्ति का क्रम दो तरह से है:—(१) केवलज्ञानी महर्षि जब मोक्ष पाने के अति निकट के काल में अर्थात् अन्तिम शैलेशी अवस्था के अन्दर के अन्तर्मुहूर्त काल में आते हैं और वहां उन्हें शुक्ल ध्यान के अन्तिम दो चरणों का ध्यान करने का अवसर आता है तब वे पहले तो मनोयोग का निग्रह करते हैं फिर वचनयोग का निग्रह और फिर सूक्ष्म भी काययोग का निग्रह करते हैं ।

यों तो केवलज्ञानी को ध्यान करने का ही नहीं होता । क्योंकि (i) वे सर्वज्ञ सर्वदर्शी होने से उनके समक्ष तीनों काल के समस्त भाव प्रत्यक्ष होने से उन्हें चिंतन करने जैसा कुछ भी बाकी ही नहीं रहता, कि ध्यान किस का करें ? पुनः (ii) वे अब जीवनसिद्ध बन चुके हैं । उनका साधना काल समाप्त हो चुका है । साधना मात्र से सब घाती कर्मों का जो नाश करना होता है वह तो उन्हें सर्वथा हो चुका है । तो अब ध्यान का साधना किस लिए करें ? तो जो अघात कर्म बाकी हैं, वे तो भुगत कर पूरे होंगे । वे साधना से जल्दी नाश किये जा सकने योग्य होते ही नहीं हैं । साथ ही वे यदि बाकी हों तो भी आत्मा के निर्मल वीतराग सर्वज्ञ स्वरूप परमात्म-अवस्था को कुछ हानि नहीं पहुँचतो । अतः अब कुछ भी साधना ही न होने से उन्हें ध्यान-साधना भी नहीं होती ।

इस पर से यह भी समझ में आता है कि देव की ध्यान-स्थ मूर्ति अपूर्ण अवस्था की मूर्ति है । मध्यस्थ चक्षु वाली आंखों की प्रशांत वीतराग सर्वज्ञ अवस्था वाली परमात्मा की मूर्ति ही पूर्ण अवस्था की मूर्ति है । साधक का अन्तिम आदर्श इस पूर्ण अवस्था की कक्षा का ही होता है, अतः वह वीतराग अवस्था की मूर्ति की ही पूजा करेगा न ? और भाव से देवाधिदेवत्व या तीर्थङ्करत्व तो इस पूर्ण वीतराग सर्वज्ञ अवस्था में ही है ।

बात यह है कि केवलज्ञानी को ध्यान की साधना करने का ही नहीं होता । पर अब जब मोक्ष पाने का समय अत्यन्त निकट आ गया हो तब उन्हें योग का निरोध करना आवश्यक है । क्योंकि अब तक विहार व्याख्यान गोचरी आदि प्रवृत्ति याने काययोग वचनयोग चालू है अतः कर्म-बन्ध के पांच मुख्य कारण मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग में से पांचवां कारण 'योग' अभी भी उपस्थित है । ये हैं वहां तक कर्म-बन्ध चलता रहेगा । तो मोक्ष

कैसे होगा ? अतः योगनिरोध करके जब कर्म बन्ध रोका जाय, तभी मोक्ष होगा ।

प्रश्न— पर आयुष्य पूर्ण होने पर शरीर आदि छूट जाने से मोक्ष होगा न ?

उत्तर— नहीं । यदि जीवन के अन्तिम समय में योग हो, तो उसमें बांधा हुआ कर्म आत्मा पर खड़ा रहने से जीवन पूर्ण होने पर सर्व कर्म-क्षय कहाँ हुआ ? तो मोक्ष कैसे होगा ? अतः आयुष्य पूर्ण होने पर शरीर के छूट जाने से उस अन्तिम समय के बांधे हुए कर्म को भुगत लेने का साधन कहाँ है ? तो यदि यह कहा जाय कि 'अन्तिम समय में योग रोक दे अतः नया कर्म बन्ध नहीं होगा ।' तो यह कहना ठीक नहीं, क्योंकि इस तरह यह कार्य असम्भव है । क्योंकि योगों को सम्पूर्ण रोकने की कार्यवाही एक समय में नहीं हो सकती । उसके लिए आत्म पुरुषार्थ करना पड़ता है, मन वचन काया के स्थूल व सूक्ष्म योगों को क्रमशः रोकने की क्रिया करनी पड़ती है, और वैसे करने में असंख्य समय लगते हैं ।

शैलेशी करणः—इसलिए तो ज्ञानी ज्ञान से देख कर यह कहते हैं कि केवलज्ञानी जीव मोक्ष जाने के अति निकट के अन्तर्मुहूर्त काल में समस्त योगों को सम्पूर्ण रूप से रोक कर योग-निरोध की क्रिया करते हैं । इसे शैलेशी करण की क्रिया कहते हैं । आत्मा जहाँ तक योग सहित होता है, तब तक उसके प्रदेश (अंश) कंपनशील होते हैं, पर अब सम्पूर्ण योगनिरोध होने से आत्म-प्रदेश सर्वथा मेरु की तरह स्थिर हो जाते हैं । मेरु यह शैल (पर्वत) का ईश याने शैलेश कहा जाता है । जीव बिलकुल निष्प्रकंप होने से इस शैलेश जैसी अवस्था पर आरूढ़ होता है याने शैलेशीकरण करता है । इस शैलेशीकरण में अन्तर्मुहूर्त समय में योगों को रोकने यानी

निरोध करने की जो प्रक्रिया होती है वह शुक्ल ध्यान रूप होती है । यहां ध्यान का अर्थ मनवचनकाया की स्थिरता; वह इतनी होती है कि उन योगों का याने उनकी प्रवृत्ति का सम्पूर्ण निरोध हो जाता है । यही ध्यान केवलज्ञानी को संसार के अन्तिम काल में होता है । इस ध्यान में क्रम यह रहता है : पहले मनोयोग का निग्रह, फिर वचनयोग का निग्रह, और अन्त में काययोग का निग्रह होता है ।

यह तो सिर्फ केवलज्ञानी को अन्त में होने वाले शुक्ल ध्यान के क्रम की बात हुई (अन्य सब महात्माओं को धर्म ध्यान की प्राप्ति हो तब योग और काल के आश्रय से प्राप्तिक्रम उनकी समाधि के अनुसार होता है अर्थात् उन्हें जिस तरह योगों की तथा काल की स्वस्थता अनुकूलता रहे उस अनुसार क्रम होता है ।) यह क्रम द्वार हुआ ।

‘ध्येय’ - ध्यान का विषय

अब ध्येय द्वार कहते हैं । ध्येय अर्थात् ध्यान का विषय क्या ? श्री तत्त्वार्थ महाशास्त्र अ० ९ सूत्र ३७ में कहा है—

‘आज्ञाऽपाय विपाक संस्थान विचयाय धर्म्यम्’ । यह बताता है कि धर्मध्यान आज्ञा, अपाय, विपाक तथा संस्थान के चिंतन के लिए होता है । अर्थात् धर्म ध्यान का विषय याने धर्म ध्यान का ‘ध्येय’ आज्ञादि चार होते हैं ।

आज्ञा याने जिनाज्ञा, जिनवचन, जिनागम ।

अपाय अर्थात् राग द्वेष आदि आश्रवों का अनर्थ ।

विपाक याने कर्मों के उदय का परिणाम ।

संस्थान याने १४ राजलोक आदि की स्थिति । इन चारों के बारे में धर्म ध्यान में एकाग्र चिंतन किया जाता है ।

धर्म ध्यान के आज्ञा अपाय आदि चार प्रकारों का रहस्य: यह रहस्य समझने जैसा है। जीव को आर्त्ति रौद्र ध्यान से बचाने वाला धर्म-ध्यान है। यह आर्त्ति रौद्र-ध्यान होने का कारण-(१) विषय, राग, (२) हिंसादि पापों में दिल-चस्पी तथा निडरता, (३) अहंत्व क्षुद्रता, तथा (४) अज्ञता मूढ़ता है। यदि ये रुक जाय तो आर्त्ति रौद्र ध्यान रुक। धर्म ध्यान के ये चार प्रकार इन्हें रोकने वाले हैं; इससे धर्म ध्यान से अशुभ ध्यान का रुक जाना स्वाभाविक है। ये कैसे रोकते हैं यह देखिए—

(१) धर्म ध्यान में पहला प्रकार आज्ञाविचय याने जिनाज्ञा का चिंतन है। यह लाने के लिए जिनाज्ञा की एक एक विशेषता को ले कर जिनाज्ञा पर अत्यन्त बहुमान खड़ा होना चाहिये। मन को ऐसा होता है कि 'अहो ! यह जिनाज्ञा इतनी अधिक अतिनिपुण ! अनादि अनन्त !' ऐसे दिल के उछलते हुए बहुमान के साथ चिंतन होगा तब मन कहीं एकाग्र तन्मय होकर उसमें चिपक जायगा और यही धर्म ध्यान बनेगा। तब यदि जिनाज्ञा पर बहुमान हो तो जिनाज्ञा में तो विषयत्याग और सम्यक् ज्ञानाचार आदि आराधना की आज्ञा है, अतः आज्ञा बहुमान से स्वतः ही विषयरोग रुकेगा और इससे उसके निमित्त होने वाला दुर्ध्यान रुक जायगा।

(२) तो विषयरोग के साथ पाप का आनन्द (दिलचस्पी) और पाप की निर्भयता रोकने के लिए 'अपायविचय' है। अपायविचय में हिंसादि दुष्कृत्यों तथा रागादि दोषों के अपाय याने अनर्थ का चिंतन है; इस चिंतन में तन्मयता लाने के लिए इन दोषों और दुष्कृत्यों के प्रति पूरा पूरा तिरस्कार और उसके अनर्थों का भय जागना चाहिये। इन पापों के प्रति अत्यन्त तिरस्कार तथा भय खड़ा होने से (i) उसके अपाय के चिंतन में कहीं तन्मयता आवे तो

सुनिउण मणाइणिहणं भूयहियं भूयभावण मणग्घं ।

अभियं मजिय महत्थं महाणुभावं महाविसयं ॥४५॥

भाइज्जा निरवज्जं जिणाणमाणं जगप्पईवाणं ।

अणिउणजणदुण्णयेयं नय भंगं प्रमाणगमगहणं । ४६॥

अर्थ:- (जिनाज्ञा सूक्ष्म द्रव्यादि व मत्त्यादि का निरूपक होने से) अनन्त निपुण, (द्रव्यादि का अपेक्षा स) अनादि अनन्त, जीव कल्याण रूप, (अनेकान्त बोधक), सत्य भावक, अनर्घ्य अमूल्य, (अथवा ऋणघन=कर्म नाशक) होने से । अर्थ से) अपरिमित (या अमृत क्योंकि मीठी, पथ्य, अथवा सजीव याने उपपत्ति क्षम), (अन्य वचनों से) अजित, प्रधान अर्थ वाली (अविसंवादी, अनुयोगद्वारात्मक, नय घटित होने से, (i) महार्थ, या (ii) महत्स्थ-बड़े समकितो जीवों में स्थित, या (iii) महास्थ=पूजा प्राप्त, महान अनुभाव प्रभाव सामर्थ्य वाली (चौदपूर्वी सर्व लब्धि सम्पन्न होने से प्रधान तथा सर्वार्थ सिद्ध विमान और मोक्ष तक का कार्य करती होने से प्रभूत), महान विषय वाली, निरवद्य याने दोष पाप रहित, अनिपुण लोगों से दुर्ज्ञेय, तथा नयभंगी प्रमाणगम (अर्थ मार्गों) से गहन, ऐसी जगत् के दीपक समान जिनेश्वर भगवन्त की आज्ञा का (निरवद्य) ध्यान करे ।

वह धर्मध्यान और (ii) स्वतः ही पाप का आनन्द व निर्भयता रुके और इससे आर्त्ति रौद्र ध्यान रुके ।

(३) तो जीव की तीसरी कमी अहंत्व तथा क्षुद्रता है । ये भी जीव को सुख दुःख के प्रसंग आने पर दुर्ध्यान कराते हैं । इसके सामने निरहंकार और उमदा दिल खड़ा होता है जिससे अहंत्व क्षुद्रता स्वाभाविक ही रुक जाय । धर्मध्यान का तीसरा प्रकार

‘विपाक विचय’ है। इसमें शुभाशुभ कर्मों के विपाक का विचार करते हैं। यदि कर्मों के विपाक पर अटल विश्वास हो कि ‘ऐसे ऐसे कर्मों से ऐसा ऐसा फल होता है।’ तो इस विश्वास के कारण (i) कहीं कर्म विपाक के चिन्तन में तन्मयता आने से धर्म ध्यान होता है और (ii) दूसरी तरफ सुख में अहंत्व और दुःख में क्षुद्रता, गुस्सा, हाय (दुःख) आदि रुके जिससे दुर्ध्यान रहता है।

(४) तो धर्म ध्यान का चौथे प्रकार ‘संस्थान विचय’ में १४ राजलोक का तथा धर्मास्तिकायादि षट्द्रव्यों का स्वरूप परिचय आदि का चिन्तन करते हैं। यह सोचने से विराट् का दर्शन होता है और उससे अज्ञानता मूढ़ता रहती है जिससे फिर उसके निमित्त होने वाला आर्त्ता ध्यान आदि भी रुक जाय तो उसमें क्या आश्चर्य ?

बस धर्मध्यान के चारों प्रकार में जीवन के चार महान साध्य बताये हैं। जिनाज्ञा बहुमान, हिसादि पापों का तिरस्कार, कर्म विपाक का अटल विश्वास तथा विराट् दर्शन।

अब धर्म ध्यान के पहले प्रकार ‘आज्ञा विचय’ का प्रतिपादन करने के लिए कहते हैं:—

विवेचन :

धर्म ध्यान के पहले प्रकार ‘आज्ञाविचय’ में जगत के दीपक समान जिनेश्वर भगवान की आज्ञा का चिन्तन करना होता है। अर्थात् यह जिनाज्ञा कैसी कैसी विशेषता वाली है उसका ध्यान करना होता है। यहां इसके लिए इन दो गाथाओं में जिनाज्ञा के १३ विशेषण बताये हैं। अलबत्ता इसमें प्राकृत भाषा के कारण अथवा शब्द महिमा से एक के अनेक अर्थ होते हैं, इससे वे १३ से भी ज्यादा विशेषण बन जाते हैं। इनमें से प्रत्येक विशेषण के अनुसार जिनाज्ञा का ध्यान करना होता है। वह निम्न प्रकार से किया जाता है:—

(१) **सुनिपुणः** अर्थात् जिनाज्ञा का सुनिपुणता का ध्यान करे। जैसे—‘अरे कैसा सुनिपुण जिन वचन ! जिन वचन से ही सूक्ष्म द्रव्य तथा सूक्ष्म पर्यायों तक का प्रतिपादन हुआ है। धर्मास्ति-कायादि द्रव्य तथा पुद्गल द्रव्य में वर्गणाओं तथा जीव द्रव्य में निगोद याने जमीनकंद, लाल फूलन, आदि के एक एक कण में असंख्य शरीर तथा एक एक शरीर में अनन्तानंत जीव, फिर उन प्रत्येक जीव पर चिपके हुए कर्म के अनन्त स्कंध और उस प्रत्येक स्कंध में रहे हुए अनन्तानन्त परमाणु इत्यादि जीव अजीव सूक्ष्म द्रव्यों की पहचान सर्वज्ञ श्री जिनेश्वर देव के वचन सिवाय अन्य कौन बता सकता है ? इन प्रत्येक अणु के भी अनन्त स्वपर पर्याय, प्रत्येक कर्म स्कंध पर बंध, उदय, उदीरणा, संक्रमण उद्वर्तन आदि से होने वाली प्रक्रिया, उसमें भी संख्यात गुना, असंख्यात गुना और अनन्त गुना हानि वृद्धि से होने वाली षड्गुण हानि वृद्धि, इत्यादि पर्याय सूक्ष्मता जिनवचन से ही जानने को मिली है, तो जिनवचन की यह कैसी सुनिपुणता ! कैसी उत्कृष्ट कुशलता !

इसी तरह मतिज्ञान, श्रुतज्ञान आदि पांच ज्ञान के भेद तथा उनके प्रभेद या अवान्तर प्रकार मात्र जिनवचन से ही पहचाने जाते हैं। उसमें फिर जिनवचन रूपी श्रुत की और श्रुतज्ञान की निपुणता कैसी कि जिनेश्वरदेव को केवलज्ञान होने के बाद भी उस श्रुत द्वारा ही श्रुतज्ञान का तथा अन्य चारों ज्ञान का प्रकाश किया जाता है ! यह भी जिनवचन की कैसी सुनिपुणता ! इस तरह सुनिपुणता का ध्यान करे।

(२) **अनादि निधनः**—अहो ! जिनवचन कैसा अनादि तथा निधन याने उत्पत्ति व नाश रहित सदा स्थायी ! कैसा अनादिकाल से चरा आने वाला तथा अनन्तकाल तक रहने वाला !

प्रश्न— जिनवचन याने द्वादशांगी आगम । यह तो प्रत्येक जिनेश्वर भगवान के शासन में नये सिरे से रचा जाता है और शासन का विच्छेद होने पर उसका भी नाश होता है । तो फिर वह अनादि निधन किस तरह ?

उत्तर— द्रव्यादि की अपेक्षा से अनादि निधन है । कहा है कि 'द्रव्यार्थदिश से यह द्वादशांगी कभी नहीं थी ऐसा नहीं है, न ही ऐसा है कि भविष्य में कभी न हो ।'

द्रव्यार्थदिश का अर्थ क्या ? द्वादशांगी आगम जिस पदार्थ का निरूपण करता है उसमें दो मुख्य चीजें हैं । धर्मास्तिकायादि द्रव्य तथा उसके स्वपर पर्याय । अतः पदार्थ के दो अर्थ द्रव्यार्थ तथा पर्यायार्थ । इसमें द्रव्यार्थ की दृष्टि याने द्रव्यार्थदिश से देखें तो प्रत्येक जिनेन्द्र भगवान की द्वादशांगी चाहे शब्द रचना से अलग अलग हो, परन्तु सभी द्वादशांगी उन्हीं धर्मास्तिकायादि द्रव्यों का निरूपण करती है; क्यों कि ये मूल द्रव्य कभी अन्य रूप में होते ही नहीं हैं या सर्वथा नाश भी नहीं होता । पर्याय चाहे बदलें, पर द्रव्य नहीं बदलते । द्रव्य वह का वही रहता है । अतः वर्तमान द्वादशांगी भी उन्हीं द्रव्यों का जो भूत भविष्य की द्वादशांगी का विषय है, उसी का प्रतिपादन करती होने से द्रव्यार्थ की दृष्टि से वह भूत भावी द्वादशांगी स्वरूप ही है । इसीलिए इसे अनादि अनन्त कहते हैं । तो अनादि अनन्त इन्हीं द्रव्यों को कहने वाला द्वादशांगीमय जिनवचन कैसा शाश्वत, टंकसाली और त्रिकालाबाधित ! जिन वचन की ही यह विशेषता, जगत में अन्य किसी वचन की नहीं । वाह धन्य जिनाज्ञा ! इस तरह जिनाज्ञा की अनादि अनन्तता का चिन्तन करे ।

(२) भूतल्लिप्ताः पुनः सोचे कि जिनाज्ञा जिनवचन कैसा

भूतों के लिए हित स्वरूप ! भूत याने प्राणी उनके हित या पश्यरूप । वह भी दो प्रकार से—(i) जीवों को पीड़ा न होने के रूप में और (ii) उनका कल्याण होने के रूप में । इसमें (i) जगत के एकेन्द्रिय तक के जीवों के बारे में जिनाज्ञा है कि 'सर्वे जीवा न हन्तव्याः' अर्थात् किसी भी जीव की हिंसा नहीं करना । ऐसी जिनाज्ञा का अलन करने वाले समस्त जीवों को अभयदान देते हैं; उन्हें लेश मात्र भी पीड़ा नहीं देते । तो जिनाज्ञा कैसी सुन्दर जीवहितकर ! और (ii) जिनाज्ञा द्वारा फरमाये हुए रत्नत्रयी के मार्ग पर चलने वाले बहुत से जीव संसार की विडम्बना से छूट कर सिद्ध मुक्त हो गये । इस दृष्टि से भी जिनाज्ञा जीवों को कैसी सुन्दर कल्याणकर व हितकर ! इस तरह जिनाज्ञा की भूत-हितता सोचे, चिंतन करे ।

(४) भूत भावना :- पुनः सोचे कि 'जिनाज्ञा कितनी सुन्दर भूत की भावना करने वाली है ।' इसके भी दो अर्थ हैं : (i) भूत याने सद् भूत. सत्य भावन याने विचारना सोचना । जिनवचन प्रत्येक पदार्थ का अनेकांत दृष्टि से विचार करने वाला होने से सत्य ही सोचता है । एकांत दर्शन वस्तु के मात्र एक अंश का विचार करके उसी पर आधार रख कर आंशिक धर्म का स्वीकार करता है, परन्तु साथ ही उसी वस्तु में सचमुच में रहे हुए अन्य उससे विरुद्ध दिखने वाले अंश का अपलाप-इन्कार करते हैं । अतः वे असत्य भावन सिद्ध होते हैं, तब जिनवचन अनेकांत दर्शन होने से भूत भावन याने सत्य विचार करने वाला होता है । अथवा (ii) 'भूत' याने जीव उनकी भावना याने वासना, वासितता । जिनवचन भूत भावना है याने भव्य जीवों द्वारा भावित की जाने वाली वस्तु है । कहा है

कूरावि सहावेणां राग विसवसाणुगावि होऊणं ।

भाविय जिण वयण मणा तेलुक सुहावहा होंति ॥

अर्थ : कोई भी जीव यदि पहले स्वभाव से क्रूर तथा रागा-
धिक्य से मूर्छित भी हुए हों, तब भी जब वे जिनवचन से मन को
भावित करते हैं, तो वे तीनों जगत के लिए सुखकारक बनते हैं ।

‘भावित’ याने जैसे कस्तूरी से बंधा हुआ कपड़ा उसके प्रत्येक
अंश में, प्रत्येक तंतु में कस्तूरी की सुवास से वासित हो जाता है,
वैसे जिनाज्ञा दिल में रख कर उस पर के अनन्य अतिशय बहुमान से
आत्मा के प्रत्येक प्रदेश को वासित कर दिया जाय । इस तरह
भावित होने के बाद तो पूर्व की क्रूरता तथा राग आदि की परवशता
भी पलायन हो जाती है, भाग जाती है । शास्त्र में से सुनने की
मिलता है कि चिलातीपुत्र आदि बहुत से पूर्व में स्वभाव से क्रूर
आदि थे तब भी जिनवचन से वासित होने पर उससे भावित होते
ही जगत के जीव मात्र को सुखदायक याने अभयदाता बन गये ।

चिलातीपुत्र अतिराग के कारण सेठ की पुत्री को
उठा कर दौड़ा और उसका पाल्छा पकड़ने वाले उसके पिता के प्रति
क्रूरता के कारण बिचारी लड़की का सिर काट कर वह आगे बढ़ा ।
परन्तु आगे ‘उपशम विवेक संवर’ का जिनवचन एक मुनि ने उसे
सुनाया । इस वचन को उसने अपने दिल में खूब ही गहरा उतारा,
उस वचन से वह भावित हो गया और तुरन्त ही वहीं सर्व हिंसादि
पापों का त्याग करके वह कायोत्सर्ग ध्यान से खड़ा रहा । उसके
शरीर पर पड़े हुए खून से खिंच कर आई हुई हजारों चींटीयों ने
उसके शरीर को काट कर छलनी बना दिया । तब भी जिनवचन
के रंग से उसने उन जीवों को कुछ भी नहीं किया तो वह भी मर
कर सद्गति के सुख का हिस्सेदार बना । इस तरह से जिनाज्ञा की
भूत भावना का चिंतन करे ।

(५) **अन्नधर्य** : जिनवचन की अनर्ध्याता याने अमूल्यता
का चिंतन करे कि ‘अरे ! यह जिनवचन कितना अमूल्य है !’

कहा है कि 'रत्नादि कीमती द्रव्यों वाले बड़े रत्नाकर तथा तीनों लोक सहित समस्त इतर शास्त्र इस परम प्रभावी जिनवचन का मूल्य निश्चित करने के लिए कुछ भी उपयोगी नहीं हैं । क्योंकि जिनवचन अमूल्य है । यदि इसका मूल्य निश्चित हो नहीं किया जा सकता तो फिर उसकी कीमत किसके बराबर है इसका अंक कैसे रखा जाय या निश्चित किया जाय ? स्तुतिकर्त्ता ने कहा है कि

**कल्पद्रुमः कल्पितमात्रदायी, चिन्तामणिश्चिन्तितमेव दत्ते ।
जिनेन्द्रधर्मातिशयं विचिन्तय, द्वयेपिलोको लघुतामवेति ॥**

अर्थः—कल्पवृक्ष तो केवल कल्पना में आया हुआ ही दे सकता है और चिन्तामणि भी चिन्तित पदार्थ ही दे सकता है । विचारक लोग जिनेन्द्र भगवान के धर्म का अतिशय सोच कर (इसकी अपेक्षा कल्पवृक्ष तथा चिन्तामणि) दोनों को हल्का मानते हैं ।

'अणग्घ' शब्द का एक अर्थ अनर्घ्य है । उसका दूसरा अर्थ 'ऋणघ्न' भी होता है । 'अणग्घ' में अण का अर्थ ऋण है । प्राकृत में ऋ का अ होता है । ऋण को काटने वाला ऋणघ्न ।

(ii) ऋणघ्नः अहो जिनवचन कैसा जबरदस्त ऋण या कर्मों का नाश करने वाला है ! कहा है :

**जं अज्ञाणी कम्मं खवेइ बहुयाहिं वासकोडिहिं ।
तं नाणी तिहिं गुत्तो खवेइ ऊसासमित्तेणं ॥**

अर्थः—अज्ञानी कई करोड़ों वर्षों तक जो कर्म खपाता है, उतने कर्म तीन गुप्ति सहित गुप्त ज्ञानीपुरुष मात्र एक श्वासोश्वास में खपाता है ।

जीव जब क्षपक श्रेणी में ले जाने वाले शुक्लध्यान में चढता है, तब मन वचन काया की उत्कृष्ट गुप्ति करने वाला और महाज्ञानी

बना हुआ होता है, वहां वह जिनवचनानुसार तत्त्वरमणता का अभ्यास करके एक श्वास जितने समय में ऐसे खूब बड़े ढेर के समान कर्मों को खपाता है कि जिसको खपाने के लिए अज्ञानी को करोड़ों वर्ष कष्ट सहन करना पड़े। तो क्षण में यह करवाने वाला जिनवचन कितना जबरदस्त ऋणघन याने कर्म का नाश करने वाला है।

(६) अमिता: जिनाज्ञा की अमितता का चिंतन करे। 'अमित' के दो अर्थ होते हैं। १. अपरिमित तथा २. अमृत। पक्ष में वह सोचे कि 'अहो जिनवचन कैसा अपरिमित है?' अलक्षित जिनागम जिनवचन सूत्राक्षर से परिमित है, परन्तु अर्थ से तो अपरिमित है। कहा है:—

‘सर्व्वनर्इणं जा होज्ज बालुया सर्व्वउदहीणं ज उदयं ।

एत्तोवि अणंतगुणो अत्थो एगस्स सुत्तस्स ।’

एक सूत्र का अनन्त अर्थ किस तरह से ?

सर्व नदियों की जितनी रेती हो, सर्व समुद्रों का जितना पानी हो, उससे भा अनन्तगुना एक सूत्र का अर्थ है। जिनवचन के प्रत्येक सूत्र का इतना ज्यादा अर्थ होने का कारण यह है कि जिनवचन प्रत्येक अर्थ पदार्थ का अनेक मार्गणा द्वारों से तथा अनन्त अनुवृत्ति व्यावृत्ति पयायों से विचार करने का बताता है।

इस तरह अनेक अर्थ निकलने के कारण जिन वचन कैसा 'अमिय' याने अमित अपरिमित !

अमिय का दूसरा अर्थ:—अमृत याने मीठी, पथ्य तथा सजीव ।

(i) जिनाज्ञा अत्यन्त मधुर है। कहा है कि जिनवचन रूपी लड्डु रात दिन खाता रहे तो भी बोध-प्रेमी आत्मा को तृप्ति नहीं

होती । क्यों कि जिनवचन हजारों हेतुओं से परिवरित है । अतः प्रत्येक प्रतिपादन पर नये नये हेतु जानने को मिलें तो रस (आनंद) कैसे खतम हो ?

(ii) जिनवचन पथ्य है, आरोग्यानुकूल है । कहा है : 'नारकी, तिर्यच, मनुष्य व देवगण के संसार सम्बन्धी सर्व रोगों की एकमात्र औषधि जिन वचन है, और वह फलस्वरूप मोक्ष के अक्षय सुख को देने वाली है ।

(iii) जिनवचन सजीव है याने उसमें युक्ति संगति समर्थ होने से सार्थक है, यथार्थ है परन्तु अयथार्थ नहीं है, मृत निर्जीव नहीं है । जैसे 'बड़े राजा के हाथी इतने ज्यादा थे कि उन हाथियों के गंड-स्थल में से स्रवित मदबिन्दुओं से ऐसी नदी बही कि उसके दुश्मन के हाथी घोड़े रथ आदि की सेना उसमें बह गई ।' यह वचन युक्ति-युक्त नहीं है अतः वह मृत निर्जीव वचन कहा जायगा ।

(७) अजित्ता: 'अहो ! जिनाज्ञा कैसी इतर प्रवचनों के वचन से अपराजित है ।' कहा है:—

जीवाइवत्थु चिन्तणकोसल्ल गुणेण ऽणणसहिणं ।

सेसवयणेहिं अजियं जिणिंदवयणं महाविसयं ॥

अर्थ:—दूसरे के साथ की गई तुलना का उल्लंघन करने वाला महाविषयों वाला जिनेन्द्र वचन जीवादि वस्तु का विचार करने की कुशलता के गुण से बाकी के (शास्त्र) वचनों से अजित है । (अन्य शास्त्रों से अजिता) जिनवचन (१) सर्वज्ञ वचन होने से, (२) अनेकान्त दृष्टि से वस्तु के प्रतिपादक होने से वह जीव अजीव आदि पदार्थों का विचार कुशलता से कर सकता है । यह ताकत असर्वज्ञ एकान्तदृष्टि से सोचे हुए या कहे हुए वचनों में नहीं हो सकती ।

(८) महत्त्वः 'अहो जिनवचन कैसा महत्त्व !' यहां गाथा में आये हुए प्राकृत भाषा के 'महत्त्व' शब्द के 'महार्थ', 'महत्त्व' तथा 'महास्त्व' ऐसे तीन अर्थ निकलते हैं ।

महार्थ याने प्रधान अर्थ वाला : जिनाज्ञा जिन-वचन अर्थ प्रधान है । अन्य शास्त्रों से जिनागम के पदार्थ प्रधान होने का कारण यह है कि वह (क) पूर्व पर में विरोध रहित है । (ख) अनुयोग द्वारात्मक है और (ग) नयघटित है ।

(क) जिनवचन में कहीं भी पूर्वापर में विरोध नहीं आता । शास्त्र के एक हिस्से में कुछ कहा हो और दूसरे हिस्से में उसे बिल्कुल उलटा ही कहा हो, उसे पूर्वापर विरोधी कहा जायेगा । जैसे कि वेदों में पहले कहा है : 'मा हिंस्यात् सर्वभूतानि' याने किसी की हिंसा नहीं करना । फिर आगे जा कर कहा, 'अश्वमेधेन यजेत' याने अश्वमेध (घोड़े की हिंसा वाला) यज्ञ करे । ऐसे पूर्वापर विरोधाभासी शब्द जिनागम में नहीं हैं । अतः उसके वचन कल्पित नहीं, पर सदभूत हैं ।

(ख) उपक्रमादि चार अनुयोग द्वारः जिन-वचन अनुयोगद्वारात्मक है । "अनुयोग" याने व्याख्यान । उसके हेतुभूत सोपान को अनुयोगद्वार कहते हैं । जैसे 'आचार' नामक द्वाद-शांगी में प्रथम अंगसूत्र है उसका अनुयोग करना है तो उसके लिए पहले उसका उपक्रम फिर क्रमशः निक्षेप, अनुगम और नय-समन्वय किया जाता है ।

'उपक्रम' याने निक्षेप के योग्य बनाना फिर उसका निक्षेप करना ।

'निक्षेप' याने न्यास । वस्तु को उस नाम आदि में रखना । उदा० (१) 'आचार' ऐसा जब नाम दिया है तो वह 'आचार' उसका नाम-निक्षेप कहा जाता है । अथवा नाम-निक्षेप से उसे 'आचार' कहते हैं । (२) आचार की कहीं चित्रादि में स्थापना की

है तो वह ^३स्थापना निक्षेप आचार कहा जावेगा । (३) 'द्रव्य' याने भाव का आधार । आचार के भाव का आधार शरीर या आत्मा यह ^३द्रव्य आचार-निक्षेप तथा (४) आचार का भाव याने मुख्य आचरण उदा० अहिंसा का आचरण यह ^४भावनिक्षेप आचार कहा जावेगा । प्रत्येक वस्तु में यह नामादि चार निक्षेप होते हैं । किसी में उससे ज्यादा भी हों । जैसे 'लोक' वस्तु में नामलोक, स्थापना-लोक, ... आदि ४ उपरांत क्षेत्रलोक, काललोक, भवलोक इत्यादि ।

अनुगमन यह तीसरा अनुयोग द्वार है । अनुगम करना याने सूत्र या उसकी नियुक्ति (सूत्र के अर्थ के साथ में उसका नियोजन याने जोड़ना) के साथ अनुगत करना याने सम्मिलित समन्वित करना । उदा० 'आचार' अंग के सूत्र का पहला शब्द लेकर उसमें और उसकी नियुक्ति का अनुगम किया जाय याने उसे उसके अर्थ के साथ जोड़ा जाय ।

नय : चौथा अनुयोगद्वार है । उसकी समझ निम्न है ।

(ग) **नयघटित** : जिनवचन नयघटित है अतः वह महार्थ है । 'नय' याने भिन्न भिन्न दृष्टि, अपेक्षा, जिससे वस्तु का उस उस अंश से विचार हो, निर्णय हो । उदा० आचार के दो अंश बाह्य तथा आभ्यन्तर । अतः उस अंश से आचार वस्तु का विचार व्यवहार नय से तथा निश्चय नय से किया जाय । व्यवहार की दृष्टि से आचार यानी कायादि से बाह्य अच्छा आचरण किया जाय उसे कहते हैं । निश्चयदृष्टि से आचार आत्मा की आन्तरिक शुद्ध आचरण-परिणति को कहते हैं । ऐसे ही दूसरे भी नय-अर्थनय, ज्ञाननय, क्रियानय, द्रव्यार्थिक नय, पर्यायार्थिक नय, नैगम नय, संग्रह नय आदि नयों को जिनवचन बताता है । इन नयों को लेकर जिनामम किसी भी पदार्थ का अनेकान्तमय दर्शन करवाता है, इसलिए वह नयघटित है ।

दूसरे किसी धर्म में ऐसी नय-व्यवस्था नहीं है। अलवत्ता प्रमाण-व्यवस्था है पर इससे क्या ? वस्तु का बोध तो प्रमाण तथा नय दोनों से होता है। इसमें प्रमाण से तो सकल अंश में, समस्त भाव से होता है, परन्तु विकलांश या एकांश से नहीं। इस के लिए तो नय की जरूरत होती है। तब ऐसे नयघटित जिनवचन की कैसी अलिहारी ! कैसी प्रधानार्थता ! महार्थता ! महत्थ का यह एक अर्थ हुआ।

(ii) 'महत्थ' याने महत्स्थ भी कहा जा सकता है। महत्स्थ याने महान् सम्यग् दृष्टि भव्य आत्माओं में रहा हुआ। 'अहो ! जिन वचन कैसा विश्व के उत्तम प्रधान पुरुषों में रहा हुआ है !' जिस की दृष्टि में मिथ्यात्व है, मार्गानुसारिता नहीं है, वह कोई प्रधान पुरुष नहीं है।

(iii) महत्थ याने महास्थ ऐसा अर्थ भी होता है। 'महा' याने पूजा। जिनवचन पूजा में रहा हुआ याने पूजा पात्र है। कहा है 'ज्ञान (जिनवचन) सर्व वैमानिक, भवनपति देव, मनुष्य तथा व्यंतरज्योतिषी देवों से पूजित है, क्यों कि जिनवचन के आधार पर आगम रचयिता गणधर भगवान पर देवता भी वासक्षेप फेंकते हैं, उछालते हैं।' आगम के जिनवचन की यह कैसी महिमा ! यों जिनवचन कैसा महत्थ !

(८) महानुभावः—'अहो ! जिनाज्ञा कैसा महान अनुभाव, सामर्थ्य या प्रभाव वाली है !' 'महान' याने 'प्रधान या अधिक। जिनवचन के सामर्थ्य की प्रधानता इस तरह है कि जिनवचन के ज्ञाता चौदह पूर्वधर महर्षि सर्व लब्धि से सम्पन्न हो जाते हैं। इतना ऊंचा प्रधान सामर्थ्य जिनवचन के अलावा दूसरे किस वचन का है कि जिससे सर्व लब्धियों की शक्ति उत्पन्न हो ? पुनः (२) सामर्थ्य की विशालता अधिकता इस तरह से है कि

गोतम महाराज ने वीर प्रभु से पूछा : 'हे भगवन्त ! चौदहपूर्वी एक घड़े में से हजारों घड़े बनाने में समर्थ है ?' प्रभु ने कहा, 'हंता गोयमा ! प्रभूणां चोद्सपुष्वी घडाओ घडसहस्सं करित्तओ ।' चौदह पूर्वधर 'प्रभु' याने समर्थ है । यह सामर्थ्य कितना अधिक विशाल है ?

यह तो जिनवचन के इस लोक के सामर्थ्य की बात हुई । तो परलोक में चौदहपूर्वी का जन्म जघन्य से छुट्ठे लांतक देवलोक में और त्कृष्ट सं अनुत्तर देवलोक के सर्वार्थसिद्ध विमान में होता अथवा वह सर्व कर्मक्षय कर के मोक्ष में जाना है ।

(१०) **महाविषय** : 'अहो जिनवचन कंसा महान याने सकल द्रव्यादि विषय वाला है !' कहा है, 'दव्वओ सुयनाणी उव-उत्तो सव्वदव्वाइं जाणई ।' अर्थात् श्रुतज्ञानी द्रव्यों पर चित्त का उपयोग करे तो सर्व द्रव्यों को जानता है, जान सकता है । अलबत्ता केवलज्ञानी की तरह धर्मास्तिकायादि द्रव्यों को वह प्रत्यक्ष नहीं कर सकता । किन्तु केवलज्ञानी जिनेन्द्र भगवान ने इन समस्त द्रव्यों का प्रतिपादन किया है इससे उनके वचन पर से सर्व द्रव्यों को जान सकता है, इसी तरह उसके कितने ही पर्यायों को भी जान सकता है ।

(११) **निरवद्य** : 'अहो जिनवचन कंसे निरवद्य व निर्दोष हैं ।' वचन के ३२ दोष होते हैं । अत्युक्ति, पुनरुक्ति, तुच्छ शब्द इत्यादि ३२ दाषों से रहित जिनवचन होता है । ऐसे जिनवचन किसी भी पाप का आदेश उपदेश नहीं देते । इसलिये भी वे निष्पाप निरवद्य वचन हैं ।

अथवा 'निरवद्य' शब्द को 'चित्तन करे' क्रियापद के साथ उसका विशेषण समझा जा सकता है, अर्थात् 'निरवद्य रीति से चित्तन करे' । यह अर्थ करने पर 'निरवद्य' का अर्थ 'निर्दोष रूप से

याने 'इस लोक व परलोक के सुखादि की आशंसा रखे बिना' ऐसा होता है। धर्मध्यान तो अच्छा करे, पर साथ ही उलके फलस्वरूप किसी सांसारिक वस्तु, धन, मान, कीर्ति आदि की आशंसा या आकांक्षा रखे तो यह ध्यान चित्तन निरवद्य या निर्दोष रूप से किया गया नहीं कहा जा सकता। यह समझना चाहिये कि अद्भुत कर्म-क्षय और जबरदस्त पुण्योपार्जन करवाने वाला इतना सुन्दर धर्म-ध्यान मिला है तो फिर उसके फलस्वरूप तुच्छ, नाशवन्त और मारक (मारने वाला) फल की आकांक्षा क्या करना? यह करने से तो धर्मध्यान के संस्कार के बदले अति इच्छित तुच्छ जड़ की लालसा के संस्कार दृढ होते हैं, जो अनेक दुर्गति के भवों में भटकते हैं। इसीलिए शास्त्र में कहा है कि 'नो इहलोगदृष्ट्या, नो परलोग-दृष्ट्या, नो परपरिभवो अहं नाणी।' अर्थात् 'मैं ज्ञानी हूँ याने ज्ञान ध्यान करने वाला हूँ वह इस लोक के सुख हेतु से नहीं, परलोक के सुख हेतु से भी नहीं, और दूसरे के अपमान के हेतु से भी नहीं।' इस तरह निर्दोष रूप से ध्यान करे।

(१३) **अनिपुण जन दुर्ज्ञेय** : 'अहो ! अशुभमति वाले के समझ में भी नहीं आवे ऐसा जिनवचन कैसा गम्भीर है कि सुमति वाले ही इसे तथा इसकी भव्यता, महानता, अनन्त कल्याण-कारकता को समझ सकते हैं। कुमति वाले या तो विषय लुब्ध होते हैं या विरक्त होने पर भी दुराग्रह से असर्वज्ञ के वचन को अन्तिम सत्य मानने वाले नहीं होते हैं। ऐसी को वैराग्य से भरे हुए तथा सर्वज्ञ-कथित अनेकांतादिमय वचन कैसे समझ में आ सकते हैं ?

(१४) **नयभंग प्रमाण गमगह्वन** : 'अहो जिन-वचन नय भंग प्रमाण और गम से कितना गहन है ! कितना गम्भीर !' नय^१ जो पहले बताये वे नैगमादि। यह सिर्फ जिनवचन की ही एक विशिष्टता है। अब भंग^२ याने भांगा चतुर्भंगी सप्तभंगी

आदि । भंग, भांगो, भंगी (विकल्प) याने प्रकार या भेद । उदा० चतुर्भंगी याने चार प्रकार का समूह । सामान्य रूप से क्रम भेद से या स्थान भेद से भंग रचना होती है अर्थात् क्रम बदलने से या स्थान बदलने से जो प्रकार या भेद खड़े होते हैं वे क्रमभंग या स्थानभंग कहलाते हैं । जैसे उदा० **क्रमभंग** में क्रमशः दो वस्तुएं लेने की हों तो उनके चार भंग या प्रकार होंगे । (१) एक जीव व दूसरा अजीव (२) एक जीव दूसरा भी जीव (३) एक अजीव तथा दूसरा जीव और (४) एक अजीव तथा दूसरा भी अजीव । ये चार प्रकार यः चतुर्भंगी हुई । ज्यादा वस्तुओं से ऐसी कितनी ही चतुर्भंगी हो जाती है । **स्थानभंग** में उदा० कोई प्रियधर्मा हो पर दृढधर्मा न हो, (२) कोई प्रियधर्मा हो और दृढधर्मा भी हो (३) कोई प्रियधर्मा न हो पर दृढधर्मा हो और (४) कोई प्रियधर्मा भी न हो और दृढधर्मा भी न हो । दो वस्तुओं से चतुर्भंगी होती है पर तीन का स्थानभंग करना हो तो आठ भंग होंगे । उदा० व्रत के बारे में 'जाने, आदर करे तथा पालन करे' के ८ भंग होते हैं । 'जाने' याने व्रत ग्राह्य है ऐसी श्रद्धा हो, 'आदर करे' याने प्रतिज्ञा करे और पालन करे याने प्रतिज्ञा से या प्रतिज्ञा बिना भी उसका पालन करे । इन तीन के आठ भंग होते हैं । इस तरह से अनेक प्रकार की भंग-रचना होती है । इससे पदार्थ-बोध विस्तृत होता है । ऐसी ही एक सप्तभंगी है ।

सप्तभंगी : तो अनेकांत समझने के लिए स्पष्ट व मजबूत व्यवस्था है । इसमें वस्तु में रहे हुए प्रत्येक धर्म का अपेक्षाविशेष लेकर विधिनिषेध से विचार किया जाता है । उदा० घड़ा सत् है, अनित्य है, बड़ा है आदि प्रत्येक का इस तरह से विचार होता है कि 'क्या घड़ा सत् ही है ? नित्य ही है ? बड़ा ही है ? या सत् नहीं है भी ? नित्य नहीं है भी ? बड़ा नहीं है भी ?' तो जवाब में घड़े के स्वद्रव्य,

क्षेत्र, काल भाव की अपेक्षा से सत् ही हैं, परन्तु पर द्रव्य, क्षेत्र काल भाव की अपेक्षा से सत् नहीं है। अब स्वद्रव्यादि परद्रव्यादि दोमों का क्रमशः एक एक की अपेक्षा लेकर दोनों की दृष्टि से कैसा? तो कहते हैं कि वह सदसत् है। यह तीसरा भंग हुआ। परन्तु एक साथ स्वर पर द्रव्यादि की उभय (दोनों) की अपेक्षा से कैसा है? तो जवाब में नहीं कहा जा सकता है कि 'सत्' या 'असत्' या 'सदसत्'; अतः अवक्तव्य ही कहना पड़ेगा। यह चौथा भंग हुआ। फिर एक एक की अपेक्षा से और साथ में एक साथ उभय की अपेक्षा से कैसा है? तो (५) सत् अवक्तव्य (६) असत् अवक्तव्य (७) सदसत् अवक्तव्य है। इस तरह कुल ७ भंग याने सप्तभंगी होती है। इसी तरह अनित्य आदि धर्मों को लेकर अनेक सप्तभंगी बनते हैं। ऐसी भंग रचनाओं से वस्तु का अनेकांत शैली से विस्तृत तथा सर्वांश सत्य बोध होता है। ये भंग रचनाएँ भी मात्र एक जिनवचन की ही बलिहारी है। अहो कैसे गम्भीर जिनवचन।

प्रमाण : वस्तु का बोध करवाने वाले द्रव्यादि प्रमाण हैं, वे अनुयोग द्वार सूत्र में बताये हैं। वे इस प्रकार :—

द्रव्यादि ४ प्रमाण

प्रमाण याने जिससे प्रमेय सिद्ध हो या जाना जाय। 'प्रमाणात् प्रमेय सिद्धिः।' प्रमाण से सत्य वस्तु प्रमेय ज्ञात होता है। प्रमेय याने जगत को ज्ञेय ज्ञातव्य वस्तु। उसे बताने वाला या सिद्ध करने वाला प्रमाण। यह ४ प्रकार से है—द्रव्य प्रमाण, क्षेत्र प्रमाण, काल प्रमाण और भाव प्रमाण। जिस द्रव्य से, क्षेत्र से, काल से और भाव से वस्तु नापी जाती है, निश्चित की जाती है, उस द्रव्यादि को प्रमाण कहते हैं।

(१) **द्रव्य प्रमाण :** यह दो तरह से है—१. प्रदेश निष्पन्न तथा २ विभाग निष्पन्न।

(१) द्रव्यों की प्रदेश-संख्या का परिमाण या नाप उदा० द्विप्रदेशिक स्कंध, त्रिप्रदेशिक स्कंध, अनन्त ५ देशिक स्कंध आदि ।

(२) द्रव्य के विभाग से गिना जाने वाला परिमाण या नाप वह ५ प्रकार से है—मान, उन्मान, अवमान, गणिम तथा प्रतिमान । ‘मान’ याने अनाज या द्रवपदार्थ के भरे हुए नाप, प्रस्थक, द्रोण कुम्भ लिटर आदि ‘उन्मान’ याने तोल ने के नाप जैसे सेर, मन, किलो ग्राम आदि ‘अवमान’ याने लम्बाई का नाप जैसे हाथ, गज, वार मीटर आदि । ‘गणिम’ याने संख्या जैसे १, १०, १०० आदि तथा ‘प्रतिमान’ याने सूक्ष्म तोल माप यव, रति, वाल, मिलिग्राम ।

(२) क्षेत्र प्रमाण भी वैसे ही प्रदेश-निष्पन्न तथा विभाग-निष्पन्न दो प्रकार से है । (१) प्रदेश-निष्पन्न प्रमाण आकाश के जितने प्रदेश में अवगाहना करे याने स्थित रहे वह नाप । एक प्रदेश में रहे तो एकप्रदेशी, दो प्रदेश में रहे तो द्विप्रदेशी आदि.... । (२) विभाग-निष्पन्न प्रमाण के रूप में आत्मांगुल, उत्सेधांगुल, प्रमाणांगुल । जिस जिस काल के व्यक्ति के अपने नाप से अपनी १०८ अंगुली के नाप वाले ऊँचे उत्तम पुरुष की अंगुली ‘आत्मांगुली’ कहलाती है । ऐसे ५०० धनुष्य की काया वाले व्यक्ति की अंगुल ‘प्रमाणांगुल’ कहलायेगी । वीर प्रभु के (७ हाथ की काया) आत्मांगुल से आधी ‘उत्सेधांगुल’ । इससे ४०० गुना ज्यादा मोटा नाप ‘प्रमाणांगुल’ कहा जावेगा । द्वीप समुद्र पर्वत आदि के नाप प्रमाणांगुल से गिने जाते हैं । १ रस, १ गंध, १ वर्ण तथा २ स्पर्श वाला अणु सूक्ष्म (निर्विभाज्य) परमाणु है । अनन्त सूक्ष्म परमाणु का १ व्यवहारिक परमाणु होता है । अनन्त व्याव० परमाणु का १ उत्प्लक्ष्ण श्लक्ष्णका । फिर उसे क्रमशः ८-८ गुना करते जायें तो श्लक्ष्णका, उर्ध्वरेणु, त्रसरेणु, रथरेणु, देवकुरु या उत्तर कुरु के

युगलिक के बालाग्र.... लीख, जू, यवमध्य तथा अंगुल होते हैं ।
फिर क्रमशः २४ अंगुल का १ हाथ, ४ हाथ का धनुष्य तथा २०००
धनुष का गाऊ या कोस और ४ गाऊ या कोस का १ योजन ।

(३) **काल प्रमाण** में भी वे ही दो भेद हैं । १. 'प्रदेश-
निष्पन्न' प्रमाण १ समय २ समय इत्यादि । (२) 'विभाग निष्पन्न' में
असंख्य समय की १ आवलिका, १,६,७७,२१६ आवलिका का
१ मुहूर्त अथवा दूसरे तरह से ७ प्राण—१ स्तोक, ७ स्तोक का १
लव, ७७ लव का १ मुहूर्त । ३० मुहूर्त की एक अहोरात्रि । ८४ लाख
वर्ष का एक पूर्वाणि, ८४ लाख पूर्वाणि का १ पूर्वं, ...यावत् शीर्ष-
प्रहेलिका । असंख्य वर्षों का एक पल्योपम । १० कोटाकोटि पल्यो-
पम का १ सागरोपम तथा १० कोटाकोटि सागरोपम की १-१ अव-
सर्पिणी, उत्सर्पिणी और दोनों मिलकर १ काल चक्र । अनन्त
काल चक्र का १ पुद्गल परावर्त ।

(४) **भाव प्रमाण** : इस के तीन भेद हैं : गुण प्रमाण,
नय प्रमाण तथा संख्या प्रमाण । गुण प्रमाण में भी दो प्रभेद हैं :—
जीवगुण प्रमाण तथा अजीव गुण प्रमाण । जीव गुण प्रमाण में
ज्ञान दर्शन व चारित्र्य जीव के तीन गुण हैं ।

ज्ञान प्रमाण में चार प्रतिभेद हैं : प्रत्यक्ष, अनुमान,
उपमान तथा आगम ।

प्रत्यक्ष ज्ञेयः—इन्द्रिय प्रत्यक्ष तथा नोइन्द्रिय (मन) प्रत्यक्ष ।

अनुमान ज्ञेयः—पूर्ववत् शेषवत् तथा दृष्ट साधर्म्यवत्
तीन प्रभेद हैं । पूर्वोपलब्ध चिन्ह से पहचाना जाय उदा० तिल, मस,
क्षत आदि से पुत्र को पहचाने वह पूर्ववत् । शेषवत् में
कार्य कारण गुण अवयव आश्रय पर से पहचाने उदा० हेषारव से
अश्व, तंतु से पट, (धूम से अग्नि), गंध से पुष्प, शृङ्ग से भैंसा, तथा

बगुले से तालाब पहचाना जाता है । दृष्ट साधर्म्यवत् में (१) सामान्य याने एक से ज्यादा का अनुमान (२) विशेष याने ज्यादा पर से एक विशेष को जाने अथवा दृष्ट साधर्म्य० में १ अतीत को लेकर (भरी हुई नदियों से पहले अच्छी वर्षा हुई यह जानना), २ वर्तमान को ले कर (प्रचुर दान देख कर सुभिक्ष जाने), तथा भविष्य को ले कर (प्रशस्त वायु आदि से सुवृष्टि का सोचे ।)

उपमान प्रमाण में दो बातें आती हैं । (१) साधर्म्य तथा (२) वैधर्म्य ।

साधर्म्य से (१) यत्किंचित् साधर्म्य, उदा० मेरु जैसी सरसों, दोनों मूर्त होने से, (२) प्रायः साधर्म्य, उदा० गाय जैसा बछड़ा, (३) सब साधर्म्य, उदा० अरिहंत जैसे अरिहंत । वैधर्म्य में (१) किंचित् वैधर्म्य, उदा० काली गाय के काला बछड़ा और उसके विरुद्ध सफेद गाय का सफेद । (२) प्रायः वैधर्म्य, उदा० पायस विरुद्ध पायस (जिसमें मात्र अन्तिम दो अक्षर और अस्तित्व की दृष्टि से ही समानता है बाकी सब वैधर्म्य है) (३) सर्व वैधर्म्य, उदा० गुरु-घातक जैसा तो नोच भी नहीं होता ।

आगम प्रमाण में (१) १ लौकिक महाभारत आदि, २ लोकोत्तर आचारांग आदि । अथवा (२) १ सूत्र-आगम, २ अर्थागम १ तदुभय आगम, अथवा (१), आत्मागम-अर्थ से तीर्थङ्कर को, तथा सूत्र से गणधर को २. अनन्तर आगम अर्थ से गणधर को, और ३. परम्पर आगम जम्बू स्वामी को मिला ।

भाव प्रमाण में जीवगुण-प्रमाण के १ भेद ज्ञानगुण प्रमाण के बारे में यह बात हुई । अब —

दृशनगुण प्रमाण के चार भेद हैं : चक्षुर्दर्शन, अचक्षु-दर्शन, अवधि दर्शन तथा केवल दर्शन ।

चारित्र्य गुण पन्नाण के भेद : सामायिक (इत्वर व यावत्कथिक), छेदोपस्थानीय (सातिचार, निरतिचार), परिहार विशुद्धि (निर्विशयमान याने तपसेवी और निर्विशयकायिक याने वैयावच्छी) सूक्ष्म संपराय (संकलित्यमान, विशुद्धयमान) और यथा-ख्यात (प्रतिपाती या छद्मस्थ वीतराग का व क्षायिक ।)

अजीवगुण पन्नाण : स्पर्श, रस, गंध, वर्ण, संस्थान ।

नय पन्नाण के ३ दृष्टांत-प्रस्थक, वसति, प्रदेश (अनाज भरने का नाप, मुकाम या स्थान व सूक्ष्मांश) सम्बन्धी नैगम व्यवहार नय, संग्रह नय, ऋजु सूत्रनय व शब्दनय की दृष्टि भिन्न भिन्न है । वह नीचे अनुसार है:—

नय	प्रस्थक दृष्टांत उदा० क्या करते हो ?	वसति दृष्टांत उदा० कहां रहते हो ?
नै० ०	जंगल की ओर जाने सेलेर क प्रस्थक नाम लेने तक कहे 'प्रस्थक करता हूं ।'	लोक में, मध्यलोक में,....अमुक गांव में, गली में, कमरे के कोने में रहा हूं ।
संग्रह	धान्य भरे प्रस्थक (नाप) को प्रस्थक कहते हैं ।	शय्या आदि में रहा हूं ।
ऋजु सूत्र	वर्तमान प्रस्थक भी प्रस्थक, उतना अनाज भी प्रस्थक	अवगाहना वाले आकाश-प्रदेश में रहता हूं ।
शब्दनय	प्रस्थक का ज्ञाता, उपयुक्त ऐसा कर्ता भी प्रस्थक	स्वस्वरूप में रहता हूं ।

‘प्रदेश’ दृष्टांत में नय छटना : उदा० प्रदेश कितने ?

नैगमनय—‘धर्मास्तिकाय प्रदेश (धर्म-प्रदेश), अधर्म

प्रदेश, आकाश-प्रदेश, जीवप्रदेश, पुद्गलस्कंध-प्रदेश, देशप्रदेश-इस तरह छ पदार्थों के प्रदेश हुए ।’

संग्रहणनय : ‘देश स्कंध में समा गया; अतः उसके प्रदेश भिन्न नहीं है, अन्य पांच के प्रदेश होते हैं ।’

व्यवहारनय : ‘पांच का कोई साधारण प्रदेश नहीं है, अतः पांच के प्रदेश नहीं कहे जा सकते, किन्तु पांच प्रकार के प्रदेश हैं, धर्म प्रदेश, अधर्म प्रदेश....आदि ।’

ऋजुसूत्रनय : प्रत्येक पांच प्रकार के प्रदेश नहीं है । अतः ५ प्रकार के प्रदेश नहीं, पर कहो कि विकल्प है । स्याद् धर्म-प्रदेश, स्याद् अधर्म प्रदेश ...’

शब्दनय : ‘ऐसा कहने से भी प्रत्येश प्रदेश के स्याद् धर्म०, स्याद् अधर्म०....में ५-५ प्रकार की आपत्ति है । अतः ऐसा कहो कि जो धर्मास्तिकाय का प्रदेश है वह प्रदेश धर्मास्तिकाय... इस तरह पांच ।’

समन्वितनय : ‘प्रदेश धर्म’ ऐसा समास करने से धर्म में प्रदेश होने से भेद सप्तमी की शंका होती है, अतः असमास (बिना समास के) से कहो कि ‘जो धर्मास्तिकाय है वही- उसका प्रदेश वह प्रदेश धर्मा० ... ।’

एवंभूतनय : प्रदेश देश जैसी वस्तु ही नहीं है । क्योंकि यदि उसे भिन्न कहते हो, तो वह अनुपलब्ध है । यदि अभिन्न कहते हो तो धर्मास्तिकाय और प्रदेश एक पर्याय वाले होने की आपत्ति आती है ! अतः जो है, वह अखंड धर्मास्तिकाय आदि ही है ।

(iii) **संख्या प्रमाण** : नामादि ४ संख्या + उपमा संख्या + परिमाण संख्या + ज्ञानरूप संख्या + गणनसंख्या—इस तरह से कुल ८ प्रकार हैं । इसमें भी **द्रव्य संख्या** आगम से तथा नो-

आगम से, दो प्रकार से है। तथा आगम से भी वह जशरीर, भव्य-शरीर, तदव्यक्तिरिक्त, ऐसे ३ प्रकार से है। **उपमा संख्या प्रमाण** ४ प्रकार से है। सत् की सत् के साथ उपमा (जिसकी चतुर्भंगी होती है), उदा० अरिहंत की छाती किवाड़ जैसी। सत् की असत् के साथ... उदा० अनुत्तरवासी देवों का आयुष्य ३३ सागरोपम है। असत् की सत् के साथ उदा० सूखा पत्ता हरे पत्ते को कहता है 'अम वीती तुम वीतशे, धीरी कुम्पलिया' असत् की असत् के साथ.... उदा० गर्दभशृङ्ग आकाशकुसुम जैसा है। **परिमाण संख्या-प्रमाण** के दो भेद हैं। (i) कालिक श्रुत परिमाण में पर्याय अनन्त है। बाकी अक्षर, पद, पाद, गाथा... नियुक्ति, अनुयोग उद्देशक.... अंग आदि सब संख्यात है (याने गिनती के हैं।) (ii) दृष्टिवाद श्रुत में उपरोक्त अनुयोग तक वही है; उसके बाद प्राभृत, प्राभृतिका, वस्तु आदि। **ज्ञान संख्या प्रमाण** में (संख्यायते ज्ञायते) शब्दज्ञान से शाब्दिक और गणित से गणितज्ञ आदि कहा जाता है। **गणना संख्या** में संख्यात, असंख्यात व अनन्त तीन भेद हैं। **भावसंख्या प्रमाण** में प्राकृत में 'संखा' शब्द है, इससे 'शंख' शब्द ले कर शंखगति नामकर्म को वेदे वह भाव-संख कहलाता है।

जिनागम की शैली से यह द्रव्य प्रमाण, क्षेत्र प्रमाण, काल प्रमाण, भाव प्रमाण, ऐसे ४ प्रमाण का विचार हुआ। बाकी सामान्य रूप से स्थूल शैली से देखने से तो प्रमाण सिर्फ दो तरह से है : १. प्रत्यक्ष, तथा २. परोक्ष। प्रत्यक्ष प्रमाण में अवधिज्ञान, मनः पर्यवज्ञान और केवलज्ञान ये तीन प्रमाण आते हैं।

यहां **प्रत्यक्ष** का अर्थ 'प्रति अक्षम्' अर्थात् ज्ञान सीधा आत्मा में। याने आत्मा को किसी बाह्य इन्द्रियों, या हेतु, या शब्द आदि

साधन बिना ही साक्षात् वस्तु दर्शन जिससे हो वह प्रत्यक्ष । वह तीन प्रकार से है ।

(१) अवधिज्ञान से भूत भविष्य या वर्तमान की नजदीक या दूर का किसी भी रूपी वस्तु को साक्षात् देख सकते हैं ।

(२) सन्नःपर्यवज्ञान से ढाई द्वीप में रहे हुए संज्ञी पंचेन्द्रिय जीवों के मन को देख सकते हैं ।

(३) केवलज्ञान से लोकालोक के समस्त अनन्त काल के भावों को देख सकते हैं । सर्व जीव और सर्व पुद्गल आदि द्रव्यों के भूत, वर्तमान व भावी अनन्तानन्त पर्यायों को साक्षात् देखते हैं ।

यह तो पारमार्थिक प्रत्यक्ष हुआ । पर व्यावहारिक प्रत्यक्ष इन्द्रियों तथा मन से होने वाला प्रत्यक्ष है । लोक-व्यवहार उसे ही प्रत्यक्ष कहता है । परमार्थ से याने सचमुच तो वह परोक्षज्ञान है । क्योंकि वह आत्मा की साक्षत् नहीं है, परन्तु इन्द्रियों द्वारा होता है ।

परोक्ष अर्थात् पर याने आत्मा से पर-दूर । अर्थात् आत्मा से भिन्न बाह्य इन्द्रिय, हेतु, शब्द आदि साधन द्वारा होने वाला यथार्थ वस्तुबोध : यह पारमार्थिक परोक्ष प्रमाण कहा जायगा । इसमें १. मतिज्ञान व २. श्रुतज्ञानों दो हैं । इन्द्रियों व मन से वस्तु जानी जाय वह 'मतिज्ञान', और अगम तथा आप्त पुरुष के वचन से जो अतीन्द्रिय पदार्थों का भी बोध होता है वह 'श्रुतज्ञान' है । हेतु पर से होने वाला अनुमान, तर्क स्मरण प्रत्यभिज्ञा आदि मतिज्ञान के भेद हैं ।

यह प्रमाण-व्यवस्था भी जैन धर्म में ही मिलती है ।

(४) गन्तः याने अर्थमार्ग । जिन द्वारों से पदार्थ का विस्तृत बोध हो, उसे अर्थमार्ग कहते हैं । उदा० 'दंडक' प्रकरण

में चारों गति के जीवों में भिन्न भिन्न वस्तु सोचने या विचार करने के लिए २४ भेद याने २४ दंडक किये । श्री तत्त्वार्थ शास्त्र में जीव के सम्यक्त्वादि वस्तु का विचार करने के लिए निर्देश स्वामित्व आदि तथा सत् संख्या क्षेत्र...आदि मुद्दे या द्वार बताये हैं । इसा तरह कर्मग्रन्थ शास्त्रों में जीव, गुणस्थान आदि का विचार करने के लिए गति-इन्द्रिय-काय.... आदि मार्गणाएँ बताई हैं । इसी तरह 'आवश्यक सूत्र' शास्त्र की उपोद्घात नियुक्ति में 'सामायिक' वस्तु का विचार करने के लिए उद्देश, निर्देश, निर्गम....आदि २६ द्वार बताये । ये दंडक, द्वार, मुद्दे, मार्गणा आदि सब अर्थ-मार्ग कहलाते हैं । शास्त्रों में ऐसे अन्य अनेक अर्थमार्ग कहे हुए हैं । यह भी मात्र जिनवचन की ही विशेषता है । अहो कितने गम्भीर गहन जिनवचन !

जिनेश्वर भगवान केवलज्ञान के प्रकाश से समस्त संशयरूपी अन्धकार का नाश करते हैं, अतः जगत के लिए दीपक समान हैं । उनके द्वारा जीवों को कुशल कार्य करने की आज्ञा दी जाती है अतः उनके वचन को जिनाज्ञा कहा जाता है । ऐसी जिनाज्ञा के उपरोक्त विशेषणों में से किसी भी विशेषण से, निराशंस भाव से, जिनाज्ञा का एकाग्र चितन करे वह पहले प्रकार का 'आज्ञाविचय' नामक धर्मध्यान हुआ ।

इसमें ऐसा हो सकता है कि मंद बुद्धि के योग से या समझाने वाले वैसे आचार्य न मिलने पर या ज्ञेय की गहनता आदि के कारण कोई जिनवचन समझ में न आवे तो श्रद्धा डिगने की सम्भावना होने से और इसीलिए उक्त विशेषणों से जिनाज्ञा का ध्यान कठिन हो तो ऐसे कौन से कारण हैं और उस प्रसंग पर क्या करना चाहिये ? यह बताते हैं:—

तत्थ य^१मइदोव्वलेणं ^२तच्चिहायरिय-विहओ वा वि ।
^३णेयगहणत्तणेण य ^४णाणावरणोदएणं च ॥४७॥
^५हेऊदाहरणा संभवे य सइ सुट्ठुं जं न बुज्जेज्जा ।
 सव्वण्णुभयमवितहं तहावि तं चितए मइमं ॥४८॥
 अणुवकयपराणुगह-परायणा जं जिणा जगप्पवरा ।
 जियरागदोसमोहा य णणहावादिणो तेणं ॥४९॥

अर्थ:—(१) बुद्धि की सम्यक् अर्थविधारण की मंदता से, (२) सम्यक् यथार्थ तत्त्वप्रतिपादन करने वाले कुशल आचार्य के न मिलने से, (३) ज्ञेय पदार्थ की गहनता के कारण, (४) ज्ञानावरणीय कर्म का उदय होने से, या (५-६) हेतु या उदाहरण नहीं मिलने से इस जिनाज्ञा के विषय में यदि कुछ भी अच्छी तरह समझ में नहीं आवे तो भी बुद्धिमान पुरुष यही सांचे कि 'सर्वज्ञ तीर्थङ्करों का वचन असत्य हो ही नहीं सकता; क्योंकि चराचर जगत में श्रेष्ठ श्री जिनेश्वर भगवन्त, उन पर अन्यो ने उपकार नहीं किया हो तब भी, वैसे जीव पर उपकार करने में तत्पर होते हैं । उन्होंने राग-द्वेष-मोह (अज्ञान) को जीत लिया है, इससे (असत्य बोलने के कारणों के ही नहीं होने से) वे अन्यथावादी याने असत्यभाषी हो ही नहीं सकते ।'

विवेचन :

जिनवचन द्वारा कहे हुए पदार्थ कदाचित् समझ में न आवें तो किन कारणों से ऐसा होता है वह पहले बताते हैं :

जिन वचन के समझ न आने के ६ कारण

१. मत्ति दौव्वल्य—(मति की दुर्बलता) याने बुद्धि जड़

हो या चंचल हो तो वाचना सुनते वक्त जिनोक्त पदार्थ का मन में सम्यक् अवधारण न भो हो । जड़ बुद्धि वाला तो समझ ही नहीं सकता, पर जो जड़ नहीं है वह भी बुद्धि के विचलित होने के कारण मन के बाहर के पदार्थों में जाने से वे पदार्थ मन में नहीं उतरते या टिकते नहीं हैं । अब मति यदि सतेज हो, परन्तु

२. वैसे आचार्य का अभाव : जरा भी फर्क न हो वैसे यथार्थ तत्त्वप्रतिपादन अच्छी तरह करने में कुशल आचार्य महाराज नहीं मिलें, तो भी जिनवचन समझ में नहीं आ सकता । यहां 'आचार्य' याने, मुमुक्षु आत्माओं द्वारा जिसका आचरण किया जाता है या सेवन किया जाता है वह आचार, उससे सम्पन्न आचार्य का ही मुमुक्षु सेवन करें । परन्तु वैसे आचार्य (१) यदि विपरीत तत्त्व प्रतिपादन करते हों, अथवा (२) विपरीत न हो तब भी सामने वाले को समझ में आवे वैसे सरल शैली से विवेचन करने में चतुर न हों, तो वैसे आचार्य के मिलने से पूर्वोक्त विशेषणों से विशिष्ट जिनवचन के भाव समझ में नहीं आ सकते । इस तरह जिनवचन नहीं समझ सकने में यह कारण, अथवा मति-दुर्बलता ही कारण हो, या दोनों कारणों की भी सम्भावना हो सकती है । अथवा साथ में,....

३. ज्ञेय की गहनता के कारण : जो जाना जाता है वह 'ज्ञेय' कहलाता है । ऐसे ज्ञेय पदार्थ धर्मास्तिकायादि द्रव्य या नयभंगी आदि; उनकी गहनता के कारण से भी वे समझ में न आवें और जिनवचन का बोध न हो (अबोध रहे) ऐसा हो सकता है ।

४. ज्ञानावरणीय कर्म का उदय : पहले से या तत्काल वैसे ज्ञानावरणीय कर्म उदय में आने से जिनवचन के भाव समझ में नहीं आवे, ऐसा हो सकता है ।

प्रश्न यदि ज्ञानावरण के उदय को ही कारण बताना है तो वह एक ही कारण कहो । मति-दुर्बलता आदि कारण तो उसमें समाविष्ट हो जाते हैं; क्योंकि वे भी ज्ञानावरण के उदय से ही होते हैं । तो फिर इन सब को भिन्न कारण कहना युक्तियुक्त नहीं है ।

उत्तर- नहीं वह युक्तियुक्त है । यद्यपि जिनवचन समझ में नहीं आता उसके कारण रूप में ज्ञानावरण के उदय के कार्य को ही बताना है, परन्तु वह भी संक्षेप से तथा विस्तार से दोनों तरह से कहना है । उसमें भिन्न भिन्न संयोग होने से कारण भी भिन्न भिन्न कहे जाते हैं । संक्षेप से कहें तो ज्ञानावरणीय के उदय से होने वाला अज्ञान ही कारणरूप है और विस्तार से बताने में मतिदुर्बलता आदि कारण बताने पड़ते हैं । मति-दुर्बलता आदि ज्ञानावरणीय के उदय के कार्य तो हैं, परन्तु उपाधि याने विशेषण याने संयोग भिन्न होने से मति-दुर्बलता आदि भिन्न भिन्न कारण होने का कहा जा सकता है । किसी को मति-मंदता से, किसी को वैसे आचार्य के न मिलने से तो कहीं ज्ञेय की गहनता से....ऐसे भिन्न भिन्न संयोगों से ज्ञानावरण का उदय काम कर जाता है ।

(५-६) हेतुव उदाहरण का असम्भव (याने न होना) : किसी कथन में हेतु या उदाहरण नहीं मिलने से भी जिनवचन का भाव बुद्धि में न उतरे, ऐसा हो । 'हेतु' याने प्रयोजन अथवा कारण । प्रस्तुत में 'प्रयोजन' अर्थ का कोई उपयोग नहीं है । क्योंकि किसी कथन का प्रयोजन समझ में न आने से वह कथन समझ में न आवे, ऐसा नहीं होता । इससे टीकाकार महर्षि ने यहां 'हेतु' शब्द का अर्थ 'कारण' ले कर कारण के रूप में कारक तथा व्यंजक दो अर्थ लिये हैं । इसमें 'कारक' याने उत्पादक, उदा० अग्नि के होने में कारक हेतु ईंधन है; तब 'व्यंजक' याने बताने वाला हेतु धुंआ है ।

‘हेतु’ याने जो पदार्थ को ‘हिनोति’=मगज में भेजे, याने बतावे । उदा० मकान की खिड़की में से धुंआ बाहर आता हुआ दिखाई दे, तो वह धुंआ अन्दर अग्नि होने का बताता है । अतः धुंए को हेतु कहा जाता है । यह व्यंजक हेतु बना । जिनवचन के किसी किसी कथन का याने कथित विधान का हेतु न मिले तो वह कथन समझ में नहीं आवे ऐसा हो सकता है ।

‘उदाहरण’ याने सचमुच बनी हुई घटना या कल्पित दृष्टान्त; वह न बताया हो तो भी जिनवचन समझ में न आवे वैसा हो सकता है ।

इस तरह इन छ कारणों में से किसी भी कारण से जिनवचन-कथित कोई वस्तु या बात बिल्कुल समझ में न भी आवे या अच्छी तरह समझ में नहीं आवे; तो चाहे समझ में न आया हो, तब भी जिनवचन या तत्कथित वस्तु के लिए बुद्धिमान पुरुष यह विचार करे:—

जिनवचन क्यों असत्य नहीं ?—सर्वज्ञ-वचन और सर्वज्ञोक्त वस्तु असत्य हो ही नहीं सकती । उसका कारण यह है कि चराचर विश्व में श्रेष्ठ जिनेश्वर भगवान को स्वयं दूसरों से उपकार हुआ हो या न हुआ हो तो भी वे उनके प्रति धर्मोपदेश आदि से अनुग्रह-कृपा-उपकार करने में तत्पर रहते हैं, उद्युक्त होते हैं । ऐसे एकान्त उपकार-प्रवृत्ति वाले जिनेश्वर को जगत को ठगने का क्या काम है कि वे असत्य बोलें ? हां, उपकारी को तो कहीं कदाचित् रागादिवश असत्य बोलने का संभव हो सकता है क्योंकि (१) राग याने आसक्ति वश झूठ बोला जाता है; पैसों पर राग है अतः व्यापारी ग्राहक को झूठा कहता है । (२) द्वेष याने अप्रीति के कारण भी झूठ बोला जाता है; उदा० सौतेली मां अपनी सपत्नी के (सौत के) पुत्र के बारे में रति को झूठा कहती है । इसी तरह (३)

रागदोस कसायाऽऽसवादिकिरियासु वट्टमाणाणं ।

इह परलोयावाए भाइज्जा वज्जपरिवज्जी ॥५०॥

अर्थ:—राग, द्वेष, कषाय तथा आश्रवादि क्रियाओं में प्रवृत्त को इस लोक व परलोक के अनर्थ कैसे होते हैं, वर्ज्य (अकृत्य) का त्यागी उसका ध्यान करे, उसे एकाग्रता से सोचे ।

मोह याने अज्ञान; वस्तु का बराबर पता न होने से भी असत्य बोला जाता है । ऐसे राग द्वेष या मोह के कारण कथन में झूठ आता है । किन्तु इन जिनेश्वर भगवान ने तो असत्य के कारणरूप राग द्वेष व मोह सब को जीत लिया है । 'रागादि को जीते वह जिन' अर्थात् रागादि को हमेशा के लिए अपनी आत्मा में से हटा दिया है, फिर उन्हें असत्य बोलने का कोई भी कारण रहता ही नहीं है । इसलिए वे 'अन्यथावादी' याने हो उससे भिन्न (या फर्क वाला) बोलने वाले हो ही नहीं सकते । इससे उनके वचन में या उनके कहे पदार्थ में असत्यता हो सकती हो कहां से ?' अतः अपनी मति-दुर्बलता आदि के कारण से समझ में न आवे तो भी जिनवचन-जिनाज्ञा को एकांत (सम्पूर्ण) सत्य तथा हितकर मान कर उसका पूर्वोक्त विशेषणों से ध्यान करना चाहिये । यह पहला 'आज्ञाविचय' नामक धर्मध्यान हुआ । यह धर्मध्यान के ध्यातव्य का प्रथम नेद ।



२. अपाय-विचय

अब ध्यातव्य का दूसरा भेद 'अपाय विचय' कहते हैं:—

विवेचन :

धर्मध्यान का दूसरा प्रकार 'अपायविचय' है । इसमें रागादि क्रिया से इस लोक व परलोक में उत्पन्न अनर्थ कैसे हैं यह ध्यान करने का है । वह क्रमशः इस तरह है:—

जीव का स्वभाव अक्रिय अवस्था है; जिसमें कोई राग क्रिया, द्वेष क्रिया, कषाय क्रिया, मिथ्यात्वादि आश्रय क्रियाग या हिंसादि की कायिकी आदि क्रिया करने का नहीं है। परन्तु संसार में ये क्रियाएँ कर के जीव दुःख और पाप तथा दीर्घ-संसार भ्रमण ही पाता है। कहा है कि:—

राग-द्वेष के अनर्थ

गगः संपद्यमानोऽपि दुःखदो दृष्टिगोचरः ।

महाव्याध्यभिभूतस्य कुपथ्यान्नाभिलाषवत् ॥

दृष्ट्यादि-भेद-भिन्नस्य रागस्यामुष्मिकं फलम् ।

दीर्घः संसार एवोक्तः सर्वज्ञैः सर्वदंशिभिः ॥

अर्थ:—अप्रशस्त वस्तु का राग उठते ही दुःखदाई बनता है; जैसे महारोग से घिरे हुए को कुपथ्य खुराक की अभिलाषा। मन में कुपथ्य खाने की इच्छा उठते ही शरीर पर उसका प्रभाव पड़ता है। ऐसे ही यहां विषयादि का राग उठने पर भी दुःख अशान्ति व अस्वस्थता का प्रारम्भ होता है। बाद में होने वाले दुःखों को तो क्या पूछना?

दृष्टि आदि प्रकारों से भिन्न भिन्न राग का याने (१) दृष्टिराग (किसी असत् मान्यता की पकड़), (२) कामराग, और (३) स्नेहराग का परलोक में फल सर्वज्ञ सर्वदर्शी तीर्थङ्कर भगवन्तों ने दीर्घ संसार कहा है।

द्वेषः संपद्यमानोऽपि तापयत्येव देहिनाम् ।

कोटरस्थो ज्वलन्नाशु दावानल इव द्रुमम् ॥

दोसानल संसत्तो इहलोए चेव दुक्खिओ होई ।

परल्लोयंभि य पावो पावइ निरयानलं तत्तो ॥

अर्थ:— जैसे पेड़ के कोटर में दावानल जल उठने से पेड़ को जला देता है, वैसे ही हृदय में द्वेष उठते ही वह प्राणी को जलाता है ।

द्वेषरूपी अग्नि में स्पर्श होने पर पहले तो इस जीवन में ही दुःखी होता है और फिर परलोक में वह पापी जीवन नरक की अग्नि में जलता है ।

क्राधादि कषायों में भी ऐसा होता है । इसके नुकसान के बारे में कहा है:—

काषायों के अनर्थ

क्रोहो य माणो य अग्निग्गहिया, माया य लोहो य पवड्डमाणा ।

चत्तारि एए कप्पिणा कसाया सिञ्चन्ति मूलं पुण्णभवस्स ॥

क्रोहो पीडं पणासेइ माणो विणायणासणो ।

माया भित्ताणि णासेइ लोहो सव्वविणासणो ।

अर्थ:—क्रोध व अभिमान को यदि अंकुश में नहीं लिया या नहीं दबाया, तथा माया व लोभ यदि बढ़ते गये, तो ये चारों कषाय अखंड रह कर पुनर्जन्म संसार के बीजस्वरूप कारणों को सींचते हैं । (संसार के कारण हैं मिथ्यात्व, अर्थ, काम, आहारादि संज्ञाएँ, हिंसादि दुष्कृत्य; ये सब क्रोधादि कषायों से पुष्ट होते हैं । इससे संसार पुष्ट होता है ।

क्रोध प्रीति का नाश करता है, मान विनय का धात करता है, माया मित्रों को भगा देती है तो लोभ सर्व विनाशक है ।

मिथ्यात्व अज्ञान के अनर्थ :

इसी तरह आश्रवों के याने मिथ्यात्वादि कर्मबन्ध के हेतुओं के अनर्थ भी कैसे भयंकर हैं ?

मिच्छत् मोहियमई जीवो इहलोए एव दुःखाई ।
 निरयोवमाई पावो पावइ पसमाइगुणहीणो ॥
 अज्ञानं खलु कष्टं क्रोधादिभ्योऽप सर्वपापेभ्यः ।
 अर्थं हितमहितं वा न वेत्ति येनावृतां लोकः ॥

अर्थः—मिथ्यात्व से मोहित मति वाला पापी जीव प्रशम संवेग आदि गुणों से रहित होने से इस जीवन में ही नरक के जैसे दुःख प्राप्त करता है । (नरक के जीव को बाहर की तीव्र वेदना से अन्तर मन-में भारी संताप-दुःख होता है । तो ऐसे जीवों को अन्दर से मिथ्यात्व की पीड़ा से और उससे बाह्य उलटी प्रवृत्ति की विडंबनाओं से अन्तर में भारी संताप होता है ।)

क्रोधादि सर्व पाप से भी अज्ञान मिथ्यामात सचमुच ही दुःख-रूप है । क्योंकि इससे आच्छादित लोग हिताहित वस्तु को नहीं समझते । (यदि अज्ञान मिथ्यात्व न हो तो क्रोधादि होने पर भी वह समझेगा कि 'इसमें मेरा अहित है; इसके त्याग में ही मेरा हित है ।' इससे वीर्योक्तास बढ़ने पर उसे फेंक दे । किन्तु यदि मिथ्यात्व हो तो क्रोधादि को अहितकारक समझता ही नहीं, तो फिर उसका त्याग क्यों करे ?)

अविरति के अनर्थ

इसी तरह अविरति आश्रव के भी अनर्थ को इस तरह सोचें—

जीवा पावन्ति इहं पाणवहादविरईए पावाए ।
 नियसुयवायणमाइ दोसे जणगरहिए पावा ॥
 परलोयंमि वि एवं आसवकिरियाहि अज्जिए कम्मे ।
 जीवाण चिरमवाया निग्गाइगई भमंताणं ॥

अर्थ:—हिंसादि के पाप की अविरति (छूट) से पापी जीव लोक में निदापात्र ऐसे स्वपुत्रघात आदि दोषों में फँसते हैं । (प्रतिज्ञा से हिंसादि का त्याग नहीं किया, उससे वैसा मौका आ जाने पर अपने पुत्र आदि का भी घात करने जैसे पाप का आचरण करते हैं । चुलनी ने अपने पुत्र ब्रह्मदत्त को लाख के घर में जिन्दा जला देने का दाव लगाया था ।) यह तो इस जीवन में अनर्थ हुए ।

आश्रव रूप क्रियाओं से उत्पन्न कर्म वश परलोक में भी जीवों को नरक आदि गतियों में भटकते हुए दीर्घ काल तक अनर्थ होता रहता है ।

यहां मूल गाथा ५०वीं में 'आसवादि' शब्द से आश्रव के साथ 'आदि' शब्द रखा है, यह नही राग द्वेष, कषाय और मिथ्यात्व अविरति आश्रव के अवांतर अनेक भेदों का सूचक है । यहां अन्य आचार्य कहते हैं कि यह 'आदि' पद प्रकृतिबंध, स्थितिबंध, अनु-भागबंध और प्रदेशबंध का ज्ञापक है । इसलिए इन दो अपेक्षाओं से रागादि के अपाय सोचने में रागादि के अवांतर अनेकानेक प्रकारों के तथा रागादि के प्रकृतिबंध, स्थितिबंध आदि के अनर्थों का भी चिंतन किया जा सकता है ।

५ प्रकार की क्रिया

'किरियासु' याने कायिकी, अधिकरणिकी, प्रादेशिकी, पारि-तापनिकी और प्राणातिपातिकी क्रिया के भा अनर्थों का चिंतन करे । कहा है कि:—

किरियासु वट्टमाण काईयमाईसु दुक्खिया जीवा ।
इह चेव य परलोत्थे संसार-पवड्डया भणिया ॥

अर्थ:—कायिकी आदि क्रियाओं में प्रवृत्ति करते हुए जीव इस

जीवन में ही दुःखी होता है और परलोक में संसार की अत्यन्त बढाने वाले बनते हैं ।

जिस क्रिया में अन्त में जीव की हिंसा होती है, उसमें पांच कदम होते हैं । पहले काया की हलचल होती है तो वह कायिकी क्रिया । फिर हिंसा का साधन पकड़ता है वह अधिकरणिकी क्रिया । बाद में हिंसा के लिए मन में द्वेष, क्रूरता, कठोरता आदि उत्पन्न हों वह प्राद्वेषिकी क्रिया । फिर शास्त्र-प्रयोग करते हुए जीव को दुःख देना होता है वह पारितापनिकी क्रिया; और अन्त में जीव का नाश होता है वह प्राणापातिकी क्रिया है ।

आश्रव के अनर्थ के दृष्टांत

यहां राग, द्वेष, कषाय, मिथ्यात्व, अविगति और हिंसादि क्रिया से उत्पन्न अनर्थों का चितन करना है, वह इस तरह से करे कि 'अरे ! इस जीवन में रागादि में से कैसे कैसे महानुकसान-महानहानि-होती हैं । मम्म धन पर के राग पूर्वक सुख से खा पी भी न सका । कोशिक राज्य के लोभ में द्वेष से पिता श्रेणिक को कैद में डालने वाला बना, और जब उसे भान आया तब पिता को गुमा देना पड़ा । सुभूष समृद्धि के लोभ में और मद में घातकी खंड के भरत को जीतने जाते वक्त विमान तथा सारे लश्कर सहित समुद्र में गिर कर डूब मरा । प्रदेशी राजा ने सूर्यकान्ता रानी पर बहुत राग किया तो रानी ने अन्त में जहर दिया । धवल सेठ श्रीपाल पर द्वेष की प्रवृत्ति करते करते दुःखी होकर अन्त में श्रीपाल को मारने जाते हुए गिरा ओर अपनी ही कटारी से स्वयं ही मरा । कुलवालक मुनि वेश्या के राग में अन्त में भगवान का स्तूप उखाड़ डलवाने वाला हुआ । अभया रानी को सुदर्शन सेठ पर कामराग तथा माया करने पर देशनिकाल की सजा हुई । सोमिल ससुर ने गजसु-कृमाल को द्वेष से मार डालने के बाद वह स्वयं कृष्णजी को देखते ही हृदयाघात हो जाने में मर गया ।

रागादि के स्वयं को नित्य होने वाले अनर्थों में

उदाहरणवस्तु पर राग करने से (१) उसके विगडने पर दुःख होता है। (२) राग के कारण खराब को अच्छा मानने का अज्ञान उत्पन्न होता है। (३) विषय-राग के कारण देव-गुरु-धर्म पर ऐसा राग उत्पन्न नहीं होता है और (४) जिस पर राग है उसके बारे में कभी कभी दूसरों की टीका सुनकर द्वेष आदि उत्पन्न होता है। इस तरह (१) द्वेष के तथा ईर्ष्या के कितने ही अनर्थ उत्पन्न होते हैं। (२) अभिमान करने के पीछे भी सहन करना या हारना कहां नहीं होता है? इसी तरह (३) अविरति याने पाप की छूट के कारण उन पापों में अतिरेक या अधिकता हो जाती है और बाद में सहन करना पड़ता है। उदाहरण—मिठाई की अविरति होने से वह ज्यादा खा जाने से पेट चढ़ता है या दुःखता है ऐसा होता है। इस तरह जगत में चलते हुए अनर्थों पर दृष्टि करें तो दिखेगा कि उन सब की जड़ में ये रागादि ही कारणस्वरूप हैं।

इस प्रकार का चिंतन करते हुए 'अपायविचय' धर्मध्यान होता है। उसका महान लाभ यह है कि इससे आर्तध्यान सकता है। जहां आर्तध्यान होता हुआ लगे वहां अपायविचय या विपाक विचय का प्रारंभ कर देना चाहिए।

ऐसी रागादि क्रियाओं के अनर्थ का चिंतन करने वाला कैसा होता है इस सम्बन्धी कहते हैं 'वज्जपरिवज्जी' याने वज्ज अर्थात् वज्र्य त्याज्य या अकृत्य प्रमाद, उसका परिवर्जी याने त्यागी हो। अर्थात् अप्रमत्त हो। लेशमात्र भी प्रमाद का सेवी न हो वह 'अपायविचय' धर्मध्यान बराबर कर सकता है। प्रमत्त हो, प्रमादी

पयइठिइपएमाऽणुभावभिन्नं सुहासुह विहत्तं ।
जोगाणुभाव जणियं कम्मविवांगणं विचित्तेज्जा ॥५१॥

अर्थः—प्रकृति स्थिति प्रदेश अनुभाव के विभागों से भिन्न भिन्न शुभ अशुभ के विभागों से भिन्न तथा योग और कषायादि से उत्पन्न कर्म विपाक का चिंतन करे ।

हो, रागादि सेवन में मग्न हो, उसके हृदय में तो उमकी मिश्रण होने से वह रागादि के अनर्थ दिल से कैसे सोच सकता है ?



विपाक-विचय धर्मध्यान

अब 'विपाक विचय' नामक धर्मध्यान का तीसरा प्रकार कहते हैं ।

विवेचन

'विपाक-विचय' नामक धर्मध्यान के तीसरे प्रकार में आत्मा पर बंधे जाने वाले कर्मों की प्रकृति स्थिति रस प्रदेश के विपाक का चिंतन करना होता है ।

प्रकृति स्थिति प्रदेश तथा अनुभाव

- (१) प्रकृति याने ज्ञानावरण दर्शनावरण आदि कर्मों के मूल प्रकार तथा प्रत्येकके उत्तर भेद और उनके स्वभाव उदाहरणार्थ विपाक के समय ज्ञान का, रोकना दर्शन का, रोकना, आदि का चिंतन करें ।
(२) स्थिति याने कर्मों का आत्मा पर चिपके रहने का काल,

ज्वन्य से समय या अन्तर्मुहूर्त तथा उत्कृष्ट से ७० कोटाकोटि सागरोपम होता है । (३) प्रदेश याने जीव के प्रत्येक प्रदेश (सूक्ष्म अंश) के साथ कर्मपुद्गल के दलिक कहीं ज्यादा व कहीं कम चिपकते हैं । (४) अनुभाग याने विपाक; रसोदय । इसके विपाक में ज्ञानावरणादि के स्वभाव की उग्रता मंदता का अनुभव करना पड़ता है । इस तरह प्रकृति आदि के विपाक का चिंतन करना होता है ।

यह प्रकृति आदि शुभ व अशुभ दो प्रकार से होती है । उदाहरणार्थ ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय तथा अंतराय ये चारों अशुभ ही हैं तो शांतावेदनीय आदि कर्म शुभ हैं और अशांतावेदनीय आदि अशुभ हैं । अतः कर्म की प्रकृति आदि कैसी शुभ या अशुभ हैं, उसका चिंतन करना चाहिये ।

इस विपाक का भी योगानुभाव से चिंतन करना । 'योग' अर्थात् मनोयोग, वचनयोग तथा काय योग तथा 'अनुभाव' से कषाय अविरति, मिथ्यात्व तथा प्रमाद के अनुसार विपाक उत्पन्न होता है । उदा० तंदुलियात्स्य बड़े मत्स्यके मुख में से कितने ही छोटे मत्स्य क्षेमकुशल निकल जाते देख कर मनोयोग से उनके भक्षण का विचार करता है तथा उस पर उसका जोरदार कषाय रहता है । इससे नरकगति के भारी कर्म एवं इनके अतिदुःखद विपाक का सर्जन होता है ।

दूसरी तरह से वृद्ध पुरुषों की व्याख्या के अनुसार 'प्रदेश' याने जीवप्रदेश के साथ कर्मप्रदेश; का मिलन ये कर्म पुद्गल क्षेत्रावगाही होते हैं; याने जीव का प्रदेश जितने क्षेत्र में रहें । उतने ही क्षेत्रमें कर्मप्रदेश रहें । आत्मप्रदेश में ये कर्म प्रदेश स्पृष्ट रूप से, अवगाढ रूप से, अनंतर रूप से तथा अणु व

बादर रूप से और ऊर्ध्व तथा अधोरूप से बंध जाते हैं। पहले आत्म प्रदेश के साथ उनका स्पर्श होता है, फिर 'अवगाढ़' याने प्रविष्ट हाते हैं और तब 'अनंतर' याने अन्तर रहित हिल मिलकर एक रूप हो जाते हैं। वे पहले 'अगु' याने छोटे स्कंध के रूप में और फिर 'बादर' याने बड़े स्कंध के रूप में बंध जाते हैं। एवं ऊर्ध्व व अधो याने ऊपर या नाचे से भी बंधते हैं। इन सबका कर्मविधाक ध्यान में चितन करे।

फिर अनुभाव याने स्पृष्ट-बद्ध-निकाचित आठ कर्मों का उदय से वेदन। स्पृष्ट आदि में सुइयों का दृष्टान्त दिया जाता है। सुइयों को एक रस्सी में पिरोया जाय तब परस्पर स्पर्श कर के रहें वह स्पृष्ट; गरम करने पर परस्पर चिपक जाय वह बद्ध; तथा उन्हें पिघला कर एक करदी जाय तो वह निकाचित। इसी तरह कर्मों का आत्म प्रदेशों के साथ स्पृष्ट, बद्ध या निकाचित रूप से बंध होता है। अथवा हम उन्हें सामान्य संबद्ध विशेष से बद्ध तथा गाढ़ से बद्ध कह सकते हैं। ऐन कर्मों का उदय होकर उन्हें भोगना अनुभाव या अनुभाग कहलाता है।

इस तरह कर्मों के प्रकृति स्थिति, प्रदेश तथा अनुभाव के विपाक का चितन करे। ये कर्म विपाक 'योगानुभाव' से उत्पन्न होता है उसमें मनोयोग आदि तान योग है, तथा मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद व कषाय ये अनुभाव हैं। इन सब तरह से उत्पन्न कर्मों के विपाक का उदय का चितन करे।

यह तो 'विपाकविचय' धर्मध्यान हुआ। इसका प्रभाव यह है कि रोगादि की पीड़ा के समय जो हाय हाय होकर आर्त्तध्यान होता है, वह इससे रुक जाता है और जीव को समता समाधि का

अनुभव होता है । क्योंकि इसमें दृष्टि सीधी पीड़ा के मूलभूत (असली) कारण कर्म के विपाक पर जाता है ।

४—संस्थान विचय

अब चौथे प्रकार 'संस्थान विचय' का वर्णन करते हैं:-

जिण दे सेयाइ लक्खण संठाणऽऽमण विहाणमाणाइं ।

उप्पाय ठिइ भंगाइपज्जया जे य दव्वाणं ॥ ५२ ॥

पंचत्थिकायमइयं लोगमगाइणिइणं जिणक्खायं ।

णामाइभेयविहियं तिविहमहोत्ताय भेयाइं ॥ ५३ ॥

खिइवल्लय दीव सागर नग्गावेमाण भवणाइ संठाणं ।

दो साइण्डुआणं निययं लोगाट्ठिइ विहाणं ॥ ५४ ॥

उवयोगः लक्खण मणाइणिहणमत्थंतरं सरीराओ ।

जीवमरूविं कारिं भोयं चं सयस्म कम्मस्स ॥ ५५ ॥

तस्स य सकम्मज्जाणयं जम्माइजलं कसायपायालं ।

वसणसय सावयमण मोहावतं महाभीमं ॥ ५६ ॥

अण्णाण मारुएरिय संजोगविजोग वीइसंताणं ।

संसार सागर मणोरपार मसुहं विचितेज्जा ॥ ५७ ॥

तस्य य संतरणसहं सम्मदंमणसुववण अणग्धं ।

णाणमयवणधारं चाग्गिमयं महापोयं ॥ ५८ ॥

संवर कयनिच्छिहं तवपत्रणाइद्रजइण तग्वेगं ।
 ववेगमग्गडियं विसोत्तियावीइ निक्खोमं ॥ ५९ ॥
 आरोहुं मुणिवणिगया महग्गमोलेंगरयण पडिपुन्नं ।
 जह तं निव्वाणपुरं सिग्गमविग्गेण पावंति ॥ ६० ॥
 तत्थ य तिग्गयण विणिओग मइयमेगंतियं निराबाहं ।
 साभावियं निरुवमं जह सोक्खं अक्खयमुवेति ॥ ६१ ॥
 किं बहुणा ? सव्वं चिय जीवाइ-पयत्थवित्थगेवेयं ।
 सव्वनयसमूहमयं भाएज्जा समयसम्भावं ॥ ६२ ॥

अर्थः— (चौथे संस्थान विचय में) श्री जिनेश्वर भगवान द्वारा
 उपदिष्ट धर्मास्तिकायादि द्रव्यों के लक्षण, आकृति, आधार प्रकार
 प्रमाण और उत्पाद व्यय ध्रौव्यादि पर्यायों का चिंतन करे ॥ ५२ ॥

जिनोक्त अनादि अनंत पंचास्तिकायमय लोक को नामादि
 नाम स्थापना द्रव्य क्षेत्र काल भाव पर्याय-लोक) भेद से ८ प्रकार
 से तथा अधो मध्य ऊर्ध्व तीन प्रकार से चिंतन करे ॥ ५३ ॥

धम्मा आदि सात भूमियों, धनोदधि आदि वलयों, जंबूद्वीप
 आदि असंख्य द्वीप समुद्रों, नरक; विमान, देवभवन तथा व्यंतर-
 नगरों आदि की आकृति, आकाशवायु आदि में प्रतिष्ठित शाश्वत
 लोक व्यवस्था के प्रकार आदि का चिंतन करे ॥ ५४ ॥

साकार निराकार उपयोग स्वरूप अनादि अनंत, तथा शरीर से भिन्न,
 अरूपी, स्वकर्म का कर्ता भोक्ता आदिरूप जीवका चिंतन करे ॥ ५५ ॥

जीव का संसार (केमा है ?) स्वकर्म से निर्मित, जन्मादि जल-वाला, कषायरूप पाताल सहित, सैकड़ों व्यसन रूपी जलवर वालों वाला, मांहरूपी आवर्त वाला, अति भयानक, अज्ञान पवन से प्रेरित इष्टानिष्ट संयोग वियोग रूप तरंगमाला वाला—अनादि अनंत अशुभ संसार का चिंतन करे ॥ ५६ ॥ ५७ ॥

पुनः उसे तैरने के लिए समर्थ, सम्यग् दर्शन रूपी अच्छे बंध वाला, निष्पाप व ज्ञानमय कप्तान वाले चारित्र्य रूपी महाजहाज का चिंतन करे ॥ ५८ ॥

आश्रवनिरोधात्मक संवर (ढक्कन) से छिद्ररहित किया हुआ, तपरूपी पवन से प्रेरित, अधिक शीघ्र वेग वाला, वैराग्य रूप मार्ग पर चढ़ा हुआ, दुर्ध्यानरूपी तरंगों से क्षोभरहित, महाकीमती शीलांग रूपी रत्नों से भरा हुआ वह महाजहाज है, उस पर आरुढ़ हुए मुनिरूपी व्यापारी शीघ्र निर्विघ्न रूप से मोक्षनगर कैसे पहुंच जाते हैं उसका चिंतन करे ५९ ॥ ६० ॥

पुनः उस निर्वाणनगर में ज्ञानादि तीन रत्नों के विनियोग-मय एकांतिक, बाधारहित, स्वाभाविक अनुपम और अक्षय सुख को जिस तरह प्राप्त करते हैं; उसका चिंतन करे ॥ ६१ ॥

ज्यादा क्या कहें ? जीवादि पदार्थों का विस्तार से सम्पन्न और सर्वनय समूहमय समस्त सिद्धान्त अर्थ का चिंतन करे ॥ ६२ ॥

विवेचन :

धर्म ध्यान के चौथे प्रकार 'संस्थान विचय' में वीतराग सर्वज्ञ जिनेश्वर भगवंत कथित सिद्धान्त के पदार्थों का विचार करना

होता है। यहां संस्थान याने 'संस्थिति, अवस्थिति, स्वरूप, पदार्थों का स्वरूप' अर्थ होता है। विचय याने चितन अभ्यास करना। सर्वज्ञ कथित सिद्धान्त शास्त्र के पथार्थ ही यथार्थ होने से उनका ही चितन अभ्यास करना होता है। ये पदार्थ नाम से इस प्रकार है:-

संस्थान विचय में सोचने के पदार्थ

निम्न पदार्थों के स्वरूप का एकाग्र चितन करना है। इसमें मुख्य पदार्थ हैं, ६ द्रव्य, पंचास्तिकाय मय अष्टविध लोक, क्षेत्रलोक, जीव, ससार, चारित्र और मोक्ष।

१. ६ द्रव्यों के लक्षण आकृति, आधार प्रकार, प्रमाण, उत्पा- दादि पर्याय-।	४. जीव नित्य उपयोग देह, भिन्न, अरूपों, कर्मकर्ता भाग्य। ५. संसार सागर।	तप वैराग्य दुर्ध्यान } अस्पृष्ट } शीलांगभृत मुनि	पवन मार्ग तरंग से अक्षुब्ध रत्नभृत व्यापारी
२. नाम-स्थापना-द्रव्य क्षेत्र-काल-भाव पर्याय-लोक-इन भेदों से पंचास्ति- काय लोक—वह नित्य है।	जन्मादि कषाय व्यसन मोह अज्ञानप्रेरित संयोग वियोग	जल पाताल श्वापद आवर्त पवन प्रेरित- तरंग	६. मोक्षनगर ज्ञानादि विनियोग सुख एकाँ न्तिक, निर्बाध } सहज अनुपम, } अक्षय।
३. ७ पातालभूमि-द्वीप समुद्र-नरक-विमान भवन-व्यंतर नगर १४ राजलौक सं- स्थान।	६ चारित्र जहाज सम्यक्तव निष्पाप ज्ञान संवर	बंधन निर्दोष कप्तान छिद्र स्थगन	जीवादि तत्त्वविस्तार से युक्त सर्वनयसमूहमय सिद्धान्त पदार्थ।

इसका चिंतन इस प्रकार किया जाय कि 'अहो ! जगत् में छ द्रव्य कैसे कैसे एक दूसरे से बिलकुल स्वतन्त्र लक्षण वाले हैं, इससे कभी भी यह एक द्रव्य दूसरे द्रव्य रूप नहीं हो जाता । फिर धर्मास्तिकाय द्रव्य का लक्षण 'जीव तथा पुद्गल की गति में सहायक' होना है इसीलिए ये दो द्रव्य लोकाकाश के अन्त तक जा सकते हैं, आगे अलोक में नहीं । क्योंकि धर्मास्तिकाय लोकाकाश व्यापी ही है । मछली गमन तो अपनी शक्ति से ही करती है पर उसमें पानी सहायक होने से पानी के किनारे तक ही वह जा सकती है, आगे नहीं । धर्मास्तिकाय की सहायता से जीव तथा पुद्गल के लिए ऐसी ही गति है । इसी तरह से अधर्मास्तिकाय का लक्षण 'इन दो द्रव्यों की स्थिति में सहायक' होना है । अशक्त वृद्ध पुरुष को चलते हुए बीच में खड़े रहने के लिए लकड़ी सहायक होती है, इसी तरह जीव व पुद्गल की स्थिति यानी स्थिरता करने में यह अधर्मास्तिकाय सहायक है । आकाश का लक्षण अवगाहना (समावेश) है । वह बाको के अन्य द्रव्यों को अपने में समाविष्ट यानी अवकाशदान करता है । द्रव्य कहाँ रहेगा ? कहाँ अवगाहना करेगा ? Space में आकाश में ।

पुद्गल का लक्षण पूर्ति करना व गलना है । यह एक ही द्रव्य ऐसा है कि जिसके अन्दर अपने सजातीय द्रव्य मिलते हैं और अलग भी हो जाते हैं । अन्य सब द्रव्य जीव सहित, अखण्ड रहते हैं । उनमें न कुछ बढ़ता है, न घटता है । तो जगत् में पुद्गल की जोड़ तोड़ कैसी चलती है ? बड़े मेरु जैसे में भी पुद्गलों का सड़ना, पड़ना व विध्वंस होना और पूर्ति होना चालू है ।

जीव का लक्षण चैतन्य है, ज्ञानादि का उपयोग है । वह इसी में होता है, अन्य में नहीं । इसीलिए यही एक चेतन द्रव्य है अन्य सब जड़ द्रव्य है । काल का लक्षण वर्तना है, वह वस्तु में नया पुराना भावी अतीत आदि रूपों का परिवर्तन करता है । वस्तु का

होना वही है, तब भी एक घण्टे के बाद उसे जो पुरानी कहेंगे । वह काल द्रव्य के आधार पर उसे एक घण्टा पुरानी कहेंगे ।

इस तरह लक्षणों के विचार से पता चलता है कि छहों द्रव्यों में से एक एक द्रव्य का लक्षणकार्य स्वयं ही कर सकता है, दूसरा द्रव्य नहीं । यह सूचित करता है कि छहों द्रव्य भिन्न-भिन्न हैं और एक दूसरे से स्वतन्त्र हैं । इन लक्षणों पर बहुत कुछ चिंतन किया जा सकता है ।

(ii) आकृति (संस्थान) : संस्थान याने आकृति मुख्यतः अजीव पुद्गल की रचनाओं का आकार ही है, इस बात का यहां—इसमें चिंतन किया जाता है । उदाहरण गोले का आकार, ढाल की तरह गोल, त्रिकोण (त्रिभुज) चतुर्भुज या लकड़ी जैसा लम्बा आदि आकार मुख्य हैं । बाकी अन्य गौण आकारों का पार नहीं है । जंगल में कैसी कैसी विचित्रता होती है । पुद्गल के आकार ही जीव के आकार गिने जाते हैं । जीव और शरीर का आकार समचतुरस्र संस्थान, न्यग्रोध संस्थान, सादि-वामन, कुब्ज, और हुंडक कुल ६ संस्थान होते हैं । क्रमशः (१) पद्मासन से बैठे हुए व्यक्ति का दाहिने घुटने से बायें कंधे तक का अन्तर, एवं बायें से दाहिने कंधे तक का अन्तर, दो घुटनों का अन्तर, और ललाट से नीचे दोनों पैरों के मध्य भाग तक का अन्तर, ये चारों समान होते हैं । (२) न्यग्रोध में वट वृक्ष का तरह नाभि से ऊपर का शरीर लक्षण तथा प्रमाण वाला होता है, (३) 'सादि' में इससे उलटा याने (नीचे का लक्षण प्रमाण युक्त), (४) 'वामन' में सिर गला, हाथ, पैर ही लक्षण प्रमाण वाले, (५) कुब्ज में ये खराब, परंतु छाती पेट आदि अच्छे और (६) हुंडक में सर्व अवयव प्रमाण व लक्षण रहित होते हैं । शरीर तथा तत्सम्बन्धी जीव के इन संस्थानों का चिंतन करना चाहिये । धर्मास्तिकाय का आकार लोकाकाश के जैसा है । लोकाकाश का आकार नीचे उलटी छाब जैसा, मध्य में

खंजरी जैसा तथा ऊपर संयुट (मिट्टी के एक दीपक पर दूसरा उलटा दीपक) जैसा होता है जिसमें क्रमशः नीचे से ऊपर तीनों हिस्सों में अधोलोक (नरक) मध्यलोक (मृत्युलोक) तथा ऊर्ध्वलोक (स्वर्गादि) हैं । काल का आकार मनुष्य क्षेत्र याने अद्धा क्षेत्र जैसा है (अद्धा=काल) क्योंकि काल मनुष्यलोक में स्थित सूर्य चन्द्र की गति के आधार से गिना जाता है ।

(iii) आसन याने आधार : छः द्रव्यों के रहने का आधार क्या है ? यह सोचना है । इसमें व्यवहार नय (दृष्टि) से लोकाकाश स्वयं धर्मास्तिकायादि अन्य पाँचों द्रव्यों का आधार है । क्योंकि वह क्षेत्र रूप है, अन्य द्रव्य उसमें स्थित होने से क्षेत्रीय हैं । अथवा निश्चय दृष्टि से तो प्रत्येक वस्तु अपने स्वरूप में ही रहते हैं, क्योंकि दूसरे में रहने पर यह प्रश्न होता है कि वे आधार पर सर्वांश में रहते हैं या अंश में ? सर्वांश से रहें तो तद्रूप बन जाने की आपत्ति आती है । अंश में रहे तो पुनः प्रश्न उपस्थित होगा कि वस्तु यदि अंश में रहती है तो उस अंश के सर्वांश में रहेगी या अंश में ? इस तरह सोचने से व्यवस्था नहीं रहती । इसलिए यह कहना चाहिये कि वस्तु दूसरे में न रह कर अपने ही स्वरूप में रहती है । यह स्वस्वरूप ही आधार है । इस तरह व्यवहार तथा निश्चय से आधार का चिंतन करें ।

(iv) विधान याने प्रकार : इसमें छः द्रव्यों के आवांतर भेदों को विचारें । उदा० धर्मास्तिकाय के प्रकार : १. अखंड धर्मास्तिकाय स्कंध, (२) धर्मास्तिकाय का देश (हिस्सा), ओर (३) धर्मास्तिकाय का प्रदेश याने छोटे से छोटा अंश । इसी तरह अधर्मास्तिकाय आकाश और जीव के भी भेद होते हैं । तो पुद्गल में स्कंध, देश, प्रदेश उपरांत परमाणु भी एक भेद है । स्कंध से छूट कर अलग हुआ प्रदेश परमाणु कहलाता है । यह तो एक

तरह से भेद (प्रकार) की बात हुई । इसके अलावा जीव और पुद्गल के अनेक तरह से भेद होते हैं । उदा० जीव में मुक्त और संसारी, त्रस और स्थावर, एकेन्द्रिय, बेइन्द्रिय....पंचेन्द्रिय तथा इन प्रत्येक के उत्तर भेद आदि का चिंतन करना है । इसी तरह पुद्गल में औ.....दारिक वर्गणा, वक्रिय वर्गणा, आहारक तेजस...., भाषा; श्वासोच्छ्वास; मन; तथा कामर्ण वर्गणा....आदि । इन प्रकारों का चिंतन यह सब 'संस्थानविचय' धर्मध्यान में आता है ।

(V) प्रमाण : छः द्रव्यों के प्रमाण का चिंतन करें । प्रमाण याने परिमाण या साधक युक्ति । इस का चिंतन करना । उदा० परिमाण में, धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, लोकाकाश और जीव ये चारों समान नाप के असंख्य प्रदेशी हैं । तब भी जीव शरीर के प्रमाण में छोटा बन जाता है । अलवत्ता, इसमें एक भी प्रदेश कम न होकर उन सब का संकोच होता है, इतना ही । बाकी देव जैसे भी जब दूसरा शरीर याने उत्तर वेक्रिय शरीर बना कर बाहर मेजते हैं, तब मूल (असली) शरीर के आत्म प्रदेश लंबे विस्तृत बन कर अखण्ड संगन रहते हैं । बीच के अन्तर में भी आत्मप्रदेश रहते हैं । केवलज्ञानी समुद्घात करे तो एक समय के लिए समस्त लोकाकाश में उनके आत्मप्रदेश व्याप्त हो जाते हैं । पुद्गल में एक परमाणु से लेकर अनन्त प्रदेशीय स्कंध हैं, परन्तु ज्यादा से ज्यादा वह लोकाकाश के असंख्य आकाश प्रदेश में समा जाय उतने ही नाप का होता है । अब दूसरा अर्थ सोचें ।

प्रमाण याने ६ द्रव्य की साधक युक्ति : उदा० धर्मास्तिकाय के लिए यह सोचें कि 'स्वाभाविक गति वाला परमाणु तथा जीव लोकाकाश से बाहर क्यों नहीं जाता ? तो वहां मानना पड़ेगा कि गति सहायक कोई तत्त्व सिर्फ लोकाकाश में ही है, पर बाहर नहीं है अर्थात् बाहर अवकाशदान करने वाला द्रव्य

आकाश तो है पर गतिसहायक धर्मास्तिकाय द्रव्य नहीं है, अतः बाहर गति नहीं है यह मानना पड़ता है। अन्यथा परमाणु आदि अनन्तानन्त काल में अनन्तानन्त आकाश के भीतर कहीं के कहीं बिखर जाने से वर्तमान व्यवस्थित जगत जो दिखाई देता है, वह किस तरह होता ? इसी तरह अधर्मास्तिकाय की साधक दलील यह है कि जैसे अशक्त मनुष्य लकड़ी के सहारे खड़ा, आधा खड़ा या खड़े पैरों से ऊकड़ूँ बैठ कर स्थिर रह सकता है, वैसे ही लोक में जीव या पुद्गल भिन्न भिन्न स्थिति में स्थिर रह सकते हैं, वह किसके सहारे ? कहना ही पड़ेगा कि अधर्मास्तिकाय के सहारे। जीव द्रव्य को साधक युक्ति में तो अनेकानेक हैं। उदा०

(१) 'मैं' ऐसा संवेदन कौन करता है ? देह से भिन्न आत्मा पर देह नहीं। यदि ऐसा न होता तो जहां 'मैं' ऐसा मूर्ख नहीं कि ज्यादा खाकर मेरा शरीर बिगाड़ूँ', यह सोचा या कहा जाता है वहां यह सोचना चाहिये था कि 'मैं' ऐसा मूर्ख नहीं हूँ कि ज्यादा खाकर मैं बिगड़ूँ।'।

(२) इसी तरह 'मैं' रोग से या घाव से पीड़ित हूँ, पर समता व समाधि से सुखी हूँ' यह भाव शरीर कैसे कर सकता है ? शरीर तो रोग से पीड़ित व दुःखी ही है सुखी कहाँ है ? भिन्न आत्मा ही, यह ह्याल कर सकता है।

(३) इसी तरह, सबसे प्रिय कौन ? शरीर नहीं पर आत्मा। इसी लिए तो मौके पर घोर अपमान या बेइज्जती होने पर दुःख से छूटने के लिए जीव अपने पैसों आदि को जाने देता है, यहां तक कि अपने शरीर का भी नाश कर देता है। इसी तरह आत्मा की साधक अनेकानेक युक्तियाँ सोची जा सकती हैं।

(vi) पर्याय : छः द्रव्यों के उत्पाद स्थिति भंग (नाश) आदि पर्यायों का चिंतन करना। पर्याय याने अवस्था। इसमें छहों द्रव्यों में सर्वव्यापी समान पर्याय याने अवस्था तो उत्पत्ति स्थिति

नाश की मिलती है। श्रीतत्त्वार्थ महाशास्त्र (अ० ५ सू० २९) कहता है कि 'उत्पाद व्यय ध्रौव्य युक्तं सत्' याने सत् मात्र उत्पत्ति नाश और स्थिरता वाला होता है। वे छहों द्रव्य सत् हैं। अतः ये छहों इन तीनों पर्यायों से युक्त हैं। प्रश्न यह उठता है कि—

एक ही पदार्थ में उत्पत्ति स्थिति नाश तीनों कैसे ?

प्रश्न— एक में तीनों एक साथ कैसे रहें ? क्योंकि उत्पत्ति युक्त याने उत्पन्न, नाश से युक्त याने नष्ट, और स्थिति युक्त याने स्थिर। तो जो उत्पन्न हो वही नष्ट किस तरह और वही पहले से स्थिर भी किस तरह हो सकता है ?

उत्तर— किसी अपेक्षाविशेष से एक ही वस्तु उत्पन्न होती है और अन्य विशेष अपेक्षा से वही वस्तु नष्ट भी होती है और अपेक्षाविशेष से स्थिर भी हो सकती है। उदा० राजा के दो लड़कों के लिए खेलने का एक सोने का छोटा कलश था। उसमें एक लड़का कहीं बाहर गया तब दूसरे लड़के ने कहा 'मुझे खेलने के लिए मुकुट चाहिये।' तो राजा ने किसी व्यक्ति के साथ उसी कलश को भेजकर सोने के यहां उसे गलाकर मुकुट करवा के मंगवाया। इसमें स्वर्ण नामक वस्तु स्थिर है, पर वही कलश के रूप में नष्ट हो गया है और वही मुकुट के रूप में उत्पन्न हो गया है। एक ही पदार्थ में तीनों अपेक्षा से तीनों पर्याय हैं। इसीलिए तो जब बाहर गया हुआ लड़का वापस आकर यह देखता है तो वह कलश का प्रेमी होने से नाराज होता है और उसी समय दूसरा लड़का मन-पसन्द मुकुट बना हुआ होने से खुश होता है। पर पिता राजा स्वर्ण स्थिर रहा हुआ होने से मध्यस्थ है। एक ही समय पर राजा व उसके दो पुत्र तीनों की वृत्तियों भिन्न भिन्न होने के पीछे कोई कारण अवश्य है और वे कारण भिन्न भिन्न होने से ही भिन्न भिन्न वृत्तियाँ होती हैं। दिखाने में कारणस्वरूप वस्तु चाहे एक ही दिखाई दे,

परन्तु यह मामला पड़ेगा कि एक ही वस्तु जो कलश रूप थी, वह नष्ट होने से पहला खेद करता है, वही मुकुट रूप हो जाने से दूसरा खुश है और वही स्वर्ण रूप में कायम है अतः राजा को कुछ भी खोने या कमाने का न होने से वह मध्यस्थ रहता है । कहा है :—

घट-मौली-सुवर्णार्थी नाशोत्पत्ति-स्थितिष्वयम् ।

शोक-प्रमोद-माध्यस्थ्यं जनो याति सहेतुकम् ॥

पयोव्रती न दध्यत्ति, न पयोऽपि दधिव्रतः ।

अगोरस व्रतो नोभे तस्मात् तत्त्वं त्रयात्मकम् ॥

अर्थ,—घटार्थी मुकुटार्थी व सुवर्णार्थी घटनाश, मुकुटोत्पत्ति तथा सुवर्ण स्थिति में शोक, हर्ष और माध्यस्थ्य भाव का अनुभव करते हैं वह सहेतुक है । (तीनों भाव के हेतु वहां एक में ही उपस्थित हैं ।)

‘मुझे दुध ही चाहिये’ ऐसे व्रत वाला दही नहीं खाता । ‘मुझे दही ही चाहिये’ ऐसे व्रत वाला दूध नहीं खाता तथा ‘मुझे अगोरस ही चाहिये’ ऐसे व्रत वाला दूध दही दोनों नहीं खाता । अतः (निश्चित होता है कि) गोरस तत्त्व त्रितयात्मक है; अर्थात् गोरस दूध भी है, दही भी है और गोरस भी है । दूध था तब दही न था, दही बना तब दूध नहीं रहा, पर गोरस तो पहले भी था और अब भी है । इस तरह एक ही पदार्थ त्रितयात्मक बना ।

नित्य द्रव्य में भी उत्पत्ति नाश किस तरह ?

प्रश्न—धर्मास्तिकायादि नित्य द्रव्यों में उत्पत्ति स्थिति नाश किस तरह होता है ?

उत्तर—वह इस तरह कि धर्मास्तिकायादि कोई भी द्रव्य वर्तमान समय से सम्बद्ध के रूप में बना हुआ है याने उत्पन्न है;

अतीत समय-सम्बद्ध के रूप में नहीं रहा याने नष्ट है; तब भी मूल धर्मास्तिकाय के रूप में खड़ा है, कायम है। अतः इसका अर्थ यह हुआ कि कोई भी पदार्थ अमुक समय के साथ सम्बन्ध हुआ इस अपेक्षा से उत्पन्न है, अब अतीत समय-सम्बन्ध नहीं रहा इस अपेक्षा से नष्ट है और मूल द्रव्य की अपेक्षा से कायम है। कहा है :-

सर्व व्यक्तिषु नियतं क्षणे क्षणेऽन्यत्वमथ च न विशेषः ।

सत्योश्चित्यपचित्योराकृतिजाति — व्यवस्थानात् ॥

अर्थः—समस्त वस्तुव्यक्ति में प्रतिक्षण निश्चित प्रकार की विभिन्नता आती रहती है, तब भी उस में अनेकव्यक्तित्व नहीं होती, एकव्यक्तित्व ही है; क्योंकि इसमें कमीबेशी होने पर भी आकार व जाति वही व्यवस्थित है, कायम है। अथवा आकार और जाति की स्वतन्त्र व्यवस्था है, याने आकार बदलता है, जाति नहीं बदलती। जाति न बदलने से व्यक्ति वही खड़ी रहती है और उसमें आकार बदलने से उसके स्वरूप पर्याय-अवस्था भिन्न भिन्न होती है।

उदा० धर्मास्तिकायादि उस उस क्षण-सम्बद्ध वस्तु के रूप में भिन्न भिन्न होने से उसमें प्रतिक्षण निश्चित प्रकार की भिन्नता आई; तब भी इसका विशिष्ट आकार और धर्मास्तिकायता रूप जाति तो ज्यों की त्यों खड़ी है; इसमें इसमें एक-व्यक्तित्व है, अनेक-व्यक्तित्व नहीं। इसीलिए सोना कलश, मुकुट, कंठी, कड़ा आदि रूप में बदलने पर भी व्यक्ति वही सोना ही है; क्योंकि उसमें असल सोने का आकार, याने स्वर्णपत्र का माल वजन चमक आदि, कायम (स्थिर) हैं; साथ ही स्वर्णत्व की जाति भी कायम है अर्थात् वह सोना है ऐसा व्यवहार खड़ा ही है। सोने की जाति नहीं बदली। अथवा आकार कलश, मुकुट आदि बदलने पर भी स्वर्ण जाति वही रहती है। ऐसा ही प्रत्येक व्यक्ति में है। तात्पर्य यह कि एक ही व्यक्ति

में उत्पत्ति नाश व स्थिरता तीनों पर्याय रहते हैं । ऐसे ही अन्य पर्याय उदा० अगुरु लघु पर्याय, अनुवृत्ति पर्याय, व्यावृत्ति पर्याय आदि अनन्त पर्याय होते हैं । द्रव्यों में उनका चिंतन हो सकता है । ऐसे विशाल दृष्टि से वस्तु के विविध पर्यायों का चिंतन करे तो इष्ट संयोग व अनिष्ट वियोग के बारे में होने वाले आर्त्ताध्यान से बच सकते हैं ।

२. पंचास्तिकायमय लोक पर चिंतन

‘अरे ! यह लोक जिनेश्वर भगवान ने कैसा अनादि अनन्त पंचास्तिकायमय बताया है ।’ ‘लोक’ याने ज्ञान में जो कुछ दिखाई दे (आलोक्ति हो) वह सब; अर्थात् समग्र विश्व । अनन्तज्ञानी वीतराग तीर्थङ्कर भगवन्तों ने विश्व का यथास्थित स्वरूप बताया है, वह यह कि विश्व पांच अस्तिकायमय है—धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, पुद्गलास्तिकाय और जीवास्तिकाय । इस तरह चिंतन करें ।

५ अस्तिकायों की दृष्टान्त से समभाव

जिस तरह आंख वाले को वस्तुदर्शन करने में दीपक सहायक है, इसी तरह जीव पुद्गल को गति करने में धर्मास्तिकाय सहायक है । जैसे बैठने की इच्छा वाले पुरुष को स्थिर बैठने में भूमि सहायक है, वैसे जीव और पुद्गल को स्थिति या स्थिरता करने में अधर्मास्तिकाय सहायक हैं । जिस तरह घड़ा बेर के रहने के लिए स्थान देता है, वैसे ही जीवादि चारों अस्तिकाय को आकाश रहने का स्थान देता है । जीव ज्ञान स्वरूप है, सर्व भाव का ज्ञाता है, कर्म का भोक्ता व कर्ता है । भिन्न भिन्न अनेक जीव संसारी और कोई मुक्ति रूप में हैं यह जिनागम में कहा है । तो पुद्गल स्पर्श, रस, गंध, वर्ण शब्द स्वभाववाला और इसी से मूर्तस्वभाव तथा संयोजन और

विभाजन से उत्पन्न होने वाला है ऐसा जिनेन्द्र भगवान ने कहा है । उदा० दो परमाणु के संयोजन से द्वचगुक्त द्रव्य बना । अब वह परमाणु द्रव्य नहीं रहा । पर उसमें पुनः अवयव या विभाजन हो तब वे पुनः दो परमाणु बनेंगे । 'बनेंगे' अर्थात् उत्पन्न होंगे । अस्ति का काय याने प्रदेशों का समूह । इन पाँचों में प्रत्येक में देश प्रदेश हैं और प्रदेश छोटे से छोटा सब से बारीक अंश है । इससे पूरा द्रव्य प्रदेश-समूहात्मक है याने (प्रदेश=अस्ति तथा काय=समूह) अस्तिकाय है । इस तरह काल के सिवाय पाँचों द्रव्य स्वतन्त्र अस्तिकाय हुए ।

प्र० काल अस्तिकाय क्यों नहीं ?

उत्तर— अस्तिकाय ऐसी वस्तु है कि जिसमें प्रदेश-समूह एक साथ होते हैं, एक ही समय में वह एक त्रिसमूह देखा जा सकता है । परन्तु काल तो जब कभी देखें तब वर्तमान एक ही समयरूप प्राप्त होता है । उसके पूर्व के समस्त अतीत समय नष्ट होने से वर्तमान समय के साथ एकत्रित नहीं दिख सकते । साथ ही बाद के समय से लेकर भावी अनन्त समय अभी उत्पन्न ही नहीं हुआ, इससे वर्तमान में वह भी एकत्रित हुआ नहीं मिल सकता । इस तरह कभी भी काल के अनेक समय इकट्ठे प्राप्त न होने से उसे अस्तिकाय कैसे कहा जा सकता है ?

प्रश्न— चाहे एक समयरूप काल हो, पर विश्व में पंचास्तिकाय के अलावा उसका अलग नष्ट नहीं गिनने का क्या कारण है ?

उत्तर— कारण यह है कि पंचास्तिकाय में वह समाविष्ट है । इससे वह भिन्न द्रव्य नहीं । वह इस तरह से है कि काल का कार्य वस्तु में नयापन, पुरानापन आदि पर्याय खड़ा करने का है । परन्तु वस्तु में जैसे उन उन कारणों से दूसरे पर्याय खड़े होते हैं, वैसे ही सूर्य चन्द्रादि की क्रिया के सम्बन्ध से काल पर्याय याने एक-

सामयिक द्विसामयिक....आदि और नया पुरानापन आदि पर्याय उत्पन्न होते हैं; और पर्याय द्रव्य में भेदाभेद सम्बन्ध से आश्रित हैं, अतः द्रव्य से कथंचित् अभिन्न याने एकरूप होने से काल का नम्बर अलग न गिन कर विश्वान्तर्गत बताए हुए द्रव्य-पर्याय में उसका समावेश गिन लिया ।

ऐसा पंचास्तिकायमय लोक अनादि-निधन अर्थात् आदि और निधन (नाश, अन्त) रहित है । अनादि कहने से इस बात का निषेध किया कि 'लोक (विश्व.जगत कभी भी ईश्वर से रचित होता है ।' ईश्वर रचना का निषेध इस लिए कि उससे अनेक आपत्ति खड़ी होती हैं ।

जगत् कर्ता ईश्वर के सिद्धान्त में आपत्तियाँ :

(१) यदि ईश्वर की रचना के पहले कुछ नहीं था, तो उपादान कारण बिना जगत रूपी कार्य कैसे बना ? (२) यदि कहो कि 'उपादान परमाणु थे' तो निमित्तभूत कारणों के बिना कार्य कैसे हुआ ? (३) ईश्वर ने किस प्रयोजन से रचना की ? (४) अच्छे बुरे की रचना होने से ईश्वर रागी द्वेषी सिद्ध नहीं होगा ? (५) रचना के लिए पहले तो ईश्वर का शरीर ही कैसे बना ? और वह कितना बड़ा होगा ? (६) ईश्वर ने जीव भी बनाये, ऐसा मानने से प्रारम्भ में दुःखी और कुकर्मि बनाने वाला ईश्वर कितना अधिक तामसी व निन्द्य ? इत्यादि अनेक आपत्तियाँ खड़ी होने से 'जगत ईश्वर ने बनाया ?' का सिद्धान्त युक्ति रहित सिद्ध होता है और अमान्य बन जाता है ।

अतः कार्यकारण-भाव के बटल सिद्धान्त से तथा 'नासतो विद्यते भावो, नाभावो विद्यते सतः' अर्थात् जगत में भोई भी भाव पहले सर्वथा असत् नहीं था, तथा सत् का सर्वथा अभाव याने नाश

कभी नहीं होगा । इस सिद्धान्त से पंचास्तिकाय लोक अनादि अनंत सिद्ध होता है ।

‘लोक’ के नामादि ८ निक्षेप

‘लोक’ का अनेक तरह से दर्शन होता है, इससे वह अनेक-स्वरूप का है । उदा० श्री ‘आवश्यक नियुक्ति’ शास्त्र के ‘चतुर्विंशति स्तव’ नामक अध्ययन में कहा है:—

नाम द्रवणा दविए खित्ते काले भवे अ भावे अ ।

पज्जवत्तो गो अ तहा अट्ठविहो लो गनि वखेवो ॥

अर्थ:—नामलोक, स्थापना लोक, द्रव्यलोक, क्षेत्रलोक, काल-लोक, भवलोक, भावलोक और पर्यायलोक ये ८ निक्षेपे ‘लोक’ के हैं । अर्थात् लोक के ८ विभाग हैं या ८ प्रकार से है । १. नामलोक याने जिसका नाम ‘लोक’ रखा वह; वह कौन है ? (यह क्या है ?) उत्तर में ‘लोक’ कहा जावेगा । परन्तु यह नाममात्र से लोक हुआ । २. ‘स्थापनालोक’ किसी चीज में लोक की स्थापना की जाती है । उदा० १४ राजलोक के नक्षत्रों में बताया जाता है कि यह इतना लोक है और बाकी का अलोक है । (३) द्रव्य लोक याने द्रव्य रूप लोक; सब जीव अजीवरूप द्रव्यों को कहा जाता है । (४) क्षेत्र लोक : क्षेत्र रूपी लोक समस्त लोकाकाश को कहा जाता है और अनन्त आकाश भी क्षेत्रलोक है; क्योंकि आकाश क्षेत्र रूप है, चाहे उस सब का उपयोग न भी हुआ हो, होता हो । यहां ‘लोक’ याने अवलोकित हो, ज्ञान से जाना या देखा जाय वह । (५) काललोक : एक समय से लेकर पुद्गल परावर्त तक के काल को कहा जाता है । (६) भव लोक : याने वर्तमान भव में रहे हुए चारों गति के जीव जिसे भोग रहे हैं वह । (७) भाव लोक: याने औदयिक, औपशमिक,

आयिक, आयोपशयिक व पारिणामिक और सांनिपातिक इन ६ प्रकार के भावों को कहते हैं। ('औदयिक' भाव याने कर्म के उदय से आत्मा में उत्पन्न होने वाला परिणाम ... इत्यदि। 'पारिमाणिक' याने जीव का अनादि सिद्ध जीवत्व भव्यत्वादि परिणाम। सांनिपातिक याने औदयिकादि पांच भावों में से जीव, याने जीव में जितने भावों का सद्भाव हो वह।) (८) पर्यायलोक याने जीव अजीव द्रव्यों के गुणपर्याय भावों का होना वह। ये सब पर्याय अनन्त-न्त हैं, वह भी लोक। 'लोक' याने 'अवलोकन' हो सके वैसे वस्तु या पदार्थ; अतः वह उक्त आठ प्रकार से है।

ऐसा लोक अनादि काल से चला आता है और अनन्त काल रहेगा, ऐसा जिनेश्वर भगवान ने कहा है।

प्रश्न— पूर्व श्लोक में 'जिनदेशित' कह कर जिनेश्वर भगवन्त ने उद्देश दिया है तो कहा ही है। उसका यहां भी सम्बन्ध है, तो यहां पुनः 'जिणक्खायं' पद से यही वस्तु कही है, यह पुनरुक्ति दोष नहीं है ?

उत्तर— नहीं। 'जिणक्खायं' पद को पुनः लगाने का अर्थ श्री जिनेश्वर भगवान के प्रति और उनके शब्दों के प्रति आदर बताने के लिए है। यहां आदर यह है कि (i) अहो ! प्रभु कैसे करुणावान हैं कि उन्होंने यह भी कहा ! तथा (ii) अहो ! पंचास्तिकाय लोक और नाम आदि आठ प्रकार के लोक भी श्री जिनेश्वर भगवन्त ने ही कहा है !' ऐसे आदर से सम्यग्दर्शन निर्मल होता है। इससे वैसा आदर करवाने का सुन्दर लाभ देने वाला पद पुनः कहा जाय तो भी उसमें पुनरुक्ति दोष नहीं है।

पुनरुक्ति दोष कहां कहां नहीं ?—

अनुवादादर वीप्सा भृशार्थ विनियोग हेत्वसुयासु ।

ईषत्संभ्रम त्रिस्मय गणना स्मरणेष्व पुनरुक्तम् ॥

अर्थः—^१अनुवाद, ^२आदर, ^३वीप्सा, ^४अत्यन्ततार्थ, ^५सौदा, ^६हेतु, ^७ईर्ष्या, ^८न कुछ, ^९संभ्रम, ^{१०}त्रिस्मय, ^{११}गिनती तथा ^{१२}स्मरण ये पुनः बोलने से पुनरुक्ति दोष नहीं होता ।

उदा० (१) '१२ महीने का वर्ष होता है', इसमें वर्ष शब्द अनुवाद के लिए है अतः उसका अर्थ भी १२ महीने ही होने पर भी पुनरुक्ति दोष नहीं है । (२) आदर के लिए, 'भाई' तुम आये सा अच्छा हुआ; और देखो न ! भाई ! तुम्हारे बिना यह कार्य कौन कर सकता है ?' इसमें दूसरी बार 'भाई' के सम्बन्ध में पुनरुक्ति दोष नहीं है । (३) 'जाओ, जाओ, देखने जंसा है ।' इसमें जाओ का दो बार कहना वीप्सा कहलाता है । वह जाने का महत्त्व बताता है । इसमें भी पुनरुक्ति दोष नहीं है । (४) मनुष्य बात बात में मान करता है, मान बिना चलता ही नहीं ।' इसमें मान ज्यादा (भृश) करता है, यह बताने के लिए ही पहले वाक्य के उपरान्त दूसरा वाक्य इसी अर्थ में कहा, इससे इसमें पुनरुक्ति दोष नहीं है । इसी तरह इन अन्य प्रसंगों में भी पुनरुक्ति दोष नहीं गिना जाता जैसे (५) व्यापार में सौदा करने में एक बात कई बार बोली जाती है । (६) किसी प्रतिपादन को बराबर ठसाने के हेतु अनेक बार बताया जाता है । लड़के को कहा जाता है : 'देख बहुत नहीं खाना, इससे शरीर बिगड़ता है, बीमारी आती है, काम रुकते हैं । (७) ईर्ष्या में मनुष्य एक ही बात बार बार कहता है : उस सेठ का रौब कैसा है ? किसी से मिलता ही नहीं ! किसी के साथ बात ही नहीं करता । उसे बुलाओ न, बोलता है ? नहीं, अक्षर भी नहीं बोलेगा ।

‘(८) ईषत् याने न कुछ (जरा) बताना हो उदा० वीर प्रभु के १२॥ वर्ष छद्मस्थ काल में कुछ निद्राकाल में २ घड़ी; याने कहो कि प्रमाद ईषत्, कुछ नहीं; साढे बारह वर्ष सतत अग्रमाद ।’ (१) संप्रम याने अपूर्व हर्ष में पुनरुक्ति; उदा० माँ पडोसिन से कहती है : मेरा पुत्र पहले नम्बर पास हुआ । एक भी लड़के को आगे नहीं आने दिया । सबसे ज्यादा मार्क ले आया । (१०) विस्मय से उदा० ‘प्रभु ~~ही~~ आज की आंगी कैसी अद्भुत ! कैसी अपूर्व ! पहले ऐसी आंगी कभी नहीं देखी ।’ यह बोलने में पुनरुक्ति दोष नहीं है । (११) वस्तु की गिनती में उदा० २४-२४ के ढेर बनाने हों तो १, २, ३, ४... आदि अंक बार बार बोले जाते हैं । (१२) गाथा याद करनी हो, रटना हो तो उसे ही बार बार बोला जाता है । इन सब में पुनरुक्ति दोष नहीं माना जाता । इस तरह प्रस्तुत में ‘जिनाख्यात’ पद आदर का कारण होने से उसमें पुनरुक्ति दोष नहीं है ।

क्षेत्रलोक पर चिंतन :

अब क्षेत्रलोक बताते हैं । अधोलोक, मध्यलोक व ऊर्ध्वलोक; इस तरह क्षेत्रलोक है । इस क्षेत्रलोक में सोचने का क्या क्या है वह कहते हैं:- (गाथा ५४)

क्षेत्रलोक के चिंतन में रत्नप्रमादि पृथ्वी, घनोदधि आदि वलय, द्वीप, सागर, नरकावास, विमान, भवन, व्यंतरनगर आदि की आकृति का विचार करें ।

पृथिवियों में : यहां से नीचे नीचे धर्मा, वंशा, शेला, अंजना, रिष्टा, मवा, माधवता, ये सात नरकवंश की रत्नप्रभा, शर्कराप्रभा, वालुकाप्रभा, पंकप्रभा, धूमप्रभा, तमःप्रभा व तमस्तमः प्रभा नामक पृथ्वी, रोटी की तरह गोल सात पाताल भूमि हैं । पहली पृथ्वी की मोटाई १,८०,००० योजन है, उसके नीचे नीचे की उससे

कम कम योजन मोटी और प्रत्येक लोकाकाश के अन्त तक विस्तृत तथा नीचे और चारों ओर पास में धनोदधि आदि विद्यो से आवेष्टित है। इन सात पृथ्वियों के उपरान्त एक पृथ्वी १४ राज-लोक के याने लोकाकाश के सिरे (ऊपर) पर ५ अनुत्तर विमान से १२ योजन ऊँची है। यह ईषत् प्राग्भारा याने सिद्धशिला नाम की और स्फटिक रत्न की है। वह भी रोटी जैसी गोल किन्तु बीच में ८ योजन मोटी और वहाँ से धीरे धीरे पतली बनती जाती है जिससे बिल्कुल किनारे पर तीक्ष्ण होती है। उसका विस्तार (चौड़ाई याने व्यास) ४५ लाख योजन है। उतने ही प्रमाण वाले ढाई द्वीप के किसी भी स्थान से जीव मोक्ष प्राप्त करके वहाँ से सीधी गति में ऊँचे जाकर सिद्धशिला के ऊपर लोक के अन्त भाग में स्थिर होता है।

वल्लय : प्रत्येक पाताल भूमि के नीचे और चारों ओर उसे आवेष्टित करके रहे हुए धनोदधि, धनवात और तनवात हैं। उसमें पहला वल्लय जमे हुए बर्फ जैसा, उसके नीचे दूसरा जमे हुए वायुरूप और उसके नीचे सूक्ष्म वायुरूप होता है। ये वल्लय थाली जैसे हैं और एक थाली में दूसरी थाली रखी हो उस तरह हैं, एक में दूसरी, दूसरी में तीसरी। तीसरी धनोदधि; फिर उसमें रोटी जैसी पृथ्वी जो पूरा थाली में भरी हो। ऐसे ३-३ वल्लय प्रत्येक पाताल पृथ्वी के नीचे हैं, अतः कुल २१ वल्लय हुए।

द्वीप : बीच में जम्बू द्वीप रोटी जैसा गोल है और प्रमाण अंगुल के नाप से १ लाख योजन लम्बा चौड़ा याने व्यास वाला है। इस द्वीप के चारों ओर लवण समुद्र चूड़ी के आकार का है और २ लाख योजन चौड़ा है। उसके चारों ओर घातकी खण्ड भी चूड़ी के आकार का तथा ४ लाख योजन चौड़ा है। फिर उसके चारों ओर समुद्र द्वीप समुद्र द्वीप... आते हैं जिसमें अन्तिम द्वीप

स्वयंभू रमण द्वीप है। प्रत्येक का नाप पूर्व पूर्व से द्विगुणा-दुगुना चौड़ा है। वह अन्तिम द्वीप असंख्य लाख योजन है; वह अन्तिम द्वीप असंख्य लाख योजन का है; क्योंकि कुल द्वीप असंख्यात है। इसमें मध्य के जम्बू द्वाप + धातकीखंड + गा पुष्करवर द्वीप = २॥ द्वीप इतना बड़ा मनुष्यलोक है। १६ लाख योजन का मोटा पुष्कर-वर द्वीप चूड़ी जंसा है; उसमें ८-८ लाख योजन के दो भाग करने वाले मानुषोत्तर पर्वत की रेखा पूरे द्वीप में चारों ओर गोलाकार है। उसके अन्दर की ओर के हिस्से में २॥ द्वीप हैं और उसमें ही मनुष्य रहते हैं। जम्बूद्वीप में भरत, महाविदेह और वन आदि १ क्षेत्र हैं और इन प्रत्येक के बीच में लम्बे पर्वत हैं जो ६ हैं। जम्बू-द्वीप के बीच में एक लाख योजन ऊंचा मेरु पर्वत है। जम्बूद्वीप के दोनों ओर पूर्व पश्चिम धातकीखंड तथा पुष्करार्ध में प्रत्येक इसी तरह होने से कुल ५ मेरु, ५ भरत, ५ ऐरावत तथा ५ महाविदेह आदि हैं।

समुद्र : दो लाख योजन लवण समुद्र से लेकर असंख्य योजन के अन्तिम स्वयंभू रमण समुद्र तक असंख्य समुद्र हैं। इसमें एक तरफ गांव व दूसरा तरफ राम जैसी बात है। लवण २ लाख का तो बीच में जम्बू १ लाख का; धातकी खंड ४ लाख का तो बीच में लवण जम्बू मिल कर ३ लाख और जम्बू के दोनों तरफ के लवण का नाप गिनें तो ५ लाख याने जम्बू १ लाख तथा दो तरफ का लवण कुल ४ लाख मिलकर ५ लाख योजन हुए। अतः धातकी-खंड ३ लाख योजन ज्यादा चौड़ा। बस, इसी तरह अन्तिम स्वयंभू रमण समुद्र दोनों तरफ मिल कर जितना है, उससे बीच के कुल द्वीप समुद्र दोनों ओर के मिल कर कुल केवल ३ लाख योजन कम होते हैं।

नरक नारकी जीवों के उत्पन्न होने के नरकावास जिस

पृथ्वी पर होवें सब नरक है । मकान की एक दूसरे पर बनी मंजिलों की तरह प्रतारों में अन्धेरी गुफा जैसे हैं । नरक में १३ प्रतारों में पहला सीमान्तक नरकावास है । ऐसे ३० लाख हैं । सारों नरकभूमि में क्रमशः ३०, २५, १५, १०, ३ लाख पांच कम १ लाख तथा मात्र ५ नरकावास है । कुल मिलकर ८४ लाख हुए ।

विमान : ज्योतिषी देव सूर्य चन्द्र के असंख्य विमान हैं । उससे ऊपर वैमानिक देवों के ८ देवलोक में क्रमशः ३२, २८, १२, ८ व ४ लाख तथा ५०, ४० व ६ हजार हैं । ९-१० में ४०० तथा ११-१२ में ३०० विमान हैं । उससे ऊपर नवग्रहवेयक में ४१८ तथा पांच अनुत्तर के ५ विमान हैं । कुल ८४९७०२३ विमान वैमानिक देवों के हैं । बीच का सर्वार्थसिद्ध नामक अनुत्तर विमान १ लाख योजन का है । अन्य सभी विमान प्रत्येक असंख्य योजन के विस्तार वाले होते हैं ।

भवन : भवनपति देवों के रहने के देवी मकान भवन कहलाते हैं । वे ७ थरोड़ ७२ लाख हैं । इसमें नीचे नीचे आसुर कुमार आदि १० प्रकार के देव रहते हैं उसमें असुरनिकाय, नागनिकाय आदि कुल १० निकाय हैं । प्रत्येक भवन असंख्य योजन का होता है । 'भवणार्द्र' में आदि पद से नगरादि समझें ।

नगर : व्यन्तर देवों के रहने के नगर असंख्य हैं । पहली रत्नप्रभा पृथ्वी में ऊपर के १००० योजन मोटाई के हिस्से में ऊपर नीचे के १००-१०० योजन छोड़कर बाकी ८०० योजन के पीले हिस्से में आये हुए हैं ।

ये सब पृथ्वी, वलय, द्वीप, समुद्र, नरक, विमान, भवन, नगर आदि के संस्थान याने आकार का चिंतन करना होता है कि वे कैसे कैसे आकार के हैं । उनके एकाग्र चिंतन में जो धर्मध्यान होता है

वह संस्थान विचय धर्मध्यान हुआ । मात्र ऐसे पदार्थ के चिंतन में भी यह ताकत है ।

लोकस्थिति : लोकस्थिति याने लोक की व्यवस्था मर्यादा । उसका चिंतन करे । लोक में जहां जहां पृथ्वी, पर्वत, समुद्र विमान आदि जिस जिस प्रकार से व्यवस्थित हैं, वहां वह आकाश व वायु आदि में प्रतिष्ठित है । उदा० ऊपर सिद्धशीला लोक के अग्र भाग में व्यवस्थित है वह किसके आधार पर है । उसके नीचे मात्र आकाश ही है । जैसे पर्वत के नीचे भूमि होती है वैसे उसके नीचे भूमि नहीं है । इसी तरह अनुत्तर तथा ग्रंथेयक आदि विमान आकाश में आधार रहित रहे हुए हैं । इसी तरह तनवात भी आकाश में अवस्थित है ।

विमान आदि आधार रहित कैसे रह सकते हैं ?

प्रश्न— तो वे आकाश में नीचे गिर नहीं जाते ? आधार रहित कैसे रह सकते हैं ?

उत्तर— आकाश में आधार रहित रहे हुए हैं, यह हकीकत है । सूर्य चन्द्र आकाश में इसी तरह स्थित दिखते ही हैं न ? कैसे रह सकते हैं ? उसकी स्पष्टता यही है कि तथा स्वभाव याने उनका वैसा स्वभाव ही है । यह ऐसी परिस्थिति शाश्वत काल की है, लोक स्थिति है वह वस्तुस्वभाव है, अतः वह वैसे ही रहती है । यदि आकाश के बदले उसका कोई अन्य आधार होने का आश्रय रखा जाय तो पुनः यह प्रश्न आकर खड़ा होता है कि यह आधार किसके आश्रय पर टिका है ?....वैसे प्रश्न करते रहने पर आखिर तो आधार आकाश का ही मानना पड़ता है और उसके वैसा होने या रहने का कारण वस्तु का तथा स्वभाव ही है । फिर तो स्वभाव के बारे से 'ऐसा स्वभाव क्यों ?' ऐसा प्रश्न नहीं हो सकता । क्योंकि स्वभाव

अचित्य अहेतुक पदार्थ है। अग्नि की ज्वाला का स्वभाव ऊपर जाने का क्यों ? और वायु का स्वभाव तिरछा जाने का क्यों है ? उसका जवाब यही है कि वह वस्तु स्वभाव है अस्तु ।

रत्नप्रभादि पृथ्वी धनीदधि के आधार पर हैं। वह फिर तनो-दधि के ऊपर है। तो वह तनुमात पर अवस्थित है। पर्वत तथा समुद्र तो पृथ्वी पर अवस्थित हैं। भारी वायु पर हलके रजकण आदि ऊपर रह जाते हैं, जिसके हट जाने पर वे रजकण नीचे गिर जाते हैं।

आकाशादि के आधार पर इस तरह रहना शाश्वत काल से है। इसी तरह तनवात पर तनवात पर धनवान, धनवात पर धनोदधि तथा उसके ऊपर पृथ्वी...यह व्यवस्था भी शाश्वत है। इसमें कोई फर्क नहीं पड़ता। 'संस्थान विचय' में इस सब का चितन हो सकता है। अब जीव पदार्थ पर का चितन बताते हैं।
(गाथा ५५)

४. जीव पदार्थ पर चितन

जीव वस्तु पर चितन के यहां ६ प्रकार बताये हैं : वे इस तरह हैं :—लक्षण, कालस्थिति, शरीर भिन्नता, अरूपिता, कर्तृत्व तथा भोक्तृत्व। इन प्रत्येक पर निम्न प्रकार से चितन किया जा सकता है :—

१. लक्षण : जीव का लक्षण उपयोग है। यह ज्ञानदर्शन दो प्रकार से है : ज्ञानोपयोग व दर्शनोपयोग।

प्रश्न— ज्ञानदर्शन को उपयोग क्यों कहते हैं ? '३५=सायीप्येव बोग = मिलना याने जो गाढरूप से उड़े वह उपयोग' यदि इस अर्थ में ज्ञान दर्शन जीव के साथ गाढरूप से जुड़ने के कारण उसे उपयोग

कहा जाय तो पुद्गल में भी रूप रसादि गुण गाढ रूप से जुड़ते हैं तो इसमें क्या रूप रसादि को उपयोग कहागे ?

उत्तर— 'उपयोग' का यहां यह अर्थ नहीं है । पर 'उपयोग' याने जिसके द्वारा दूसरे में झकटना से तन्मयता से जुड़ना हो वह । आत्मा को ज्ञानदर्शन से उसके विषय में ऐसा जुड़ना होता है । अर्थात् विषय को तन्मयता से देखता है जानता है । सारांश, ज्ञान-दर्शन 'उपयोग' इस लिए है कि इससे जीव दूसरे विषय में उपयुक्त याने जाग्रत सावधान या जानकार बन जाता है । किसी जड़ को दूसरे का कोई विचार हो नहीं है, दूसरे की जाग्रति या जानकारी नहीं है, कुछ पता ही नहीं, ध्यान ही नहीं है । इसमें उसमें उपयोग नहीं है । तो छोटी चींटी जैसे जीव को चलते हुए यह पता चल जाता है कि यह पानी आया, तो वह निवृत्त हो जाती है, वह उसमें आगे नहीं बढ़ेगी । सिद्ध के जीवों को पूरे जगत का पता चलता है; मात्र उन्हें रागादि न होने से वे उसमें प्रवृत्ति या निवृत्ति नहीं करते ! किसी जड़ को दूसरे का कुछ पता लहीं चलता । दर्पण को भी कुछ समझ में नहीं आता; उसमें पड़ने वाला प्रतिबिम्ब तो मात्र छायाणु का संक्रमण है । अतः जड़ के गुण को उपयोग नहीं कहा जा सकता ।

यह उपयोग दो प्रकार से है । १. साकार, २. निराकार । साकार याने ज्ञानोपयोग, निराकार याने दर्शनोपयोग । यहां 'साकार' = ज्ञान यह विशेष उपयोग है और 'निराकार' = दर्शन यह सामान्य उपयोग है । वस्तु के दो स्वरूप हैं (१) सामान्य और (२) विशेष । ऐसी ही दूसरी वस्तुओं के साथ का समान भाव सामान्य । उदा० दूसरे पार्थिव पदार्थों के समान घड़ा भी पार्थिव है; अतः घड़े की पार्थिवता सामान्य कही जाती है तो दूसरों से भिन्नता विशेष है । उदा० इसी घड़े का घड़ापन अन्य

पार्थिव कुण्ड आदि पदार्थों से भिन्न है। अतः घड़े का घड़ापन उसकी विशिष्टता कही जायगी। फिर दूसरे घड़े के समान इसमें घड़ापन सामान्य है, पर अन्य घड़ों की अपेक्षा उसकी अमुक बना-बट, अमुक मातिकी अमुक स्थान आदि धर्म भिन्न हैं; अतः वे धर्म इस घड़े का विशिष्ट स्वरूप कहे जावेंगे। बस वस्तु को विशेष रूप में देखना वह विशेषोपयोग साकार उपयोग याने ज्ञान कहलाता है और सामान्य रूप से देखना वह सामान्य उपयोग, निराकार उपयोग याने दर्शन कहलाता है।

साकार उपयोग : यह आठ प्रकार का है। मति-ज्ञानादि ५ तथा मति अज्ञान, श्रुत अज्ञान व विभंग ज्ञान ये ३ मिलकर कुल ८ हुए। (इसमें अज्ञान याने ज्ञान का अभाव नहीं पर मिथ्याज्ञान याने मिथ्या दृष्टि का ज्ञान)।

निराकार उपयोग : यह चार प्रकार का है। चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन, अवधिदर्शन व केवल दर्शन। श्री तत्त्वार्थशास्त्र (अ० २ सू० ९) में कहा है 'सद्विविधोऽष्ट चतुर्भेदः' अर्थात् उपयोग दो प्रकार का साकार व निराकार और वह क्रमशः ८ और ४ भेद से है। यह उपयोग ही जीव का लक्षण है। उसका चिंतन करे।

२. चाल स्थिति : यह जीव की अनादि अनन्त है, शाश्वत नित्य है। कभी भी जीव बिलकुल ही नया उत्पन्न हुआ ही नहीं; वैसे ही अत्यन्त नष्ट भी नहीं होता। अलबत्ता, उसमें पर्यायों के परिवर्तन होते रहते हैं। एक जन्म के बाद मृत्यु, पुनः जन्म, फिर मृत्यु; अभी मनुष्य फिर देव, अभी संसारी फिर मुक्त। ऐसे भिन्न भिन्न बदलते हुए पर्यायों की अपेक्षा से जीव अनित्य है। पर इन सब पर्यायों में जीव के रूप में तो वह कायम ही रहता है। उसके प्रवाह से नित्य है। इस पर से वर्तमान जीवन ही देख कर

बैठे रहना, उसके ही सुख सम्मान का विचार करना यह अज्ञान दशा है। जीव के लिए तो अनन्त भूतकाल बह गया, उसने तो कई सुख सम्मान तथा दुःख के पर्वत देख लिये। यहां क्या नया है कि उसमें मोहित हो गये? फिर जीव के लिए भावी अनन्तकाल तो बड़ा ही है। उसे संक्षिप्त वर्तमान के ही मोह खातिर क्यों बिगाड़ा जाय? इस तरह जीव की शाश्वतता का विचार किया जाय। फिर जीव काया से भिन्न होने का विचार करे!

३. काया से भिन्नता : जीव एक स्वतन्त्र द्रव्य है। जैसे औदारिक काया याने हम जो शरीर धारण कर रहे हैं वह योग्य वस्तुओं जैसे घर पैसे चाज वस्तु आदि से बिलकुल भिन्न है; इसी तरह अन्दर रहा हुआ आत्मा भी इस योग्य शरीर से बिलकुल भिन्न वस्तु है। शरीर योग्य होने से ही घर की तरह उसे मँले से उजला, दुर्बल से सबल करके उसे भांगा जाता है। उसमें आनन्द का साधन बनाया जाता है। तो उसका भोक्ता जीव भिन्न सिद्ध होता है। अन्यथा शरीर स्वयं आपको क्या भोगे? इसी तरह कामंणकाय अर्थात् कर्म के संग्रह से भी जीव बिलकुल भिन्न है; क्योंकि वह जीता है, जीयेगा, जीता था अतः वह जीव कहलाता है। 'जीव' शब्द की यह व्युत्पत्ति शरीर को लागू नहीं होती। क्योंकि वह तो अन्त में निश्चेष्ट हो जाता है और फिर उसका तो नाश हो जाता है, फिर जीने की क्रिया कहां से रहेगी? इस तरह शरीर से बिलकुल भिन्न स्वतन्त्र जीव होने का सोचे।

४. अरूपिता : जीव अरूपी है, भूमूर्त है, रूप, रस आदि गुणों से रहित है, अतः सिद्धशिला के ऊपर जहां मुक्त सिद्ध बना हुआ एक जीव है, वहां दूसरे अनन्त मुक्त जीव रहे हुए हैं। अमूर्त होने से जैसे द्विमाग में एक ग्रन्थ का ज्ञान समा सकता है, वैसे ही मोक्ष स्थान छोटा होने पर भी वहीं एक ही स्थान पर

अनन्त मुक्त जीव समा जाते हैं। कोई भी जीव किसी अन्य जीव को बाधा नहीं करता। ये सिद्ध अरूपी होने से ही उन पर अब कर्म, शरीर आदि किसी का भी लेप नहीं लगता। अरूपी जीव पर संसार में तो इसलिए लेप लगता है कि जीव के ऊपर अनादिकाल से कर्म के लेप का प्रवाह चला आ रहा है; इससे लेप पर लेप लगने में विरोध नहीं आता वहां आत्मा रूपारूपी है। फिर सर्वथा अरूपी हो जाने पर भी लेप लगता ही नहीं।

आत्मा की इस असली अरूपिता का ममत्व हो जाय तो फिर (१) उसका उसे महत्त्व लगने से जड़ रूपी पदार्थ उसे 'कुछ नहीं' लगेंगे। कहां मेरी शुद्ध निर्मल अक्षय अजर अमर अरूपिता और कहां जड़ के परिवर्तित होने वाले नाशवन्त बेहूदे रूप रस आदि? इसमें मैं क्यों मिल जाऊं? इसे किस लिए महत्त्व देकर यह सुन्दर मह खराब ऐसे भाव करूं? इस तरह जड़ के प्रति उदासीनता उत्पन्न करने वाली यह अरूपिता की ममता है। (२) रूपी जड़ के लेप के कारण शुद्ध अरूपिता ढंक गई है। साथ ही अनन्त सुख भी दब गया है। अतः रूपी जड़ तो आत्मा का दुश्मन है। तो दुश्मन के माल विविध रूप आदि में अच्छा बुरा क्यों लगे? दुश्मन के माल के प्रति तो नफरत व उदासीनता ही होनी चाहिये। इस तरह रूपी के सामने स्वकीय भव्य अरूपिता का चिंतन करे।

५. स्वकर्म कर्तृत्व : ऐसा शरीर से भिन्न यह आत्मा संसार में है, वहां तक ज्ञानावणादि कर्म का कर्ता है। कर्म बन्ध के कारणों का सेवन करे अतः स्वाभाविक ही कर्म बांधता है। ये कारण जैसे कि हिंसादि पाप को त्याज्य न मानना आदि मिथ्या-दृष्टि, पाप की छूट होना अविरत, राग-द्वेषादि कषाय, तथा हिंसादि पापों का आचरण स्पष्ट दिखता है। कारण ही तो कार्य होगा ही, यह स्वाभाविक है। अतः वद कार्य याने कर्म आत्मा स्वयं

(१) **स्वकर्म कर्तृत्वः**—ऐसा शरीर से अतिरिक्त आत्मा जहां तक संसार में है वहां तक वह ज्ञानावरणीय आदि कर्मों का कर्ता है। कर्मबन्ध के कारणों का सेवन करे तब सहज है कि कर्मबन्ध हो। ये कारण—, उदा० (१) हिंसादि पापों (आश्रवों) को त्याज्य न मानना ऐसी मिथ्यादृष्टि, (२) पाप करने की छूट हो अर्थात् पाप न करने को प्रतिज्ञा न हो यह अविरति, (३) राग-द्वेषादि कषाय, तथा (४) योग यानी हिंसादि पापों की प्रवृत्ति,— ये जीवन में चलते हैं यह स्पष्ट दिखता है। फिर कारणों के होने से कार्य का होना सहज है। इस तरह जीव इन कारणों के सेवन से कार्य 'कर्म' को उत्पन्न करता है, 'कर्म' का कर्ता बनता है। उन कारणों को बिलकुल छोड़ दे तब कर्मकर्तृत्व बन्द हो जाता है। व क्षण में मोक्ष होता है।

सांख्यदर्शनः—आत्मा को सदा के लिए अत्यन्त शुद्ध कूटस्थ नित्य मानता है, अतः कर्मों का कर्ता नहीं मानता। किन्तु यह मानना गलत है, क्यों कि आत्मा अगर कर्मों का कर्ता नहीं, तब तो उस के साथ कर्मों का सम्बन्ध भी नहीं, फलतः उसका संसार नहीं। कारण, कर्मसंयोग यह संसारावस्था है व कर्मवियोग यह मोक्षावस्था है। जीव को यदि संसार ही नहीं, तब मोक्ष किस का करना है? मोक्ष करने योग्य है, मोक्षोपदेशक शास्त्रों हैं, एवं तदर्थ आराध्य मार्ग भी है। इससे सूचित होता है कि आत्मा का मोक्ष अब तक नहीं हुआ है, किन्तु संसार चालू है अर्थात् कर्मसंयोग चालू है। इसका कर्ता आत्मा स्वयं ही है। कोई अन्य व्यक्ति आकर आत्मा के उपर कर्मों को नहीं चिपका देता है; किन्तु आत्मा खुद ही कर्म के कारणों के सेवन द्वारा अपने साथ कर्मों के सम्बन्ध का सृजन करती है।" इस प्रकार कर्मकर्तृत्व का चिन्तन करे। पुनः कर्म-भोक्तृत्व सोचे,—

(२) **कर्म भोक्तृत्वः**—जीव स्वकर्मों का भोक्ता है।

खुद से किये कर्म खुद को भोगने पड़ते हैं। वर्तमान में जीव में अज्ञान है यह क्या है ? अपने ज्ञानावरणीय कर्मों का फलभोग। आंख काम नहीं देती, निद्रा, आती है, .. यह क्या है ? दर्शनावरणीय कर्म का फलभोग। जीव को राग-द्वेष, काम-क्रोध-लोभ आदि होते हैं यह क्या है ? स्वकीय ही कर्मों का वेदन। स्वयं ही किये कर्म स्व को ही भोगने पड़े यह युक्तियुक्त है। उधर व्यापार कोई करे और नुकसान दूसरे को हो यह नहीं बनता। फोड़ा जिसको, उसको पीड़ा भोगनी पड़ती है। जानते हैं कि सीताजी का यहां कोई अपराध नहीं; फिर भी उन का क्यों अपयश व हकालपट्टी हुई ? कहिए उनकी आत्मा के द्वारा पूर्व भव में उपाजित कर्म के जरिये वंसा स्थिति हुई। हां, पूर्वभव में ही कर्म का प्रतिक्रमण-प्रायश्चित्त से नाश कर दिया होता, तो यहां दुःखद कर्मफल भोगना नहीं पड़ता। शास्त्र में कहा है, प्रतिक्रमण, तप, या फलभोग के द्वारा ही कर्मों का नाश होता है, कर्म से मुक्ति मिलती है। कर्मों का आत्मा पर सम्बन्ध हुआ यह मानो फोड़ा हुआ। वह जब पकता है तब उसकी पीड़ा अनुभव में आती है। यही कर्म का फल भोग है। इस प्रकार फलभोग अपने ही कर्मों का होता है। सारांश कर्म है वहां तक कर्म-भोक्तृत्व है, एवं फलभोग से कर्म नष्ट होता है। यह अगर सोचा जाए, तो दुःख में आर्तध्यान नहीं होवे, दूसरे पर द्वेष नहीं होगा, एवं सुख में वस्तु पर मोह आदि रुक जायेंगे।

जीवतच्च के सम्बन्ध में इन लक्ष आदि मुद्दाओं से चिंतन करने पर मन तन्मय एकाग्र बने वहां 'संस्थान विचय' नाम का धर्मध्यान होता है। (गाथा ५५) अब 'संसार' पर चिंतन बताते हैं। (गाथा-५६, ५७)

अब संसार पर चिंतन बताते हैं:—

५ संसार चिंतन

ऐसे शरीर से बिलकुल ही स्वतंत्र आत्म द्रव्य का स्वोपाजित कर्मों के योग से हो संसार उत्पन्न होता है। कर्म का प्रवाह अनादि काल में चालू है, तो संसार भी अनादि काल से चला आता है। “संसार याने संसरण पर्यटन भटकन’ कहां ? जन्म-मरण, गति कर्म, योग, पुद्गल-संबंध, रागादि अशुभ भाव, सुख-दुःख आदि म। स्वकर्म जनित यह संसार है। उसका चिंतन निम्न प्रकार से होता है।

संसार एक समुद्र जैसा है। समुद्र में पानी बहुत है वैसे संसार में जन्म जरा मरण अत्यन्त है अतः कहिए जन्मादि रूप पानी इसमें है। समुद्र का पैदा (पाताल) भी ऐसा है कि जिसमें से अगाध पानी आता ही रहता है, कभी भी पानी आना बंद नहीं होता। इसी तरह संसार में क्रीडादि कषाय रूपी पैदा भी होता है कि उसमें से अगाध जन्मादि बहते ही रहते हैं। फिर संसार समुद्र में सकड़ों व्यसन याने आपत्ति रूपी स्वापद हैं, जलचर जंतु हैं। आपत्ति पीड़ा देने वाली होने से उन्हें स्वापद की उपमा दी है।

यहां गाथा में ‘सावयमण’ पद में ‘मण’ शब्द है। यह दृश्य शब्द है, इसका अर्थ ‘वाला’ होता है। सावयमण याने स्वापद वाला कहा है कि ‘मगु अत्थंमि मुणिज्जह आलं इल्लं मणं च मणुअं च’। ‘मत्त्वर्थ’ में याने संस्कृत में जहां ‘मतु’-मत् वत् प्रत्यय लगता है, वहां प्राकृत में आल, इल्ल, मण, मगुय प्रत्यय आते हैं। जैसे दीन दयाकान के लिए ‘दीनदयाल’ शब्द का उपयोग होता है, वैसे गर्ववान्, गर्विष्ठ के लिए ‘गर्विल्ल’, स्वापदवान् के लिए ‘सावयण’ का उपयोग होता है।

पुनः संसार समुद्र में मोहनीय कर्मरूपी आवर्त्त हैं, भ्रमर हैं; क्यों कि जहाज यदि भ्रमर में फंसा तो वह वही का वहीं गोल

गोल भटकता रहेगा याने चक्कर काटता रहेगा । इसी तरह मोहनीय कर्म भी जीव को भ्रम में या चक्कर में चढ़ाता है, मिथ्यातत्त्व में फसाया रहता है । जीव हिंसादि पाप से सुख लेने जाता है पर दुःख मिलता है; अतः मानता है, कि यह तो अमुक कारण हुआ, अमुक बिगड़ा अतः दुःख आया । अतः अब बराबर ध्यान रख कर हिंसा आदि पाप करने दे । इस तरह हिंसादि पापों के चक्कर में चढ़ता है । फिर संसार समुद्र महा भयंकर है जैसे विराट समुद्र में भय उत्पन्न होता है वैसे ही विराट संसार के अंग अति भयकारक बनते हैं । फिर समुद्र में वायु से प्रेरित बड़ी बड़ी 'लहरें' या तरंगे उठती हैं, व उनकी परंपरा चलती है वैसे ही संसार में ज्ञानावरणीय कर्म के उदय से प्रेरित अज्ञान आदि के कारण संयोग वियोग का परंपरा चलती है ।

प्रश्न— किसी वस्तु के साथ संयोग और फिर उसके साथ वियोग तो दूसरे दूसरे कर्मों के आधीन है, तो यहां ज्ञानावरणीय कर्मोदय से प्रेरित कैसे कहा ?

उत्तर—संयोग वियोग होने मात्र से दुःखद नहीं होते, किन्तु उनके इष्ट अनिष्टता की बुद्धि होने से वे दुःखद बनते हैं और वह बुद्धि अज्ञान के कारण वैसी होती है । उदा० नीरस खानपान का संयोग हुआ, तो 'इसमें राग नहीं होने से भयंकर कर्म बंध रुक गया, 'यह बहुत लाभ हुआ' ऐसा न लगकर 'यह अनिष्ट संयोग हुआ' ऐसा अज्ञान से लगता है । ऐसे तो कितने ही अनिष्ट संयोग, इष्ट वियोग तथा इष्ट संयोग और अनिष्ट वियोग रूपी तरंगे अज्ञान रूपी वायु से चलते ही रहते हैं ।

पुनः यह संसार सागर कैसा है ? 'अणोरपार' अर्थात् जिसका आदि नहीं, अंत नहीं ऐसा अनादि अनंत है । आदि याने प्रारंभ इसलिए नहीं कि आदि मानने से यह भी मानना पड़ता है कि

उसके पहले संसार नहीं था याने आत्मा विलकुल शुद्ध था । तो फिर प्रश्न उठता है कि ऐसे आत्मा का यकायक संसार खड़ा होने का क्या कारण हुआ ? कारण बिना कार्य नहीं होता यह सनातन सिद्धान्त है ।

प्रश्न—कोई कार्य यों ही हो गया, ऐसा नहीं होता ?

उत्तर—यदि प्रारम्भ होने का कार्य यों ही हो गया मान लें, तो प्रश्न उठेगा कि (१) वह तभी क्यों हुआ ? इससे पहले या इससे बाद में क्यों नहीं ? फिर (२) यदि शुद्ध का भी संसार प्रारम्भ हो जाय तो भविष्य में भी मोक्ष पाने के बाद भी पुनः संसार के प्रारम्भ होने का भय क्यों नहीं रहेगा ? कार्य कारण से ही हुआ मानने वाला तो कह सकेगा कि जीव अत्यन्त शुद्ध हो जाने के बाद कारण नहीं रहने से अब कभी भी उसे संसार नहीं होगा । तो पहले तो जब भी पूछा कि 'संसार कैसे ?' तो यही कहा जायगा कि उसके पहले के कारणों से । इस तरह पूर्व पूर्व (पहले) कारण होगा ही; अतः संसार का प्रवाह अनादिकाल से चालू है, यह सिद्ध होता है ।

तो किसी जीव के संसार का तो अन्त होता है, परन्तु समग्र रूप से देखते हुए जीव अनन्तान्त काल तक अशुद्ध रहने वाले हैं; इसने अनन्त है ।

प्रश्न—क्या संसार कभी भी खाली नहीं होगा ?

उत्तर—नहीं । जीव इतने अनन्तान्त हैं कि कभी भी वे सब मोक्ष में जा नहीं पायेंगे । यह समझ लेने के लिए इतना ही विचार काफी होगा कि आज तक में कितना समय बीत गया ? उसकी मर्यादा या उसकी गिनती नहीं की जा सकती कि इतना गया । क्यों कि काल की आदि नहीं है कि अमुक समय से ही काल का प्रारम्भ हुआ । इससे जैसे काल आदि से रहित है, अनादि है,

इसी तरह मोक्ष में जाने का भी आदि रहित याने अनादिकाल से चालू है। क्यों कि उससे पहले और उससे भी पहले धर्म स्थापित किया हुआ था तभी तो जीव उसका आलंबन लेकर मोक्ष में गये। ऐसा तीर्थ स्थापित करने वाले तीर्थंकर भी तभी हुए कि जब वे उससे पहले के किसी तीर्थ में आराधना कर चुके होंगे। ये पूर्व तीर्थ के स्थापक भी उससे पहले के किसी तीर्थ के आलंबन से पहले आराधना करके ही हुए होंगे।....इस तरह तीर्थ तथा मोक्ष में जाने का दोनों ही अनादि से चलता रहा है। तो अनादि काल का तो कोई नाप ही नहीं। इससे इतने अमर्यादित समय से जीव मोक्ष में जाते हों, तब भी संसार खाली नहीं हुआ यह हकीकत वर्तमान स्थिति बता रही है। तो अमर्यादित समय में जो नहीं हुआ वह अब मर्यादित समय में हो जावेगा? आदि रहित 'अमर्यादित' भूतकाल में कितने सारे जीव मोक्ष में गये होंगे? तब भी जैन शास्त्र कहते हैं कि एक निगोद के जीवों की संख्या का अनंतत्वां की संख्या में ही जीव मोक्ष में गये हैं। तो जब ऐसे नापरहित अमर्यादित काल के भी इतने ही मुक्त, तो अब इसके बाद के अमुक काल में कितने जीव मुक्ति में जावेंगे? बीते हुए काल के मुक्त जीवों का अनंतत्वां हिस्सा हो न? इससे संसार कैसा खाली होगा? संसार अनादि अनंत है।' ऐसा सोचें।

संसार अशुभ है: — अशुभ याने अशोभन, असुन्दर' संसार में कौन सी वस्तु सुन्दर है? प्रशस्त है? यह सोचें।

प्रश्न—तो क्या संसार में देव गुरु धर्म तीर्थ तथा शास्त्र आदि सुन्दर वस्तुएँ नहीं हैं?

उत्तर—जरूर सुन्दर हैं, पर वे संसार की वस्तुएँ नहीं हैं। वे संसार को उखाड़ने वाली मोक्ष मार्ग की वस्तुएँ हैं। संसार की वस्तु तो संसार में भटकाने वाले आहार, विषय, परिग्रह परिवार

कषाय तथा मिथ्यात्वादि है। इसमें क्या सुन्दरता या अच्छापन है? तो संसार की वस्तु जन्म मरण गति परिवर्तन आदि में भी क्या अच्छापन है? संसार स्वरूप से, कारण से, और कार्य से सभी तरह से खराब है। क्योंकि उसमें आत्मा की सचमुच में विडंबना ही है। इस प्रकार चिंतन करें। इनकी अनादि अनंतता और अशुभता के चिंतन में तन्मयता होने से संस्थान-विचय नामक धर्मध्यान होता है।

६. चारित्र पर चिंतन

अब इस संसार को निवारण करने वाले चारित्र के बारे में चिंतन किस तरह करना चाहिये सो कहते हैं।

चारित्र जहाज किस तरह से हैं? संसार समुद्र जैसा है। तो उसे तैरने के लिए समर्थ यदि कोई जहाज हो तो वह चारित्रात्मक महा जहाज है। इसका कारण स्पष्ट है। जिस रास्ते से संसार उत्पन्न होता है, उससे विपरीत रास्ते से ही मोक्ष प्राप्त होगा। संसार असंयम, अविरति हिंसादि पापों की छूट और मिथ्या प्रवृत्ति के कारण होता है; तो उसका अंत संयम, विरति, सम्यक् प्रवृत्ति स्वरूप चारित्र से होता है।

सम्यक्त्व बन्धनः— अब संसार पार करने के लिए यह चारित्र महा जहाज हैं। जैसे जहाज में लकड़ी के टुकड़ों को जोड़ने वाले बंधन हैं, वैसे ही यहां चारित्र में सम्यग् दर्शन रूपो बन्धन है। यह होने से ही चारित्र टिकता है। अभव्य जीव चारित्र के महाव्रत लेते हैं, तब भी सम्यग् दर्शन के अभाव से उनमें चारित्र का छूटा गुणस्थानक न होकर मिथ्यादृष्टि का पहला गुणस्थानक का होता है।

चारित्र की निर्दोषताः— चारित्र अनध्याने निर्दोष होता है। इसमें सर्व पापों का प्रतिज्ञाबद्ध त्याग होता है। साथ

ही कषाय की तीन चौकड़ी जिसने दबा दी हैं तथा चौथी मंद चौकड़ी बाकी है, वह उस क्रोध मान आदि का उपयोग प्रशस्त रूप से करता है। अर्थात् असंयम-प्रमादादि के प्रति क्रोध, द्वेष, साधुत्व का गौरव, खुमारी.... आदि। इसी से कहा जा सकता है कि चारित्र में दोष नहीं रहे।

ज्ञान कप्तान:—जहाज के लिए कप्तान की आवश्यकता होती है वैसे यहां चारित्र में ज्ञानात्मक कप्तान है। चारित्र लेने के बाद ग्रहण-शिक्षा और आसेवन-शिक्षा द्वारा जैसे ज्ञानवृद्धि होती है, वैसे वैसे चारित्र अधिकाधिक निर्दोष रूप में तथा चढ़ते हुए संवेग रंग से और अधिकधिक सूक्ष्मता से प्रगतिशील होता है। सारांश यह कि ज्ञान चारित्र के आगे बढ़ाता है, ज्ञान उसका नेतृत्व करता है।....

इस तरह चारित्र के बारे में सोचे।

संवर ढक्कन:—चारित्र जहाज को संवर रूपी ढक्कनों से छिद्र रहित कर दिया गया है। संवर याने आश्रवनिरोध। आत्मा में इन्द्रियों के विषयों की लगन, कषाय, अव्रत आदि आश्रव हैं, वे छिद्र हैं। इनके द्वारा कर्मरज आ आ कर आत्मा में जमा होती है। इन आश्रव छिद्रों को समिति, गुप्ति, परिग्रह-सहन, क्षमा आदि १० यतिधर्म आदि से बन्द किया जाता है। इसी का नाम संवर है। इसी से कर्मरज का आत्मा पर चिपकना रुक जाता है।

तत्परूपी वायु:—चारित्र जहाज को तेजी से चलने के लिए तत्परूपी वायु से वेग मिलता है। अनशन, उनोदरी आदि बाह्यतप, और प्रायश्चित्त विनय आदि आभ्यंतर तप दोनों चारित्र को इस तरह से वेग देते हैं कि इससे बाह्य वृत्तियों के दबने से तथा श्रुत (शास्त्र) रटने आदि की सत्प्रवृत्ति खूब रहने से बची

हुई चौथी चौकड़ी के कषाय भी अधिकाधिक पतले होते जाते हैं !
यही चारित्र का वेग है ।

वैराग्य मार्गः— ऐसा चारित्र वैराग्य के मार्ग पर ही चलता है । मोक्ष-प्राप्ति के लिए सम्पूर्ण वीतराग दशा चाहिये, वह विराग-भाव की साधना से खड़ी होगी । अतः विराग को मार्ग कहाँ । इस मार्ग से वीतराग दशा और फिर मोक्ष-नगर पहुँचा जा सकता है । चारित्र राग के नहीं, परन्तु इस विराग के मार्ग पर चलता है । इसी तरह अन्य तो बहुतों का त्याग है, किन्तु आहार, वस्त्र, पात्र, मुकाम आदि का जो उपयोग है वह भी विरक्त दशा से । संसारी को तो घर, दुकान, परिवार व पैसा आदि सब राग के मार्ग पर ही ले जाते हैं; उसे चलना पड़ता है ।

चारित्र में कैसे व्यवसाय से स्थिरता ?

‘विस्त्रोतसिका’ की तरंगों से चारित्र क्षोभरहित है । ‘विस्त्रो-तसिका’ याने जैसे समुद्र में जहाज को उलटे रास्ते ले जाने वाली तरंगे आती हैं, वैसे ही मन को उन्मार्ग की ओर खींचने वाला दुर्ध्यान या अपध्यान । यही मोक्ष-प्राप्ति के बीच में अशुभकर्मों रूपी विघ्नों के समूह को खड़ा करते हैं । पर चारित्र में शुभ व्यवसाय भरपूर होने से दुर्ध्यान तरंगे रुक जाती हैं । याने उससे चारित्र विचलित नहीं होता, क्षोभ प्राप्त नहीं करता । An idle mind is devil's work shop. खाली दिमाग शैतान का घर है । खाली मन पिशाची विचार करता है । इसलिए चारित्र जीवन में ८ प्रहर में से २ प्रहर निद्रा, तथा १ प्रहर गोचरी-भ्रमण-ग्रहण, भोजन तथा स्थंडिल भूमिगमन आदि के लिए; कुल ३ प्रहर छोड़कर बाकी पाँचों प्रहर शास्त्र स्वाध्याय के रखे गये हैं । इसी के बीच में प्रतिक्रमण आवश्यक क्रिया तथा योग क्रिया कर ली

जाती है। शास्त्र व्यवसाय इतने अधिक समय चलते रहने से मन उसी में लगा रहने से दुर्ध्यानादि विकल्पो से विचलित न हो यह स्वाभाविक है।

१८००० शीलांग की गिनती

यह चारित्र जहाज महा किमती १८००० शीलांग रूपी रत्नों से भरा हुआ है। शीलांग याने शील के सद आचार के अंग, यानी अवांतर प्रकार। वह पृथ्वीकायादि आरम्भ-त्याग आदि १८००० हैं। जैसे पृथ्वीकाय, अप्काय, तैजसकाय, वायुकाय, वनस्पतिकाय, ये ५ स्थावरकाय जीव तथा वेद्मिन्द्रिय, तेद्मिन्द्रिय, चौरिन्द्रिय ये ३ विकलेन्द्रिय, जीव मिलकर ८ तथा पचेन्द्रिय जीव और अजीव मिला कर कुल १० का आरम्भ, समारम्भ, हिसा न करे यह शीलांग कहलाता है। इसमें अजीव आरम्भ के त्याग का अर्थ कोई निरर्थक प्रवृत्ति जड़ के बारे में भी नहीं करना। उदा० वस्त्र जैसे मिला हो वैसा ओढ़े, पर उसे फाड़ना, सीधा करना आदि परिकर्म नहीं करना। इस तरह से बेकार एक तृण भी तोड़ना नहीं या मार्ग में जाते हुए बगोचा आदि देखना भी नहीं, यह १० प्रकार का आरंभ त्याग हुआ।

यह १० प्रकार का प्रत्येक आरम्भ त्याग १० प्रकार के क्षमादि यतिधर्म को सम्हालते हुए करना है। इसमें क्षमा, मृदुता, ऋजुता, निर्लोभता आदि ४ तथा संयम, सत्त्व, शौच (पवित्रमन) ब्रह्मचर्य, अकिंचनता (अपरिग्रह) मिलकर ५ तथा तप आते हैं। प्रत्येक पृथ्वीकायादि का समारम्भ त्याग क्षमा से पाले, नम्रता से पाले, ...तप से पाले; ये दसों आरम्भ त्याग इस तरह से पालना चाहिये। अतः कुल $१० \times १० = १००$ शीलांग हुए।

अब इन १०० में से प्रत्येक पांचों इन्द्रियों के संयम सहित करना होता है। उदा० पृथ्वीकाय जीव की रक्षा क्षमा के साथ करना

होता हैं, वह स्पर्शेन्द्रिय का संयम रखकर, रसनेन्द्रिय का संयम रख कर,.... आदि पूर्व के सौ प्रकार प्रत्येक इन्द्रिय संयम के साथ जोड़ने से $१०० \times ५ = ५००$ प्रकार से शीलांग हुआ। वह भी आहार, विषय, परिग्रह व निद्रा या भय नामक चार संज्ञाओं के निग्रह के साथ पालन करना चाहिये। अतः ५०० में से प्रत्येक प्रकार आहार-संज्ञा आदि के निग्रह के साथ, विषय संज्ञा के निग्रह के साथ,.... इस तरह मिलकर कुल $५०० \times ४ = २०००$ शीलांग हुए।

ये भी प्रत्येक प्रकार मन से, वचन से तथा काया से पालन करना चाहिये। अतः आहार संज्ञा निग्रह, स्पर्शेन्द्रियादि संयम धक्षमा आदि रखने के साथ पृथ्वोकाय हिंसा मैं मन से नहीं करूंगा। इस तरह मन से २००० प्रकार हुए। इसी तरह वचन से तथा काया से दो दो हजार मिल कर कुल $२००० \times ३ = ६०००$ शीलांग हुए।

इसी तरह मात्र 'करं नहीं' ऐसा नहीं, किन्तु करवाऊं भी नहीं और अनुमोदन भी नहीं करूं। इस तरह उपरोक्त मन वचन काया के $६००० \times ३ = १८०००$ शीलांग हुए। यों दूसरी तरह से भी १८००० शीलांग होते हैं। चारित्र जहाज में ये सब रत्न भरे हुए हैं। ये महा किमती रत्न हैं क्योंकि इनसे ही *ऐकान्तिक और आत्यन्तिक सुख मिलता है। (इसे सरलता से याद रखने का सूत्र है- 'आय कइ संयोग' = आरम्भ १० × यति धर्म १० × करण ३ × इन्द्रिय ५ × संज्ञा ४ × योग ३ = १०००)

ये १८००० शीलांग रत्न भरे चारित्र जहाज पर आरूढ हुए मुनि रूपी व्यापारी मोक्ष नगर की ओर जा रहे हैं। 'मन्यते जगत्

*ऐकान्तिक' याने सुख ही सुख; दुःख का लेश मात्र भी नहीं।
'आत्यन्तिक' याने अन्त को अतिक्रान्त किया हुआ याने उल्लंघन किया हुआ अर्थात् शाश्वत।

त्रिकालावस्थाम् इति मुनिः ।' कहीं भी राग द्वेष न हो, इसलिए जगत के पदार्थों की भूत भविष्य वर्तमान तीनों काल की अवस्था याने पर्यायों का मनन करे वह मुनि । चाहे जैसे अनुकूल या प्रतिकूल जड़ पदार्थ सामने आवे या अनुकूल या प्रतिकूल बर्ताव करने वाले जीव मिलें, परन्तु 'वह वर्तमान अवस्था से विपरीत, बीभत्स या अच्छी मनपसन्द अवस्था भूत या भावी में वह जड़ या जीव में है', उस ओर विचार रखने से राग द्वेष या हर्ष शोक उठ नहीं सकता । ऐसे मुनि ये व्यापारी इसलिए कहलाते हैं कि वे अच्छी तरह से आय व्यय तथा नफा नुकसान अच्छी तरह समझ सकते हैं । (१) कहां उत्सर्ग मार्ग में लाभ और अपवाद मार्ग में नुकसान ? तथा कहां किस प्रकार के उत्सर्ग पकड़े रखने में लाभ मामूली व नुकसान पारावार है ? और वहीं अपवाद पकड़ने में नुकसान मामूली, परन्तु परिणाम में लाभ अपार ? यह समझने में अति निपुणता से सोचकर प्रवर्तित होते हैं । अतः मुनि व्यापारी हैं ।

ऐसे ये मुनि शीलांग-रत्न भरे चारित्र्य जहाज से थोड़े ही वक्त में और किसी भी प्रकार के अन्तराय बिना मोक्षनगर तक यानी परिनिर्वाणनगर पहुंच जाते हैं । इस प्रकार संस्थान विचय ध्यान का चिन्तन करे । (गाथा-६०)

७. मोक्ष पर चिन्तन

यह परिनिर्वाण याने सब ओर से परम शान्ति रूप मोक्षनगर कैसा है ? वह ज्ञान-दर्शन-चारित्र्य रत्नत्रय के विनियोगात्मक है । 'विनियोग' याने क्रियाकरण । इस रत्नत्रयी के क्रियाकरण से मोक्ष उत्पन्न होता है व अनन्त रूप होता है । अतः मोक्ष को रत्नत्रय विनियोगात्मक कहा । मोक्ष अवस्था खड़ी करने वाला कौन ? रत्नत्रय का आचार-पालन । क्योंकि जीव की मोक्ष अवस्था अनन्त

ज्ञान दर्शन चारित्र्यमय है। उसे प्रकट करने के लिए उसी को आंशिक रूप से उखाड़ना पड़ा है। वह उसके आचार पालन से होता है। ऐसा मोक्ष अकालिक है, एकांत भावी है, अर्थात् उसमें सम्पूर्ण शुद्ध ज्ञानादिमय अवस्था प्रकट होने की वजह उसमें लेशमात्र भी अज्ञान मोह आदि का मिश्रण नहीं है। फिर वह निराबाध है। अर्थात् उसमें इतना ज्य दान त सुख है कि उसमें अब कोई बाधा पीड़ा या रुकावट नहीं है। अज्ञान-पीड़ाकारी तत्त्व कम-आवरण सर्वथा नष्ट हो जाने से अब अज्ञान या पीड़ा, कहां से खड़े होंगे या रह सकेंगे ?

यह मोक्ष अवस्था स्वाभाविक है, जीव का स्वाभाविक रूप है। मोक्ष होने के पहले वह स्वरूप प्रकट दीखता नहीं था उसका कारण तो यह है कि कर्म के आवरणों से आच्छादित हो गया था। बाकी मोक्ष की अनन्त ज्ञानादिमय स्थिति बाहर से लाने की नहीं होती, वह तो असल में आत्मा में है ही, स्वाभाविक है, कृत्रिम नहीं है।

प्रश्न— तो परिश्रम करने से ज्ञान आता है वह कैसे ?

उत्तर यह ज्ञान 'आता है' याने अन्दर से बाहर आता है। आत्मा में असल में पड़े हुए ज्ञान पर जो आवरण है, वह परिश्रम से जैसे जैसे हटता जाता है, वैसे वैसे ज्ञान बाहर खुला होता जाता है, परन्तु बाहर से कुछ नया लाने का नहीं होता।

फिर यह मोक्ष निरुपम सुखमय है; क्योंकि उस सुख की उपमा नहीं है। संसार के सुख तो संयोग-जन्य हैं; उसके साथ इस असांयोगिक आत्मसुख की किस तरह तुलना की जा सकती है ? सम्पूर्ण आरोग्य के सुख की रोगी अवस्था में कुपथ्य सेवन के आनंद के साथ कैसे तुलना की जा सकती है ? सांसारिक सुख विषय-

किं बहुणा, सर्वं चिय जीवाइपयत्थ-वित्थरोवेयं ।

सर्वनयसमूहमयं भाएज्जा समय - सम्भावं ॥६२॥

अर्थः—ज्यादा क्या कहें ? जीवादि पदार्थ के विस्तार से युक्त (ऐसा) सर्व नयों के समूहात्मक सिद्धान्त (शास्त्र) के पदार्थ का ध्यान करे । (चिन्तन करे ।)

संयोग के आधीन हैं, परवश हैं, परिस्थिति सापेक्ष हैं । यही का यही विषय-संयोग उपस्थित होने पर भी परिस्थिति बदलने पर वही दुःखरूप लगता है । उसका सुख गया ! तब यह मोक्ष का सुख तो अपना (स्वयं का-आत्मा का) स्वाभाविक स्वरूप होने से और सर्व संयोगों के नष्ट होने से प्रकट हुआ होने से वह शाश्वत रहता है । अतः यह कहा कि मोक्ष अक्षय सुखस्वरूप है । ऐसे मोक्ष का चिन्तन करे ।

‘संस्थान विचय’ नामक धर्मध्यान में क्या क्या सोचा जाय, किस किस पर ध्यान किया जाय, वह विस्तार से बता कर अब उसका उपसंहार करते हैं ।

विवेचन :

ज्यादा कहने से क्या ? संस्थान विचय नामक धर्मध्यान में सिद्धान्त के (शास्त्र के) पदार्थ का ध्यान चिन्तन करे अर्थात् जिनागम में कहे हुए किसी भी पदार्थ का एकाग्र भाव से चिन्तन करे वही यह धर्मध्यान होता है ।

उत्तर — इस चितनीय जिनागमोक्त पदार्थ में क्या क्या आता है ? और वह कैसे स्वरूप में सोचा जाय ?

उत्तर—जिनागमोक्त पदार्थों में जीव अजीव आश्रव बंध संवर निजंरा व मोक्ष नामक वस्तुओं का विस्तार है । और वह द्रव्यास्ति-

काय पर्यायास्तिकाय आदि नयसमूहमय है। इस रूप में उनका चिन्तन करना है।

जिनागम में जीवादि का विचार किम तरह

कोई भी जैन शास्त्र लो, तो उसमें जीवादि वस्तु में से किसी वस्तु का विचार अवश्य किया हुआ मिलेगा। उदा० प्रथम 'आचारंग' शास्त्र में मुनि का आचार बताने के लिए जगत में कैसे कैसे जीव होते हैं, उन्हें कैसे कैसे शस्त्र लगने से दुःख होता है, और उसकी अहिंसा कैसे पाली जाय वह बताया है। तो यह जीव वस्तु का विचार हुआ। इसी तरह इन शास्त्रों का उपयोग करने से दिल में कैसे कलुषित भाव काम करते हैं, तथा दूसरे भी कैसे कषाय, स्वजन मोह, परिसह-विह्वलता आदि अशुभ भाव रुकावटक रते हैं, यह बताया। यह आश्रव वस्तु का विस्तार है। इसी तरह अन्य भगवती पन्नवणा आदि शास्त्रों में पदार्थ व्यवस्था बताई है, वह जीव या अजीव वस्तु का विस्तृत विचार है। ऐसे ही छेद ग्रन्थों में संवर वस्तु का तथा अन्य कईयों में बंध का, निर्जरा का या मोक्ष का विचार है। जैन शास्त्रों की दृष्टि से विश्व में पदार्थ ही सात हैं, अतः जैन शास्त्र के इस पदार्थ के विस्तार में से किसी भी वस्तु का चिन्तन या ध्यान इस प्रकार में करना होता है।

अपाय-विपाक-विचय अलग क्यों बताये ?

प्रश्न— इस तरह तो संस्थान विचय में रागादि अपाय और ज्ञानावरणीय कर्मों का विचय याने परिचय अर्थात् अभ्यासमय चिन्तन समा विष्ट हो जाता है; तो फिर अपाय-विचय और विपाक-विचय ये दो भेद अलग क्यों बताये हैं ?

उत्तर— बात ठीक है कि संस्थान विचय के समुद्र जैसे विषयों में अपाय और विपाक का विचार समा जाता है; तब भी उसे

अलग करके बताने का कारण प्रत्येक के उद्देश्य की भिन्नता है ऐसा लगता है । (१) संस्थान-विचय में तो जिनागमोक्त पदार्थ का वस्तु-स्वरूप में विचार किया जाता है जिससे मन की चंचलता तथा असद् विचारधारा मिट जाय । (२) तब अपाय-विचय में तो जीव रागादि आश्रवों के सेवन में खिंचा न जाय बह न जाय या बहता हुआ वापस आ सके, इसके लिए रागादि में कैसे कैसे भयंकर अनर्थ हैं, कटु परिणाम हैं, उनके भय के साथ उनका चिन्तन है, भय दिखलाने वाला चिन्तन है । (३) इसी तरह विपाक-विचय में, जीव अच्छे बुरे इन्द्रिय-विषयों के आने या जाने पर, एवं रोग, वेदना, परा-भव आदि होने पर, हर्ष खेद आदि अमसाधि में न गिर जाय इस-लिए, उदसीन भाव के साथ या उदासीन भाव की प्राप्ति करवाने वाले कर्म विपाक का चिन्तन है; क्योंकि यह अच्छी बुरी प्राप्ति मुख्यतः कर्म-विपाक के आधीन है, कर्म विपाक की पीड़ा है, विडम्बना है । इसमें विह्वल क्या होना था ? इसमें दिलचस्पी लिए बिना हम तटस्थ भाव से उसका दर्शन करें, कर सकें, इसलिए उदासीन बनने के लिए विपाक-विचय ध्यान है ।

सारांश यह, कि संस्थान-विचय में शास्त्रोक्त जोवादि पदार्थों के चिन्तन से मन को स्थिर करने की गिनती है तो अपाय-विचय में मिथ्यात्व, इन्द्रिय-विषय, रागद्वेष अशुभ योग आदि आश्रवों का भय रख कर मन को इन आश्रवों से बचा कर स्वच्छ समता-सम्पन्न रखने का उद्देश्य है और विपाक-विचय धर्मध्यान में आपत्ति संपत्ति के समय समाधि स्वस्थता रखने का हिसाब है । यों अपाय विपाक संस्थान विचय तीनों प्रकार के ध्यान से मन स्वच्छ स्वस्थ स्थिर बनाने का उद्देश्य है ।

ऐसे विविध उद्देश्यों की गिनती से ध्यान के भिन्न भिन्न प्रकार हुए । इस दृष्टि से सन्मतितर्क महाशास्त्र की टीका में वादी पञ्चानन

श्री अभयदेव सूरिजी महाराज ने तथा 'शास्त्र वार्ता समुच्चय' महाशास्त्र के विवेचन में महोपाध्याय श्री यशोविजयजी महाराज ने धर्मध्यान के १० प्रकार बताये हैं ।

धर्म ध्यान के १० प्रकार

धर्म ध्यान के १० प्रकारों में यहां कहे हुए आज्ञाविचयादि ४ प्रकारों के उपरांत जीव, अजीव, भव, विराग, उपाय तथा हेतु विचय नामक ६ गिने हैं । अलबत्ता, पूर्वोक्त संस्थान विचय में इन छः का विचार आ जाता है, परन्तु यों तो अपाय तथा विपाक का भी विचार उसमें समा जाता है, तब भी पहले कहे अनुसार विशिष्ट उद्देश्य से अपाय विपाक की तरह ही इन जीव अजीवादि का विचार है । दसों प्रकार का विचार यहां संक्षेप में उसके भिन्न भिन्न उद्देश्य दिखाने के साथ बताया जाता है ।

(१) **आज्ञा विचय** में यह सोचना चाहिये कि 'अहो ! जगत में हेतु उदाहरण, तर्क आदि होने पर भी हमारे जैसे जीवों के पास बुद्धि का वैसा अतिशय नहीं है, तो आत्म-प्रत्यक्ष की तो बात ही क्या ? इससे आत्मा को लगने वाले कर्म, परलोक, मोक्ष, धर्म अधर्म आदि अतीन्द्रिय पदार्थ स्वतः देखने या जानना समझना बहुत कठिन हैं । तब भी ये पदार्थ परम आप्त पुरुषों के वचन से जाने जा सकते हैं । ऐसे परम आप्त पुरुष एक मात्र वीतराग सर्वज्ञ श्री तीर्थङ्कर भगवान् होते हैं । अहो ! उनके वचनों ने इन पदार्थों पर कितना सुन्दर प्रकाश डाला है । उन्हें झूठ बोलने का अब कोई कारण नहीं है । इससे उनके वचन उनकी आज्ञा टंकसाली सत्य है । उनका कथन यथास्थित ही है । अहो ! कैसी कैसी अनन्त कल्याण-रूप तथा त्रिलोकप्रकाशक, सूक्ष्म सद्भूत पदार्थ बोधक, सन्मार्ग-देशक, विद्वत् जन मान्य और सुरासुरपूजित उनकी आज्ञा !

यह चिंतन अनुचितन से सकल सत्त्वृत्ति के प्राणभूत
श्रद्धा का प्रवाह अखण्ड बहता रहता है ।

२. अपाय विचित्रय : 'अहो ! अशुभ मन वचन काया
और इन्द्रियों की विशेष प्रवृत्तियों अर्थात् विशेष कोटि के अशुभ
विचार वाणी वर्तव और रागादि से भरे इन्द्रिय-विषय सम्पर्क-
से निष्पन्न भव-भ्रमणादि अनर्थों को मैं क्यों अपने ऊपर लूं ? जैसे
किसी को बहुत बड़ा राज्य मिल जाय तब भी भीख मांगने की
मूर्खता करे, वैसे मोक्ष मेरी पहुँच में होने पर भी संसार में भटकने
की मूर्खता मैं क्यों करूं ? ऐसी शुभ विचारधारा से दुष्ट योगों के
त्याग का चित्तपरिणाम जागता है ।

३. विपाक विचित्रय : कर्म की मूल उत्तर प्रकृति के
मधुर व कटु फल का विचार, शुभ अशुभ कर्म के विपाक स्वरूप
अरिहंत प्रभु की समवसरणादि सम्पत्ति से लेकर नरक की घोर
वेदनाओं के उत्पन्न होने का विचार, तथा कर्म का विश्व पर एक
छत्री साम्राज्य होने का विचार करना चाहिये जिससे कर्मफल
को अभिलाषा दूर हो तथा अशुभ कर्मों के
फल के समय समता-समाधि रहे ।

४. संस्थान विचित्रय : मैं १४ राजलोक की व्यवस्था
का चिंतन करूं । इसमें अधोलोक उलटी बालटी, या उलटी बास्केट
(नेतकी) जैसा, मध्यलोक खंजरी जैसा तथा ऊर्ध्व लोक खड़े ढोत
या शराव संपुट जैसा हैं । अधीलोक में परमाधामी आदि सहित
तीन त्रासनायक सात नरक पृथ्वी हैं और ऊर्ध्व लोक में शुभ
पुद्गलों की विविध घटना है । उसका तथा सकल विश्व में रहे हुए
शाश्वत अशाश्वत अनेकविध पदार्थों आदि का चिंतन करना
चाहिये । इस ध्यान से चित्त को विषयांतर में

जाने से तथा चंचल व विह्वल होने से रोक जा सकता है ।

५. जीव विचित्रय : जीव का अनादिपन, असंख्य प्रदेश-मयता, साकार निराकार उपयोग, किये हुए कर्मों का भोगना, आदि स्वरूप का स्थिर चिंतन किया जाता है । यह जड़ काया आदि पर नहीं किन्तु आत्मा पर समत्व करवाने में उपयोगी है ।

६. अजीव विचित्रय : धर्म, अधर्म, आकाश, काल, पुद्गल, उनके गतिसहायकता, स्थितिमहायकता, अवगाहना, वर्तना, परिवर्तन, रूप रसादि गुण तथा अनन्त पर्यायरूपाता का चिंतन करना । इससे शोक, रोग, व्याकुलता, नियाणा (निदान) और देहात्म-अभेद का भ्रम आदि दूर होता है ।

७. भव विचित्रय : अहो ! कैसा दुःखद यह संसार ! जिसमें (१) स्वकृत कर्म के फल भोगने के लिए बार बार जन्म लेना पड़ता है । रहेंट के चक्र की तरह मल मूत्रादि अशुचि भरे माता के पेट के खड्डे में कई बार गमन आगमन करना पड़ता है ; और (२) स्वकृत कर्म के दारुण दुःख भरे भोगों में कोई मदद नहीं करता ; तथा (३) संसार में सम्बन्ध विचित्र बन्धते हैं । माता पत्नी बनती है, पत्नी माता बनती है... आदि । धिक्कार है ऐसे संसार भ्रमण को । ऐसा चिंतन संसार खेद व सत्प्रवृत्ति उत्पन्न करता है ।

८. विराग विचित्रय : 'अहो ! (१) यह कैसा कथीर सा शरीर जो गंदे रज रुधिर में से बना, मल मूत्रादि अशुचि से भरा हुआ तथा शराब के घड़े की तरह इसमें जो डाला उसे अशुचि बनाने

वाला है। मिष्टान्न को विष्ठा तथा पानी तो क्या, अमृत को भी पेशाब बना देने वाला है। ऐसा यह शरीर सतत इसके नवों द्वारों से अशुचि बहाता रहता है। (२) वह विनश्वर है, स्वयं रक्षाहीन है, और आत्मा के लिए भी रक्षण स्वरूप नहीं है। मृत्यु या रोग के हमले के समय माता, पिता, भाई, बहिन, पत्नी, पुत्र, पुत्री कोई भी इसे बचा नहीं सकता। तो इसमें मनोहर क्या रहा ? (३) शब्द रूप रस आदि विषय भी देखें तो उनके भोग जहरी कृपाक फल खाने की तरह फलतः कटु, फिर सहज विनाशी, उपरांत पराधीन हैं। संतोषरूपी अमृतास्वाद के विरोधी हैं। सत्पुरुष उसे ऐसा ही बताते हैं। (४) विषयों से लगता सुख भी बलक के लार वाला वस्त्र चाटने से दूध का स्वाद मानने जैसा कल्पित है। विवेकी को इसमें श्रद्धा नहीं होती। विरति ही श्रेयकारी है। (५) गृह वास तो आग से प्रज्वलित घर के मध्य भाग जैसा है, यहां जलती हुई इन्द्रियें पुण्य रूपी काष्ठकों को जला देती हैं और अज्ञान परम्परा का धुंआ फैलाती हैं। इस आग को तो धर्म मेघ ही बुझा सकते हैं। अतः धर्म में ही प्रयत्न करना योग्य है।' आदि राग के कारणीभूत विषयों में कल्याण विरोध होने का चिंतन करें। **इतसे परमानन्द का अनुभव होता है।**

६. उपाय विचय : 'अरे ! शुभ विचार वाली बर्ताव को मैं कैसा विस्तृत करूं कि जिससे मेरे आत्मा की मोहपिशाच से रक्षा हो।' इस संकल्पधारा से शुभ भोगों का चिंतन करें।

इससे शुभ प्रवृत्ति के स्वीकार की परिणति उत्पन्न होती है।

१०. हेतु विचय : जहां आगम में कहे गये हेतु-गम्य पदार्थों पर विवाद खड़ा हो. वहां कैसे तर्क का अनुसरण करने से वह विवाद शांत हो, उसमें स्याद्वाद-निरूपक आगम का आश्रय एवं

वह भी कष-छेद-ताप की परीक्षा सहित करना लाभदायक है, यह सोचना चाहिये । किसी भी शास्त्र को स्वर्ण की तरह (१) कष-कसौटी परीक्षा में लाना, याने यह देखना कि इसमें योग्य विधिनिषेध है ? तो जिनागम में उदा० कहा:- 'तपस्वाध्याय ध्यान करें।' 'हिंसादि पाप न करें।' (२) छेद परीक्षा के लिए यह देखें कि 'इसमें विधिनिषेध को जरा भी बाधक न होकर उसके साधक आचार कहे हैं ?' तो उदा० जिनागम में कहा है: 'समिति गुप्ति आदि पंचाचार पालें।' तो इसमें लेश मात्र हिंसा नहीं है और तप ध्यानादि विधिपालन की अनुकूलता है । (३) ताप परीक्षा में यह देखें कि 'इसमें विधि निषेध और जिनागम के आचार के अनुकूल तत्त्व व्यवस्था है ?' तो उदा० अनेकान्तवाद की शैली से जीव अजीव द्रव्यों की नित्य-नित्यता, उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य, द्रव्य पर्याय की भेदा भेदता आदि जो तत्त्व-व्यवस्था बताते हैं वह विधि निषेध तथा आचार के साथ संगतता वाली है । इस चिन्तन से विशिष्ट श्रद्धा याने सम्यग् दर्शन की संगीन दृढता निम्न-लता होती है ।

इन दसों प्रकार के चिन्तन में जहां मन की स्थिरता होती है कि वह तुरन्त धर्म ध्यान स्वरूप बन जाती हैं । संस्थान-विचय धर्मध्यान में पहले कहा उस तरह विश्व के समस्त पदार्थ विषय बन जाते हैं ।

इन पदार्थों का चिन्तन सर्व नय समूहमय रूप से करना है, परन्तु एकांत नय की दृष्टि से नहीं । क्योंकि वैसा करने से दूसरे नय से सिद्ध होने वाले धर्म का अपलाप होता है । उदा० अकेले द्रव्यास्तिक नय से आत्मा का विचार करे तो आत्मा नित्य ही लगे । फिर दूसरे

पर्यायास्तिक नय की दृष्टि से घटमान आत्मा के अनित्यत्व धर्म का इन्कार करने जैसा होता है ।

न्यायदर्शन, सांख्यदर्शन आदि वैसा करते हैं । वे आत्मा परमाणु आदि को मानते हैं परन्तु एकान्त नित्य मानते हैं । यह मानना भी किस काम का ? उसका कल्पित एकान्त नित्य आत्मा या परमाणु जैसी वस्तु जगत में है ही नहीं । इसीलिए सन्मतिशास्त्र की टीका में विस्तार से युक्तिपूर्वक सिद्ध किया है कि उसके कहे प्रत्येक द्रव्य गुण कर्म आदि पदार्थ गलत हैं । सचमुच में तो वस्तुमात्र में दो अंश है । एक द्रव्यांश दूसरा पर्यायांश । द्रव्यांश याने ध्रुव अंश और पर्यायांश याने अध्रुव अनित्य उत्पत्ति-विनाशशाली अंश । आत्मा का आत्मत्व ध्रुव अंश है और उसका मनुष्यत्व, देवत्व आदि अध्रुव अंश है । मनुष्य या देव के रूप में आत्मा नित्य नहीं कहा जा सकता । उदा० देव से मनुष्य के रूप में उत्पन्न हुआ, वह आत्मा अब देव के रूप में नहीं रहा । उसका देवरूप खतम हुआ । इस तरह पर्यायांश से आत्मा अनित्य हुआ । एक अणु भी उसके पुद्गल रूप के अंश में ध्रुव है, पर जब वह दूसरे अणु के साथ जुड़ जाने से द्वचणुक का रूप लेता है तो अब वह अणु नहीं कहलाता । इस तरह से वह अणुत्वांश से नष्ट तथा द्वचणुकत्वांश से उत्पन्न हुआ कहा जायगा । इस तरह द्रव्यार्थिक नय तथा पर्यायार्थिक नय दोनों का साथ में चितन करें तब पदार्थ को न्याय मिलता है और वह चितन यथाथं गिना जाता है । ऐसे ही दूसरे भी व्यवहारनय, निश्चयनय, शब्दनय, अर्थनय आदि शास्त्र-कथित जीव अजीवादि विस्तार वाले पदार्थों का नयसमूहमय चितन करने से धर्मध्यान होता है । यह धर्मध्यान के ध्यातव्य विषय की बात हुई ।

अब इस ध्यान के ध्याता कौन हैं वह बताते हैं:—

मध्वपमाय-रहित्रा मुणी खीणोवसंतमोहा य ।

भायारो नाणधणा धम्मज्झाणस्स निदिट्ठा ॥६३॥

अर्थ:—मवं प्रमाद से रहित मुनि तथा जिनका मोह क्षीण या उपशान्त होने लगा है (याने क्षपक या उपशमकनिर्ग्रन्थ तथा अन्य भी अप्रमादि) ऐसे ज्ञान रूपी धन वाले धर्मध्यान के ध्याता कहे गये हैं ।

विवेचन :

धर्मध्यान के ध्यानी कौन ? याने यह ध्यान मुख्यतः कौन कर सकने के अधिकारी हैं ? तो कहते हैं (१) मद्य, विषय, कषाय, निद्रा, विकथा ये पांचों तथा अज्ञान, भ्रम, शंशय, विस्मृति आदि आठ प्रमाद से रहित मुनि अर्थात् सातवें अप्रमत्त गुणस्थान वाले मुनि और (२) मोहनीय कर्म की प्रवृत्तियों का उपशमन करने वाले या क्षय करने वाले निर्ग्रन्थ याने ८, ९, १०वें गुणस्थानी जो ज्ञान-धनी याने ज्ञानरूप धन वाले याने ज्ञानी हों वे धर्मध्यान के मुख्य अधिकारी हैं । इस तरह से जिनेन्द्र प्रभु तथा गणधरादि महर्षि कह गये हैं ।

सच्चा विद्वान कौन ?

प्रश्न— माषतुष मुनि में विद्वत्ता कहां थी ? तो उन्हें धर्मध्यान किस तरह ?

उत्तर—पंचसमिति तथा तीन मुग्धि का ज्ञान रखने वाले और उसे जीवन में बराबर उतारने वाले सम्यग्दृष्टि मुनि ही सच्चे ज्ञानी हैं । अन्यथा 'समकितविण नवपूरवी अज्ञानी कहेवाय' याने नव पूर्व तक पढ़े हुए भी समकित बिना अज्ञानी कहलाते हैं । नव पूर्व पढ़ा हुआ समकित बिना अज्ञानी कैसे ? इस तरह—

‘जहा खरो चंदण भारवाही, भारस्स भागी न हु चंदणस्स ।
 एवं खु नाणी चरणेण हीणो, भारस्स भागी न हु सुगई ए ।।’

जैसे चन्दन का बोझ उठाकर ले जाने वाला गधा मात्र बोझ का ही हिस्सेदार होता है, चन्दन की सुवास व शीतलता का नहीं । (क्योंकि वह तो मात्र यही चाहता है कि वह बोझ कब उत्तरे ?) इसी तरह चारित्र आचरण रहित ज्ञानी भी बोझ का ही हिस्सेदार है, सद्गति का नहीं । (क्योंकि वह तो इतना ही देखता है कि ‘यह ज्ञान कहां पर वाद में उतारकर अपनी चतुराई बताऊं ? ’) ऐसे शास्त्र वचन बताते हैं कि सम्यग् दर्शन और चारित्र बिना नौपूर्व तक का ज्ञान धारण करने वाला भी अज्ञानी ही हैं । इस चारित्र में मुख्य मन वचन काया की गुप्ति याने सम्यक् प्रवृत्ति-निवृत्ति है । इसीसे अभवी तथा भवाभिनंदी जीव के बाह्य रूप से सक्त चारित्र-पालन की भी कीमत नहीं है । क्यों कि उसमें मनोगुप्ति ही नहीं हैं । वह चारित्र का भी संसारसुख के उद्देश्य से ही पालन करता है । अतः उसका मन विषयरोग से भरा होने से मैला है, सुगुप्त नहीं है । सारांश यह है कि तीन गुप्ति का धारक है वही सच्चा ज्ञानी है, विद्वान है । अतः माषतुष जैसे अप्रमत्त मुनि भी विद्वान ही हैं और इसीलिए धर्मध्यान के अधिकारी है ।

प्रश्न— श्रावक या प्रमत्त साधु को धर्मध्यान नहीं होता ?

उत्तर— शास्त्र कहता है कि छट्ठे ‘प्रमत्ता संयत’ गुणस्थानक तक आर्त्तध्यान की मुख्यता रहती है; क्योंकि प्रमाद दशा में रागादि का जोर रहता है और यह रागादि आर्त्तध्यान के पोषक हैं । उन्हें कभी धर्मध्यान आ जाय, पर प्रमाद के कारण बहुत टिकता नहीं, धाराबद्ध नहीं चल सकता । प्रमाद के जाने से ही मुख्यतः धर्मध्यान का अधिकारी बना जा सकता है । उसके पहले गौण यानी अभ्यासरूप से धर्मध्यान हो सके ।

एच्छिय पुत्राणं पुत्रधरा सुप्पसत्थ संघयणधरा ।

दोण्ह संजोगाजोगा सुक्कास्य पराण केवल्लिणो ॥६४॥

अर्थ:—यही अप्रमादी मुनि शुक्ल ध्यान के पहले दो प्रकार के अधिकारी हैं; मात्र वे पूर्वधर तथा श्रेष्ठ वज्र ऋषभ नाराच संघ-यणधारी होने चाहिये । शुक्ल ध्यान के 'पराण' याने पिछले दो प्रकार के ध्याता तो सयोगी अयोगी केवलज्ञानी ही होते हैं ।

प्रथम दो प्रकार के शुक्ल ध्यान के अधिकारी

अब शुक्ल ध्यान के प्रथम दो प्रकार के ध्याता भी समान रूप से ही अप्रमादि आदि हैं अतः आगे शुक्लध्यान के निरूपण में उनका पुनः वर्णन न करना पड़े, इसलिए संक्षेप के लिए यहां ही प्रसंगवश उनको बताने के लिए कहते हैं:—

विवेचन :

पहले दो प्रकार 'पृथक्त्व वितर्क सविचार' और 'एकत्व वितर्क अविचार' शुक्ल ध्यान के अधिकारी भी अप्रमादी तथा उपशामक आदि होते हैं । इस धर्मध्यान में आगे बढ़ने पर शुक्ल-ध्यान हो सकता है । मात्र वे पूर्वशास्त्र के ज्ञाता होने चाहिये ।

माषतुष मुनि को शुक्ल ध्यान कैसे ?

प्रश्न— माषतुष मुनि मरुदेवा माता आदि जैसों को पूर्वशास्त्र का ज्ञान कहाँ था ? तो क्या उन्हें शुक्ल ध्यान नहीं था ? नहीं था तो केवलज्ञान कैसे हुआ ?

उत्तर— उन्हें शुक्ल ध्यान हुआ था । क्या कि उसके बिना असंख्य जन्म के एकत्रित किये हुए ज्ञानावरणीयादि घाती कर्म

सभी एक साथ नष्ट नहीं हो सकते । परन्तु वह ध्यान उन्हें सातवें अपमत्त गुणस्थानक में नहीं, पर पीछे से ऊपर के गुणस्थानक में आया था । कषाय की अत्यन्त मंदता और सामर्थ्य योग के प्रभाव से उस प्रकार के ज्ञानावरण कर्म का क्षयोपशम हो जाने से, सूत्र से नहीं पर, अर्थ से 'पूर्व' शास्त्र का ज्ञान याने पूर्वशास्त्र में कथित सूक्ष्म पदार्थ का ज्ञान प्रकट हो जाता है । किन्तु वह स्मृतवै से ऊपर जाने पर ही । इसीलिए यहां टीकाकार महर्षि स्पष्टता करते हैं कि 'पूर्वधर' विशेषण पूर्व गाथा के मात्र 'अप्रमादि' पद में ही जोड़ा जायगा । अर्थात् अप्रमादी पूर्वधर को शुक्ल ध्यान के पहले दो प्रकार होते हैं । याने अप्रमादी होने पर 'पूर्व' शास्त्र पढ़े हुए न हों तो वे मात्रा धर्मध्यान कर सकते हैं, शुक्ल ध्यान नहीं : यह शर्त क्षपक उपशामक निग्रन्थ के लिए नहीं है । वे 'पूर्व' शास्त्र न भी पढ़े हों तब भी शुक्ल ध्यान के अधिकारी हैं । (अलबत्ता ऊपर कहा है वैसे उन्हें 'पूर्व' के मात्र पदार्थ का ज्ञान हो जाता है; तब भी वे 'पूर्वधर' अर्थात् १४ 'पूर्व' शास्त्र पढ़े हुए नहीं कहे जा सकते ।) अतः माषतुष जैसे मुनि को, निग्रन्थ क्षपक बनने पर, शुक्ल ध्यान आ जाता है ।

इस शुक्ल ध्यान के ध्याता प्रथम 'वज्रकृष्णभ नाराच' संघयण के धारक होते हैं । क्योंकि ऐसे उत्कृष्ट शरीर संघयण बल पर ही वैसा मनोबल और सूक्ष्म पदार्थ में चित्त की स्थिरता आ सकती है । यह विशेषण सामान्य तौर पर समझना चाहिये । क्योंकि उच्च ध्यान की योग्यता के लिए विशिष्टता इस पर न होकर 'पूर्व' धरता अप्रमाद तथा निग्रन्थता पर है । वैसे यह संघयण तो सातवीं नरक में जाने वाले अधम आत्मा को भी होता है । तब भी यह विशेषण रखकर यह सूचित किया कि इससे नीचे के संघयण वाले को शुक्ल ध्यान नहीं होता ।

तीसरे चौथे शुक्ल ध्यान के अधिकारी

जैसे शुक्ल ध्यान के पहले दो प्रकार पूर्वधर अप्रमत्त या क्षपक उपशामक को होते हैं, वैसे ही अन्तिम दो प्रकार क्रमशः दो प्रकार के केवली को होते हैं। अर्थात् (३) सूक्ष्म क्रिया अनिवृत्ति शुक्ल ध्यान सयोगी केवली को तथा (४) व्यूपरत क्रिया अप्रतिपाती शुक्ल ध्यान अयोगी केवली को होता है। सयोगी याने विहार, उपदेश, गोचरी आदि काययोग वचनयोग वाले केवलज्ञानी मोक्ष प्राप्ति के पहले के अन्नमुहूर्त काल में पहले योगों का निग्रह करके शैलीश्री मेरु जैसा नष्टप्रकम्प आत्म-प्रदेश अवस्था प्राप्त करने के लिए वहीं तीसरा शुक्ल ध्यान धारण करते हैं और उससे अयोगी बन जाने पर चौथा शुक्ल ध्यान करते हैं, जिससे सर्व कर्म का क्षय होता है।

ध्यानांतरिका : केवली अध्यानी

शास्त्र में यह उल्लेख मिलता है कि शुक्ल ध्यान के प्रथम दो भेद पसार कर तीसरे व चौथे की प्राप्ति के पहले ध्यानांतरिका होती है। यह ध्यानांतरिका याने पूर्वार्ध उत्तरार्ध शुक्ल ध्यान की मध्य अवस्था है। इसमें केवलज्ञान तो दूसरे भेद के अन्त में उत्पन्न हो जाता है, अब वह अक्षय होता है। केवली शुक्ललेश्या वाले ही होते हैं। वे जब तक तीसरे सूक्ष्म क्रिया अनिवृत्ति को प्राप्त नहीं कर लें, तब तक वे अध्यानी याने ध्यान रहित रहते हैं। उन्हें सब कुछ प्रत्यक्ष होने से तथा भावमन न होने से कुछ भी अज्ञान चिंतन करने जैसा ही नहीं होता; अतः उन्हें ध्यान नहीं होता। तो फिर आगे जाकर उन्हें तीसरा चौथा शुक्ल ध्यान क्या? उसकी स्पष्टता बाद में होगी। (इस पर से यह समझ में आवेगा कि श्री तीर्थंकर परमात्मा की ध्यानस्थ मुद्रा वाली मूर्ति अपूर्ण अवस्था की मूर्ति है और

भाणोवरमे वि मुणी णिच्चमणिच्चाइभावणापरमो ।

होइ सुभाविय चित्तो धम्मज्झाणेण जो पुण्वि ॥६५॥

अर्थ:—ध्यान चला जाय तब भी मुनि हमेशा अनित्यादि भावना में विचरे और चित्त को उससे भावित करता रहे ।

ध्यान रहित मध्यस्थ दृष्टि वाले नेत्र सहित मुद्रा वाली मूर्ति पूर्ण वीतराग सर्वज्ञ अवस्था की मूर्ति है ।)

१२ अनुप्रेक्षा

यह प्रासंगिक बात हुई । अब मूल विषय धर्मध्यान के 'अनुप्रेक्षा' द्वार का अवसर आने से उसका व्याख्या करने के लिए कहते हैं:—

विवेचन :

यहां अनुप्रेक्षा अर्थात् अनित्यादि भावना । उसका उपयोग इस तरह है : धर्मध्यान के उपरोक्त आज्ञा, अपाय, आदि में से किसी विषय पर मन तन्मय लगाया; पर उसमें से मन चंचल होकर ध्यान टूट जाय तब क्या कर ? इसके लिए यहां कहा है कि तब भी हमेशा मन को तुरन्त अनित्यादि भावना में लगा देना चाहिये । 'तब भी' में 'भी' का भाव यह है कि यों तो इन भावनाओं में ही मन लगाये रखना चाहिये; किन्तु ध्यान के समय ध्यान खण्डित होने पर भी इन १२ भावनाओं में मन को लगायें । अनित्य आदि में आदि शब्द से आशरण, संसार, एकत्व, अन्यत्व, अशुचित्व, आश्रव, संवर, निर्जरा, लोक, धर्म स्वाक्यात, बोधिदुर्लभ भावनाएं समझने का हैं ।

१२ भावनाओं का स्वरूप 'श्री प्रशमरति' शास्त्र माथा १५१ से १६२ में बताया है उसका चितन इस प्रकार करें ।

(१) **अनित्य भावना** : सभी मनपसन्द सगे स्नेही जनों का संयोग, मनपसन्द समृद्धि, मनपसन्द सब्द रूप रस आदि विषयों के सुख और मनपसन्द सत्ता सम्मान आदि सम्पत्ति तथा आरोग्य, देह, यौवन, आयुष्य सभी अनित्य है, नाशवन्त हैं। यदि उन पर जीव राग, ममता आसक्ति करेगा, तो इन सब के चले जाने पर कितना दुःख होगा ? अविनाशी आत्मा इन नाशवन्त पदार्थों पर स्नेह क्यों करें ?

(२) **अशरण भावना** : जहां जन्म जग मृत्यु का भय सिर पर मंडराता है, जहां अनेक प्रकार की व्याधियों की वेदना से पीड़ा होती रहती है, ऐसे संसार में जीव को शरण किस वस्तु का ? कौन उसकी रक्षा करता है ? जीवन में सिर्फ एक बार और वह भी अनजान में बांधे जाने वाले आयुष्य के समय यदि मन के भाव अशुद्ध रहे तो दुर्गति का आयुष्य बंध जाने से वहीं जन्म लेना पड़ता है। इससे तो अब अच्छी पत्नी, पुत्र या सम्पत्ति आदि में से कौन शरण दे कर बचा सकता है ? एकमात्र जिनेश्वर भगवन्त के वचन बिना जीव कौ किसी का भी शरण नहीं है।

प्रश्न— तो क्या जिनेश्वर का शरण यहां के व्याधि, जरा, मृत्यु या रोग को रोक देता है ?

उत्तर— नहीं। पर यह शरण इसलिए है कि (१) इन सब आपत्तियों में चित्त को वह समाधि-स्वस्थता देता है। क्योंकि वह स्व पर का भेद समझाता है जिससे व्याधि आदि आपत्ति वे दुःखरूप नहीं लगती। (२) फिर 'जितनी आपत्ति उतनी कर्मों की सफाई' उसका आनन्द रहता है। (३) साथ ही भविष्य में जन्म जरा-मृत्यु आदि की पीड़ा का हमेशा के लिए अन्त लाता है।

(३) **एकत्व भावना** : इस संसार चक्र में जीव को अकेले ही मरना पड़ता है, अकेले ही जन्म लेना पड़ता है, अकेले

ही नरक आदि गतियों में जान पड़ता है, और अकेले ही शुभ अशुभ कर्म बांधना व भोगना पड़ता है। तो फिर स्वात्मा का शाश्वतकाल का हित-साधन भी अकेले ही करना चाहिये। जैसे जन्म या मृत्यु आदि में किसी के सहारे की आशा रखना निष्फल है, इसी तरह स्वात्महित-साधन में भी दूसरे की आशा रखना बेकार है। कर्म भोगने में अकेला रहना पड़ता है, अकेले रह सकते हैं, तो आत्म-हित साधना में अकेले क्यों न रहा जाय ?

(४) अन्यत्व भावना : मैं स्वजन कुटुम्बियों से भिन्न हूँ। ऐसे ही परिवार से, वैभव से, तथा काया से भिन्न हूँ। ये सचमुच मैं नहीं या मेरे नहीं हैं, याने मेरी या मेरे मालका की वस्तुएं नहीं हैं। तो फिर मुझे इनमें से किसी चीज का वियोग हो या इसमें कुछ टेढ़ा मेढ़ा हो, तो उसमें शोक खेद किस लिए करना चाहिये ? जैसे कहीं किसी का लड़का मरने पर वह मेरा न होने से मैं रोता नहीं हूँ शोक में मग्न नहीं होता हूँ तो फिर जो मेरा माना हुआ है पर सचमुच में तो मेरा नहीं है, उसके मरने पर क्यों शोक करूँ ? यदि स्वजन शरीर आदि मेरे से बिलकुल अलग न हों तो मरने पर यह सब छोड़कर मुझे अकेला ही क्यों जाना पड़ता है ? अतः मैं इन सब से बिलकुल भिन्न ही हूँ।' इस तरह अन्यत्व की मति जिसे निश्चल हुई, उसे शोक रूपी कलियुग नहीं लगता, या सताता नहीं है। भगवान श्री ऋषभदेव प्रभु के केवलज्ञान होने पर मरुदेवा माता पुत्र को देखने आई, वहां १००० वर्ष के वियोग के बाद पुत्र बुलाता नहीं, उसका शोक ऊभर आया, परन्तु वही अन्यत्व भाव में चढ़ने से माता को केवलज्ञान प्राप्त हुआ।

(५) अशुचित्व भावना : 'यह शरीर इसमें डाले हुए अच्छे शुद्ध खानपान आदि को अशुचि याने गंदा करने का सामर्थ्य रखता है। साथ ही यह असल में गंदे रजवीर्य से जन्म लेकर

उसे माता के गर्भ में उत्तरोत्तर पोषण देने वाले पदार्थ भी गंदे होते हैं; अतः वह स्वरूप से भी गंदा है। स्नानकर बाहर की अल्प समय की स्वच्छता का संतोष मान लें, इतना ही; बाकी उस समय भी अन्दर से तो सचमुच गंदा ही है।' इस तरह का देह का अशुचि भाव समय समय पर सोचने जैसा है, इससे शरीर का मोह, विभूषा का मोह, स्त्री शरीर का राग ...इत्यादि मंद पड़ते जायें।

(६) **संसार भावना** : 'इस संसार में जीव एक भव में माता होकर दूसरे भव में पुत्री बनती है, बहन हो जाती है या पत्नी भी बनती है। तब एक समय पुत्र होकर दूसरे भव में पिता, भाई या शत्रु भी बन जाता है। इस तरह किसे किस एक निश्चित रूप के कुटुम्बों के रूप में लिये फिरे? ओर बेकार ममता करें? बेकार ममता करके पाप बढ़ाना? दुर्ध्यान करना? या देव गुरु धर्म भूलना?' इस भावना का फल यह है कि स्वजन ममत्व छूट जाता है और स्वजनों के खातिर देव गुरु व धर्म भूला नहीं जाय।

(७) **आश्रव भावना** : जो विचारा मिथ्यादृष्टि है, सर्वज्ञ वचन की श्रद्धा रहित है, अविरत है, विरति याने प्रतिज्ञा-बद्ध हिंसादि पाप के त्याग वाला नहीं है, विषयासक्ति, निद्रा, विकथादि प्रमाद वाला है और जिसे कषाय तथा त्रिदण्ड याने मन वचन काया के अशुभ योगों में रुचि है ऐसे जीव को उन्ने प्रमाण में आश्रव और कर्म लगते हैं। अफसोस कि आश्रव लगने से इस उच्च मानव भव में वह कैसा सुन्दर संवर का मौका गुमाता है? कर्म लगने के बाद अहो! वह उनके कैसे दारुण विपाक को दीर्घ-काल तक भोगता है? अतः मैं आश्रव को रोकने में प्रयत्नशील बनूँ। इसका फल आश्रव का डर तथा आश्रव का त्याग है।

(८) **संवर भावना** : 'मन वचन काया की जो वृत्ति कर्म के ग्रहण को रोकती है, वह संवर है। इससे चित्त की सुन्दर

समाधि तथा वचन-काययोग की स्वस्थता रहती है। यह भाव कल्याणस्वरूप है, क्योंकि अन्त में सूक्ष्म काय योग की वृत्ति उत्पन्न होकर शैलेशीकरण की साधना करवा कर सर्व संवर याने सर्वथा कर्मबंध रहित अवस्था ला देता है।' श्रेष्ठ संवरदान करने वाले अनन्त अरिहन्त प्रभु ने यह फरमाया है। इस भावना से संवर की अनुमोदना तथा उसका आचरण आता है।

(६) निर्जरा भावना : 'जैसे शरीर में संगृहीत आम पित्तादि दोष का प्रयत्नपूर्वक विशेष शोषण किया जग्य तो वह पच जाता है, जर्जरित होकर नष्ट हो जाता है; इसी तरह आत्मा पर संगृहीत कर्मों को उपरोक्त सबर मार्ग भी तप सहित बनने से निर्जरा कर डालता है, क्षीण कर देता है ...।' इस भावना से निर्जरा की तमन्ना जाग उठती है।

(१०) लोक भावना : लोक याने १४ राजलोक के ऊर्ध्व, अधो तथा तिच्छालोक के विस्तार का चिंतन करना चाहिये। उसको प्रमाण आकृति आदि तथा उसमें कहां कहां क्या क्या आया हुआ है तथा वहां सर्वत्र प्रत्येक स्थान पर हुए अनन्त जन्म मरण और उनमें हुई आत्मा की दुर्दशा आदि का चिंतन करना चाहिये। साथ में लोक में रहे हुए अनेकविध रूपी पुद्गल द्रव्य और उनके अब तक के हुए तथा होने वाले उपयोगों का चिंतन करना चाहिये। इससे वैराग्य तथा समाधि की प्राप्ति होती है।

(११) धर्म स्वाख्यात भावना : 'अहो ! राग-द्वेषादि आंतर शत्रुओं को जोतने वाले श्री जिनेश्वर भगवन्तों ने कैसा अनन्य सुन्दर श्रुत धर्म व चारित्र्य धर्म बताया है। विश्व में उसकी तुलना में कोई नहीं है। उसके समान कोई सुन्दर कार्य नहीं है। जो इस धर्म में रक्त रहे वे संसार-समुद्र को सरलता से तैर गये।' इस भावना से धर्म ऋद्धि बढ़ती है।

(१२) **बोधि दुर्लभ भावना** : इस जगत में मनुष्य भव । उसमें भी १५ कर्म भूमियों में तथा उसमें भी अनार्य देश या नीच कुल में न होकर आर्य देश में जन्म । तथा उत्तम आर्य कुल में जन्म । तथा साथ में अखण्ड पांचों इन्द्रिय, आरोग्य । उपरांत दीर्घ आयुष्य । सभी उत्तरोत्तर एक एक से अधिक दुर्लभ हैं । इनकी प्राप्ति अत्यन्त दुर्लभ है । अरे ! ये मिल भी जाय तब भी इसमें अच्छे कुल संस्कार तथा संत-समागम की रुचि प्राप्त होना अति कठिन है और उसके मिल जाने पर भी उनके पास शुद्ध धर्म तत्त्व का श्रवण प्राप्त करना कठिन है । अरे ! यह सब होने पर भी बोधि याने जैन धर्म की प्राप्ति होना, उसका हृदय में स्पर्श होना अत्यन्त महंगी वस्तु है । इसके बिना तो आत्मा का उद्धार है ही नहीं । तब १४ राज-लोक में कर्मवश और मोहमूढ बने जीवों की दशा देख कर, ऐसी सुदुर्लभ बोधि यहां अति सुलभ होने के संयोग मिलने पर भी, मैं उसे क्यों नहीं अपना लेता ? इससे तो भवान्तर में वह कितनी सुदुर्लभ बन जावेगी ?

ध्यान धारा के टूटने पर तुरन्त ही इन १२ भावनाओं में चित्त को लगा देना चाहिये ।

१२ भावनाओं से लाभ

प्रश्न— १२ भावनाओं से क्या लाभ है ?

उत्तर— इससे एक लाभ तो यह कि जगत के सच्चित्त अचित्त मिश्र पदार्थों पर से आसक्ति ममता व राग टूटता है, अनासक्त दशा आती है और दूसरे लाभ में भवनिर्वेद होता है व बढता जाता है । उदा० (१) 'अनित्य' भावना से 'सच्चित्त' याने पत्नी, पुत्र आदि चेतन पदार्थ, 'अचित्त' याने पैसा माल मिलकत आदि, तथा 'मिश्र' याने अलंकार सहित स्त्री आदि सभी अनित्य हैं, उठ कर

चले जाने वाले हैं, इत्यादि भावना बराबर करने से स्वाभाविक ही उन पर की आसक्ति मिटती है। (२) 'अन्यत्व भावना' से अपनी खुद की काया ही अन्य व भिन्न लगने से उस पर से आसक्ति उठ जाती है। इसी तरह बारही भावना से विश्व के समस्त चराचर पदार्थ का पक्षपात याने आसक्ति दूर जाती है, दूटती जाती है। संसार ऐसे सब अनित्य पदार्थों से ही भरा होने से उस पर नफरत होती है, अरुचि तथा व्याकुलता होती है। जैसे जैसे आसक्ति हटती जाती है, वैसे वैसे संसार तथा उसके औदयिक भावों पर अलिप्तता बढ़ती जा कर मुनिधर्म ध्यान से च्युत होते ही यह लाभ करवाने वाली १२ भावनाओं में अपने मन को पिरोदे तो अनभि-
ष्वंग, भवनिर्वेद तथा अनासक्ति बढ़ कर पुनः एकाग्रता बढ़ जाने से धर्मध्यान आ जाता है।

प्रश्न— धर्म ध्यान के हटते ही तुरन्त अन्य कुछ मन में न आ कर ये भावना ही किस तरह आ जायें ?

उत्तर—जिसने पहले धर्मध्यान से अन्तःकरण को अच्छी तरह से भावित कर दिया हो उसे इस धर्मध्यान के आज्ञा, अपाय, विनाशक व संस्थान विषयों की रमणता ही ऐसी हो जाती है कि उस पर के ध्यानात्मक स्थिर चिंतन को खोने पर उसी में के विषयों पर भावनात्मक विचारधारा चलने लगती है। १२ भावना के विषय धर्मध्यान विषय में समा जाते हैं; अतः ध्यानभंग होने पर मन स्वतः उसमें जाता है। मात्र बार बार के चारों प्रकार के धर्मध्यान से चित्त को, दिल को, हृदय को भावित कर देना चाहिये। चित्त इसी से पूर्ण रंग जाना चाहिये। यह अनुप्रेक्षाद्वार का विचार हुआ।

लेश्या

अब लेश्या द्वार का विचार करते हैं:—

होंति कमविसुद्धाओ लेमाओ पीय-पम्ह-सुक्काओ ।

धम्मज्झाणोवगयस्स तिव्व - मंदाइ - भेयाओ । ६६॥

अर्थः—धर्मध्यान में रहे हुए को तीव्र, मन्द तथा मध्यम प्रकार की पीत पद्म व शुक्ल लेश्या होती है। वे क्रमशः अधिकाधिक विशुद्धि वाली होती जाती हैं।

विवेचन :

धर्मध्यान में रहे हुए को कृष्णादि छ लेश्या में से ऊपर की पीत पद्म व शुक्ल तीव्र लेश्या होती है। धर्मध्यान शुभ ध्यान होने से स्वतः ही इसमें चित्त निर्मल होता है जिससे कृष्ण नील कापोत नामक तीनों निम्न व अशुभ लेश्या का अवकाश नहीं होता। पर उपर की पीत पद्म शुक्ल नामक शुभ लेश्या को ही अवकाश रहता है। ये लेश्याएं क्रमशः अधिक विशुद्धि वाली हैं। अर्थात् पीत लेश्या से पद्म लेश्या अधिक विशुद्ध और उससे भी शुक्ल लेश्या अधिक विशुद्ध होती है। उसमें अन्य लेश्या तीव्र, आद्य मन्द, और मध्यम लेश्या मध्यम प्रकार की होती है। ये प्रत्येक लेश्या भी एक ही मात्रा की नहीं होती, परन्तु चढती उतरती मात्रा वाली होती है। किसी को पीत लेश्या मन्द मात्रा में होती है, तो किसी को मध्यम या किसी को तीव्र मात्रा में होती है। एक जीव में भी लेश्या मन्द मात्रा से शुरू होकर बढ़ते बढ़ते मध्यम और तीव्र मात्रा में पहुँच जाती है, ऐसा भी होता है। धर्मध्यान मात्र आज्ञा, अपाय आदि का सुक्का चिंतन नहीं है पर भाव से आर्द्र चिंतन है; इससे शुभ लेश्या को यहां अवकाश है। इस लेश्या की मात्रा तीव्र मन्द आदि कही है इससे उसमें सामान्य रूप से जीव के तीव्र मन्दादि शुभ परिणामविशेष याने अध्यवसाय

आगम-उपदेशाऽऽणा-निसर्गत्रो जं जिगृह्यणीयाणं ।

भावाणं सदृहणं, धम्मज्झाणस्म तं लिंगं । ६७॥

अर्थः—श्री जिनेश्वर भगवन्त कथित (द्रव्यादि पदार्थ) की आगम सूत्र, तदनुसारी कथन, सूत्रोक्त पदार्थ या स्वभाव से श्रद्धा करना यह धर्मध्यान का ज्ञापक चिह्न है ।

विशेष भी लिये जा सकते हैं कि जो लेश्या के पीछे काम करते हैं । यह लेश्या द्वार हुआ ।

धर्मध्यान के ज्ञापक चिह्न (लिंग)

अब लिंग द्वार का वर्णन करते हैं:—

विवेचन :

प्रथम लिंग श्रद्धा

जीव धर्मध्यान में प्रवृत्त है, उसका प्रथम ज्ञापक चिह्न यह है कि उसमें वीतराग सर्वज्ञ श्री तीर्थंकर भगवन्तो के द्वारा प्ररूपित धर्मास्तिकायादि छः द्रव्यों और उसके गुण-पर्यायों की श्रद्धा हो । यह श्रद्धा आगम, उपदेश, आज्ञा या निसर्ग से खड़ी होती है । 'आगम' = सूत्र; 'उपदेश' = सूत्रानुसारो देशना; 'आज्ञा' = सूत्रोक्तपदार्थ; 'निसर्ग' = स्वभाव

१. आगम : याने जिनोक्त सूत्र पढ़े तब उसमें कथित जिनोक्त द्रव्यादि पदार्थों की श्रद्धा हो । यह आगम से श्रद्धा हुई कहलाती है । गोविन्दाचार्य हरिभद्रसूरि आदि को जिनागम पढ़ते पढ़ते श्रद्धा हुई ।

२. उपदेश : कइयों को जिनागम-अनुसारी उपदेश-देशना-व्याख्यान सुन कर जिनोक्त तत्त्व की श्रद्धा होती है । मूल आगम, जिनागम तो कम लोगों को ही मिलता है, पर आचार्यादि का आगमानुसारी उपदेश सुनने का तो बहुत सों को मिल जाता है । वे इससे तत्त्व श्रद्धा वाले होते हैं ।

जिणसाहू गुणकित्ठण पसंसणा-विणयदाण संपण्णो ।

सुअ-सील-संजमरओ धम्मज्झाणी मुण्येयव्वो ॥६८॥

अर्थः—जिनेन्द्र तीर्थंकर देव तथा मुनियों के (निरतिचार सम्यग् दर्शन आदि) गुणों का कथन, भक्त पूर्वक स्तुति, विनय, उन्हें (आहारादि का) दान, इनसे संपन्न और जिनागम, व्रत, संयम (अहिंसादि) में भाव से रक्त धमंध्यानी होता है यह जानें ।

३. आज्ञा : जिनागम में जो 'आज्ञप्यन्ते' याने आज्ञा फर-मई जानी है वे जीवादि पदार्थ यही आज्ञा । इनसे श्रद्धा होती है अर्थात् (१) इन पदार्थों की वास्तविक व्यवस्था देख कर ही श्रद्धा हो जाती है अथवा (२) जगत के पदार्थों का व्यवस्थित विचार करते करते मिथ्यात्व कर्म का ऐसा क्षयोपशम हो जाए कि जिससे बराबर जिनोक्त तत्त्व की श्रद्धा हो जानी है । बल्कलचीरी को तापस-अवस्था में बर्तनों की प्रमार्जना करते करते जिनोक्त संयम-मार्ग के पात्र आदि के पड़लेहन आदि की श्रद्धा हो गई । उसमें भावना पर चढ़ते हुए पङ्काष्ठा पर पहुंच गये जिससे केवलज्ञान हो गया ।

४. निसर्ग याने स्वभाव : स्वाभाविक रूप से मिथ्यात्व मोहनीय कर्म के टूटते जाने से इसका क्षयोपशम हो जाय और जिनोक्त तत्त्व की श्रद्धा प्रकट हो ; यह निसर्ग से सम्यग् दर्शन हुआ कहा जाता है । किसी जीव विशेष को वैसे निर्मल भावोल्लास से भाव की विशुद्धि बढ़ने से ऐसा होता है ।

उपरोक्त चारों में से किसी भा कारण से जिनोक्त तत्त्वों की श्रद्धा की जाती हो तो वह धमध्यान का लिंग है । विद्वत्ता कितनी ही हो, नौ पूर्व तक का ज्ञान हो, किन्तु यदि यह श्रद्धा ही नहीं, तो विपाक, संस्थान आदि के विचार चाहे कितने ही बाल दिखावे, तब

भी वहां धर्मध्यान नहीं होगा । वस्तुतः पहले मूल में श्रद्धा होनी चाहिये । वह हो तभी समझा जायगा कि वहां धर्मध्यान है ।

धर्मध्यान के दूसरे चिह्न

विवेचन :

जिसके चित्त में धर्मध्यान प्रवर्तित हो, वह इन दूसरे चिह्नों से भी जाना जा सकता है । (१) पहला चिह्न तो ऊपर कहा वैसे जिनोक्त भावों की श्रद्धा है । (२) धर्मध्यानी जिनेश्वर भगवान और निश्रन्थ मुनियों के गुणों का कीर्तन प्रशंसा करता हो । इसमें (i) गुणों का नाम आदि ले कर कथन विवेचन करना वह कीर्तन; उदा० भगवान के ३४ अतिशय ऐसे ऐसे होते हैं । यह गिनाना कीर्तन है । और (ii) श्लाघ्य के रूप में भक्तिपूर्वक स्तुति करनी प्रशंसा है । दिल में उनकी ओर भक्ति उभर जाय और बोला जाय 'अहो ! प्रभु का कैसा निरतिचार सम्यग् दर्शन, सम्यक् चारित्र ! कैसे उपसर्ग सहे ! साधु महाराज की कैसी सम्यक् श्रद्धा और उसके साथ तप संयम की साधना !' इस तरह कीर्तन प्रशंसा करता हो ।

(३) इसी तरह (i) विचरते हुए जिनेन्द्र भगवान को आहारादि भावपूर्वक दान करे । (ii) स्थापना जिन की स्वशक्ति के लायक उत्तम द्रव्य से भक्ति पूजा करता हो । (iii) साधु साध्वी को आहार, वस्त्र, पात्र, मुकाम आदि का दान करता हो ।

(४) देवगुरु का विनय करे । (i) भगवान पधारें तो सामने जाय, (ii) भगवान के पास जाते वक्त सचित्ता (स्व उपभोग में लेने के खान पानादि) द्रव्य का त्याग करके जाय तथा (iii) अचित्ता (प्रभु की पूजा में रखने योग्य पुष्प फलादि) लेकर जाय । (iv) उत्तरासंग ओढ़ कर जाय; (v) प्रभु को देखकर वहीं से अंजलि जोड़ कर सिर नवा कर 'नमो जिणाणं' बोले (vi) देवदर्शनादि में

मन वचन काया से एकाग्र बने; इत्यादि प्रभु का विनय करता हो । इसी तरह मुनि महाराज का विनय करे । उनके आने पर खड़ा होना, जाने पर साथ में कुछ दूर पहुँचाने जाना, उनको आसन देना, उनको सुखशाता पूछना, उनके वचन को 'तहत्ति तथास्तु' कह कर स्वीकारना आदि साधु विनय करता हो ।

(५) इसी तरह श्रुतशील संयम से सम्पन्न हो । 'श्रुत' याने सामायिक सूत्र से लेकर १४वें पूर्व 'बिन्दुसार' तक के आगम । 'शील' याने व्रत नियमादि चित्त-समाधि के साधन । (व्रत-नियम समाधि सदाचार का मन पर बोझ न हो तो निरंकुश मन इष्ट विषयों की प्राप्ति न होने से या कम होने से असंतुष्ट, अस्वस्थ रहता है तथा कषायों की छूट होने से भी अस्वस्थ असमाहित रहते हैं; अतः शील जरूरी है ।) वैसे ही 'संयम' याने जीवहिंसादि पापों का त्याग । इन श्रुतशील संयम में भाव से रक्त हो ।

उपरोक्त चिन्ह जहां दृष्टिगोचर हों, वह व्यक्ति धर्मध्यान में प्रवर्तित होता है, ऐसा समझा जा सकता है । अन्तर में धर्मध्यान बिना वह जिन-मुनि-गुणप्रशंसा आदि करने का नहीं होता । इस पर से समझ में आ सकता है कि जो इस प्रशंसादि के बदले निंदा आदि हो या मोह वश भक्त आदि की प्रशंसा या सम्मान आदि चलता हो, तो वहां आर्त्तध्यान चलता है ऐसा माना जायगा । इसी तरह ये श्रद्धा गुणकीर्तन आदि चिन्हों में प्रवृत्त ज्यादा हो, तो धर्मध्यान सरल हो जाता है ।

प्रश्न— धर्मध्यान के स्वामी (अधिकारी) तो पहले अग्रमत्ता मुनि आदि को कहा । तो धर्मध्यान उन्हें होता है । फिर यहां जो निसर्ग श्रद्धा, देवगुरु-विनय आदि लिंग कहे, वे तो समकृति और देशविरति श्रावक तथा प्रमत्ता मुनि को भी होते हैं । तो क्या उन्हें धर्मध्यान हो सकता है ?

अहं खंति मद्वऽज्जव मुत्तीओ जिणमयप्पहाणाओ ।

आलंबणाइं जेहिं सुक्कज्जाणं समारुहई ॥६९॥

अर्थ:— अब आसन द्वार के बाद) जिन मत में मुख्य क्षम। मृदुता ऋजुता निर्लोभता ने आलम्बन हैं । इससे शुक्ल ध्यान पर चढते हैं ।

उत्तर— धुत-शील-संयम-रक्तता तक के सम्पूर्ण लिङ्ग तो अप्रमत्ता मुनि का होते हैं । इस हिसाब से नीचे के गुणस्थानक वालों को धर्मध्यान मुख्यतः नहीं हो सकता । तब भी उपरोक्त श्रद्धादि अमुक लिङ्गों के अनुसार प्रमत्ता मुनि को भी धर्मध्यान गौण रूप से आ सकता है । इससे नीचे के समकित्ती श्रावक को अविरति होने से आर्त्तध्यान में उसका ज्यादा खिंचाव रहता है । अतः उन्हें आर्त्ता की अपेक्षा धर्मध्यान बहुत ही अल्प जैसा होता है । यह लिङ्ग द्वार हुआ ।

अब 'फल' कहने का समय आया । पर लाघव के हेतु से (थोड़ा लिखना पड़े इसलिए) शुक्ल ध्यान के फल के अधिकार के वक्त ही वह भी कहेंगे । इसके अलावा बाकी धर्मध्यान का विचार यहां पूर्ण हुआ ।

४. शुक्ल ध्यान

अब शुक्ल ध्यान का वर्णन करने का समय है । शुक्ल शब्द की व्युत्पत्ति प्रारम्भ में कही है । शोक को नष्ट करे वह शुक्ल । इस शुक्ल ध्यान में भी 'साधना' से लेकर 'फल' तक के १२ द्वारों से वर्णन किया गया है, विचार किया गया है । इनमें से भावना, देश, काल तथा आसन द्वारों में धर्मध्यान से कोई फर्क नहीं है । अतः यहां उनका पुनः विचार नहीं किया जाता । उनको छोड़ कर यहां आलम्बन द्वार कहते हैं:—

शुक्ल ध्यान के आलम्बन

विवेचन :

आलम्बन द्वार का विचार करते हुए शुक्ल ध्यान के आलम्बन-रूप, क्षमा, मृदुता, ऋजुता व मुक्ति है ।

क्षमादि का स्वरूप

ये क्षमादि क्रोध, मान, माया, लोभ के त्याग रूप समझने के हैं । अर्थात् क्रोध-त्याग क्षमा है, मान-त्याग ही मृदुता है, माया-त्याग ही ऋजुता और लोभ-त्याग ही मुक्ति है । इसमें क्रोध आदि का त्याग दो तरह से है:—(१) उदय में आने को तैयार क्रोध आदि मोहनीय कर्म के उदय का निरोध याने रोकना, तथा (२) उदीरणा किये गये क्रोधादि को निष्फल बनाना ।

(१) क्रोधादि के उदय का निरोध (रोक) इस तरह है : उदा० अपने को किसी की तरफ से प्रतिकूल अनिष्ट होने का पता चले, जैसे खंभक मुनि को आ कर चांडालों ने कहा कि 'हमारे राजा के हुकम से हमें तुम्हारी चमड़ी उतारना है ।' ऐसा सुनने में क्रोध कषाय के उदय में आने की तैयारी मिनी जायगी । उसी समय उस उदय को शुभ विचारों से रोकने का प्रयत्न कर के उसे रोका जाय । यह उदयनिरोध किया कहा जावेगा । शुभ विचारणा कैसे करना वह आगे बताया जायगा ।

(२) उदीरणाकृत क्रोधादि को इस तरह निष्फल करे । सामने वाले ने हमारे प्रति कोई प्रतिकूल बर्ताव किया, हमारा अनिष्ट किया-या नापसंद बात की, तो तुरन्त ही दिल में क्रोध भड़क उठता है । यह क्रोध की उदीरणा अथवा उदय कहा जावेगा । अब इसे निष्फल करना याने क्रोधोदय के उपर उसका फल नहीं बैठने दें । उदा० अन्तर में क्रोध भड़क उठने पर 'क्रोध से भरे हुए लंबे तर्क या लंबी

विचारधारा चले, ^२बाहर आंखें लाल हों, या ^३आंखें ऊंची चढ़ जायं, ^४मुंह बिगड़े ^५मुंह आवेश वाला हो ^६होठ कांपने लगें, ^७चाहे जैसे ककश शब्द या गाली बोले जायं, ^८मारने के लिए हाथ ऊंचा किया जाय । इत्यादि यह सब क्रोध का फल है । यह कुछ भी न होने दें, तो क्रोध को निष्फल बनाया कहा जा सकता है । इसके लिए भी इस तरह सोचना चाहिये ।

चार कषायों के त्याग के लिए विचारधारा

१. क्रोध के उद्‌य का निरोध तथा उद्‌ीण क्रोध का निष्फलोकरण: इसके लिए इस तरह से सोचें:-

(१) 'जीव ! ध्यान रखना; यह बाहर का बिगड़ा है या बिगड़ेगा, वह तो तेरे अशुभ कर्मों के कारण; परन्तु अब क्रोध कर के तू अपनी आत्मा का परलोक मत बिगाड़ना । वह तो तेरे हाथ में नहीं था, यह तो तेरे हाथ में है । (२) क्रोध करने से सामने वाले का क्रोध बढ़ कर आग भभक जावेगी, इससे हानि बढ़ती है । (३) 'सर्वे जीवा कम्मवस' के अनुसार वह तो विचारा कर्मवश है याने कर्म के पराधीन है । उस पर गुस्सा क्या करना ? वह तो दयापात्र है । अतः उसकी करुणा करने जैसी है, उस पर गुस्सा करने जैसा नहीं है । क्योंकि यों भी वह अयोग्य आचरण करने से कर्म का मार खायेगा । तो फिर उस पर ज्यादा जुल्म क्या करना ? (४) मेरा बाहर का बिगड़ा वह तो पर का बिगड़ा, अपनी आत्मा का कुछ भी बिगड़ा नहीं । उसका पुण्य, उसका धर्म और उसकी सत्तागत अनन्त ज्ञानादि-समृद्धि तो जो है, वह है ही । उसमें से सामने वाला कुछ भी बिगाड़ नहीं सकता । तो फिर क्रोध क्यों करना ? (५) क्रोध करने से महावीर प्रभु के सन्तान्तत्व को कलंक लगता है । (६) अनमोल जिनशासन की प्राप्ति निष्फल हो जाती है ।

(७) आज तक जो धर्म सेवन किया है, उसकी धर्म की समझ को हानि होती है। (८) मेरे से सौ गुनी, हजार गुनी अरे लाख गुनी आपत्तियों में महापुरुषों ने क्रोध नहीं किया। महावीर प्रभु के कान में कीलें लगाई गई, सुकोशल मुनि को सिंहनी ने फाड़ खाया, गज-सुकुमाल के सिर पर जलती हुई सिगड़ी रख दी गई, तब भी उ होंने लेशमात्र क्रोध नहीं किया। (९) अनन्त काल से अनेक अन्य भवों में क्रोध को तथा क्रोध की संज्ञा को पुष्ट करता रहा हूँ तो अब इस ऊँचे मानव भव में भी पुनः उसे ही पुष्ट करूँगा तो फिर उसका शोषण करना, उसका ह्रास या कर्मा करना आदि किस भव में करूँगा ? एवं कब करूँगा ? (१०) क्रोध से चडकौशिक के जीव-साधु की तरह भवों की परम्परा चलेगी वह कैसे निभाएगा ? (११) क्रोध से मन तामसी बनता है, सत्त्व खो कर निःसत्त्व बनता है, और तामस भाव का अन्य शुभ भावों पर खराब प्रभाव पड़ता है। साथ ही यहां सत्त्व की हानि होने पर महासुकृत के गुणस्थानक वृद्धि के तथा क्षपकश्चेणी-दायक परमसत्त्व जनित-अपूर्व करण महासमाधि के मूल स्वरूप (जड़ जैसे) सत्त्व पर कुठाराघात होता है। (१२) क्रोध करने से औदयिक भाव याने मोह की आज्ञा का पालन पोषण होता है, तो क्रोध को रोकने से सुन्दर क्षायोपशमिक भाव याने जिनकी आज्ञा के पालन का लाभ मिलता है।'आदि विचार करने से, इन विचारों को अन्तर्भावित करने से क्रोध के उदय को रोका जा सकता है। (१३) 'सामने वाले ने कठोर शब्द कहा है न ? गाली तो नहीं दी न ? गाली दी, तो दुसरा तो कुछ नहीं बिगाड़ा न ? बिगाड़ा भी है, तो प्रहार तो नहीं किया न ? प्रहार किया है तो मुझे मार नहीं डाला न ? यदि मार भी डालता है, तब भी मेरी धर्म की आंतर परिणति का (या अंतर की धर्म परिणति का) तो नाश कर ही नहीं सकता। वह तो मैं अपने

हाथ से नष्ट करूं तभी होगा । अन्य किसी की ताकत नहीं कि वह नष्ट करे । और वह सलामत है तो फिर मेरा वास्तविक कुछ भी नहीं बिगड़ना । तो मुझे किस लिए सामने वाले पर गुस्सा करना चाहिये ?' इस तरह सोच कर अन्दर के भभकते हुए क्रोध को निष्फल किया जा सकता है ।

२. मान कषाय को रोकना : इस तरह मान कषाय को रोकने के लिए उपरोक्त बातों में से कितने ही विचार काम आ सकते हैं । उन सब को यहां दोहराया नहीं जाता । उसके अलावा ये भी विचार किये जा सकते हैं । (१) अनन्तज्ञान, महान अवधिज्ञान या १४ पूर्व का श्रुतज्ञान तथा महापुण्य एव महाशक्ति धारण करने वालों ने या महासुकृत वालों ने भी अभिमान नहीं किया, तो मैं किस बात पर अभिमान करूं ? (२) अनन्त कर्मों से दबे हुए गुलाम जैसा मैं किस मुंह से अभिमान करूं ? (३) मैंने ऐसे कौन से महासुकृत या महापरोपकार किये हैं ? कौन से ऐसे महान सद्गुण प्राप्त किये हैं ? कौन से महा तप संयम की साधना की हैं ? मैंने अपनी कौन सी मनोवृत्तियों पर कौनसा विजय प्राप्त किया है ? तो फिर मुझे अभिमान करने का हक क्या है ? (४) यदि बाह्य वभव सत्तामन्मान आदि पर अभिमान होता है तो चक्रवर्ती के आगे वह किस गिनती में है ? यदि आंतरिक तप या ज्ञान पर होता है तो पूर्व पुरुषों की ज्ञान समृद्धि या तप समृद्धि के आगे वह किस गिनती में है कि उसका अभिमान करूं ? (५) राजा रावण की तरह अभिमान से अन्त में गिरने का ही होता है, तो उससे तो मान न करने से ही शान्ति और शान्ति रहती है... आदि सोचकर मान मद अहंकार को रोकना चाहिये । मन में मान उठा हो, तो भी उसे सफल नहीं होने देना चाहिये । उस पर आंखें चढाना, अभिमान के शब्द बोलना, सामने वाले का तिरस्कार करना, उसकी निंदा करना,

स्वयं की बड़ाई करना, मुखमुद्रा या चाल आदि गर्व भरे बने....' इत्यादि फल उत्पन्न होने नहीं देना चाहिये । इस तरह उदयप्राप्त मान को निष्फल किया जा सकता है ।

३. माया के उदय को रोकना : इसमें भी पहले कहे गये कई विचार काम आते हैं । इसके अलावा भी यह सोचें:-
 (१) माया संसार के भवों की जननी है । वह तो माता की तरह मेरे भवों को जन्म देगी । तथा मेरे दोषों का पोषण करेगी ।
 (२) माया के सेवन में पीछे से पछताने का कम होता है, इससे इसमें सम्यक्त्व का ही नाश हो जाता है । (३) माया से सगे स्नेही आदि अपने ही लोगों का विश्वास व प्रेम खोने का होता है । साथ ही लोकविश्वास भी खो देता है । (४) माया के कारण स्त्रीवेद या तिर्यचगति का उपाजन होने से नीचे गिरना पड़ता है । (५) महा-शक्ति सम्पन्नों ने भी आपत्ति रोकने के लिए माया नहीं की, उससे बचाव नहीं किया, तो मैं क्यों माया करूं ? इससे मुझे क्या बहुत बड़ा बचाव होने का लाभ मिलने वाला था ? (६) माया तो शराब जैसा व्यसन है, करते करते बढ़ती जाती है । .. आदि सोचकर माया को और माया के फलस्वरूप बाह्य माया वाले शब्द आदि को रोक जा सकता है ।

४. लोभ कषाय का त्याग : इसके लिए भी उपरोक्त कई विचार काम आ सकते हैं । इसके अलावा भी सोचें:-
 (१) लोभ, राग, ममता, तृष्णा, लालसा, आकर्षण, आसक्ति, लंघता आदि में से किसी भी रूप में जागता है, रहता है और वह आत्मा का शुद्ध गुण नहीं किन्तु विकार है, रोग है, उपाधि है तो मैं उसे क्यों अपनाऊं ? (२) अनन्त काल से मूल पाये में रहे हुए इसी लोभ से ही अनेकानेक दोषों का पोषण होता रहा है और उससे संसार लम्बा और लम्बा होता गया है । ऐसे को पहचान

लेने के बाद उसका सत्कार क्या ? (३) 'इच्छा ह आगाससमा अगांता,' लोभ का तो पार नहीं । लोभ का खड़ा तो ज्यों ज्यों उसे भरते जायं, बढ़ता जाता है (४) बाहर का लोभ करने से उसका मूल्यांकन हो कर अपनी आत्मा का मूल्यांकन कम होता है । मन को आत्मा की अपेक्षा जड़ का महत्त्व ज्यादा लगता है । आत्मा का महत्त्व कम गिनने से उसके हित का विचार भी गौण हो जाता है । (५) 'सर्वं गुण विनाशको लोभः', लोभ सर्व गुणों का नाशक बनता है । (६) पाप के बाप लोभ के कारण ही आरम्भ समारम्भ, झूठ चोरी आदि कितने ही पापाचरण होते हैं । इत्यादि सोचने से, उसकी भावना करने से लोभ के उदय को रोका जा सकता है । इसी तरह अन्तर में उदय हुए लोभ को निष्फल करने के लिए उसका लम्बा विचार ही न करें, और वाणी तथा काया एवं इन्द्रियों की लोभ तथा रागवश होने वाली प्रवृत्ति को रोका जाय ।

इस तरह से क्रोध मान, माया लोभ का उदय-निरोध और निष्फलीकरण करने के रूप में उनका त्याग किया जाय यही क्षमा, मृदुता, ऋजुता व मुक्ति (निर्लोभ) है । ईसी में ईर्ष्या, भय, असहिष्णुता, द्वेष, हर्ष, खेद आदि दोषों का त्याग करने का भी समझ लेना चाहिये । इस तरह क्षमा आदि के अभ्यास में आगे बढ़ने से वे सिद्ध हों तब वे शुक्लध्यान के लिए आलम्बनरूप बन जाते हैं । क्षमादि में स्थिर रहने से उनके अलम्बन से शुक्लध्यान में चढ़ा जा सकता है, क्योंकि यह ध्यान सूक्ष्म पदार्थ के अत्यन्त स्थिर चितनरूप है । यदि इन क्षमादि की स्थिरता न हो अर्थात् क्रोधादि का बराबर दृढ त्याग न हो, तो क्रोधादि के उठने से वह ध्यान टिक नहीं सकता । अतः उनके सम्पूर्ण त्याग के आधार पर ही शुक्लध्यान हो सकता है ।

ये क्षमादि याने क्रोधत्याग आदि कषायत्याग यह जिनमत,

तिहुयण विसयं कमसो संखिविउमगो अणुं मि छउमत्थो ।
ज्ञायइ सुनिण्णंपो ज्ञाणं अमणो जिणो होइ ॥७०॥

अर्थ:—छद्मस्थ (असर्वज्ञ) आत्मा त्रिलोक के विषयों में से क्रमशः (प्रत्येक वस्तु के त्याग पूर्वक) मन को संकुचित करके परमाणु पर स्थापित कर अतीव निश्चल बन करके शुक्लध्यान ध्यावे । (वह पहले दो प्रकार का होता है । अन्तिम दो प्रकार में श्री जिन वीतराग सर्वज्ञ मन रहित होते हैं ।

जिनशासन में मुख्य वस्तु है । क्योंकि जिनशासन कर्मक्षय के लिए ही है और कषायत्याग से ही कर्मक्षय सुलभ याने सरल बनता है । अतः कर्मक्षय के सामर्थ्य की वजह क्षमादि याने कषायत्याग जिनमत में प्रधान वस्तु है । इसकी प्रधानता इसलिए कि चारित्र्य अकषाय रूप है और चारित्र्य से अवश्य मोक्ष होता है । इसलिए क्षमा आदि का आलम्बन साधन के रूप में रखे वही शुक्लध्यान में चढ सकता है, अन्य नहीं । इस तरह से शुक्लध्यान के बारे में 'आलम्बन' द्वार का विचार हुआ ।

शुक्लध्यान किस तरह ध्यावे ?

अब क्रम द्वार का समय है । इसमें शुक्लध्यान के पहले दो प्रकार में क्रम पहले धर्मध्यान का विचार करते वक्त क्रमविचार में बताया है । उसमें जो विशेष है वह यहां कहते हैं:—

विवेचन :

छद्मस्थ जीव याने ज्ञानावरण आदि आवरण में रहे हुए असर्वज्ञ जीव १४ पूर्व में कहे हुए सूक्ष्म पदार्थों के चिंतन पर शुक्लध्यान में चढ सकते हैं और उसके प्रथम दो प्रकारों का ध्यान

करते हैं। इसमें एकाग्रता इतनी ज्यादा होती है कि मन परमाणु पर स्थापित हो जाता है, परमाणु के चिंतन में मन चिपक जाता है।

प्रश्न - त्रिभुवन के विषयों में भटकता हुआ मन ऐसा एकाग्र कैसे बन सकता है ?

उत्तर—ऐसे मन को त्रिभुवन के विषयों में से संकुचित कर दिया जाता है। यह संकुचित करने का कार्य क्रमशः किया जाता है अर्थात् मन एक एक विषय-वस्तु को त्याग करते करते आखिर परमाणु वस्तु पर आकर विश्राम करता है, केन्द्रित हो जाता है।

(संकोच क्रिया की कल्पना इस प्रकार की जा सकती है। उदा० त्रिभुवन में ऊर्ध्व लोक मध्यलोक अधोलोक ये तीन लोक आते हैं। अब मन तीनों लोक के विचार में से मध्यलोक के विचार पर स्थिर किया जाए यह इतना संकोच हुआ। खास लक्ष्यपूर्वक यह संकोच होने से मन अब ऊर्ध्व अधोलोक का विचार नहीं करता। अब केवल मध्य लोक पर केन्द्रित हुआ, स्थिर हुआ। यह स्थिरता निश्चित होने के बाद में मन उसमें से संकुचित होकर अन्य सब द्वीपसमुद्र छोड़ कर मात्र जम्बूद्वीप पर एकाग्र होता है। इसमें भी आगे बढ़ कर अन्य सब छोड़कर मेरु पर केन्द्रित होता है। उसमें भी मेरु के किसी ऊर्ध्व भाग पर, फिर उसमें भी रहे हुए अनन्त पुद्गलस्कन्धों को छोड़कर किस एक स्कन्ध पर मन स्थिर किया जाता है। उसमें से पुनः संकोच करके इस एक स्कन्ध के अनन्त अणुओं को छोड़ कर संख्यात अणुओं के किसी एक हिस्से पर तन्मय होता है। उसमें से भी संकुचित करके प्रत्येक अणु के किसी हिस्से पर, फिर उसमें से पांच पर, तीन पर और अन्त में एक परमाणु पर केन्द्रित किया जाता है। इस प्रक्रिया में आगे बढ़ते बढ़ते पहले पहले के विषय का संकोच याने त्याग हुआ; अतः बाद में उन विषयों का बिलकुल

ही ख्याल नहीं आना । जरा सा बारीक या पतला सा ख्याल भी नहीं । उदा० जब मध्य लोक पर मन केन्द्रित हुआ तो वहाँ अब यह लक्ष जरा भी नहीं कि यह लोक ऊपर नीचे के लोकों के बीच में रहा हुआ है । क्योंकि इसमें तो पुनः ऊपर नीचे के लोक लक्ष में आ जाते हैं । ये नहीं आने चाहिये अतः उसके अल्पांश भी ख्याल रहित मात्र मध्य लोक पर ही मन केन्द्रित बनता है । आखिर एक परमाणु पर भी जब मन को स्थिर किया जाता है, तब यह ख्याल नहीं होता कि 'यह परमाणु आसपास के २-४-५....१००, संख्यात या अनन्त अणुओं के बीच में या किनारे पर रहा हुआ है ।' नहीं, ये सब तो मन को संकुचित करने पर कम हो गये सो हो गये । अब तो सिर्फ किसी एक निश्चित परमाणु पर मन लग गया, चिपक गया । उसमें उसके वर्ण, रस, गन्ध आदि पर्यायों में एक पर्याय से दूसरे पर्यायों पर मन जाता हो, उसे भी संकुचित करके मात्र एक पर्याय पर मन को केन्द्रित करते हैं । यह तो मात्र एक कलना हुई ! बाकी सचमुच में जो संकोचन-प्रक्रिया होती है, वह तो उसके अनुभवी जानते हैं ।)

प्रश्न — इस तरह अणु पर मन को केन्द्रित करने का कार्य तो चौदह पूर्वी महर्षि कर सकते हैं, तो क्या सभी चौदह पूर्वी महर्षियों को शुक्लध्यान होता है व उससे केवलज्ञान होता है ?

उत्तर—यह ध्यान अकेले चितन की ही वस्तु नहीं है । हाँ पहले कहा है वैसे इसमें क्षमा आदि का आलम्बन करना होता है । उसके आलम्बन से अर्थात् आधार रख कर शुक्लध्यान में चढ़ा जाता है । अतः ज्यों ज्यों इन क्रोध लोभ आदि कषयों का त्याग अधिकाधिक प्रबल बनता जायगा, अधिकाधिक सूक्ष्म कषयों का भी त्याग होता जायगा, त्यों त्यों वह आलम्बन अधिकाधिक जोरदार किया गिना जायगा; और वह मन को शुक्लध्यान में आगे और आगे बढ़ाने

वाला होगा । सभी चौद पूर्वियों में यह सामर्थ्य नहीं होता, अतः ये सब इस तरह के शुक्लध्यान में आगे बढ़ कर वीतराग सर्वज्ञ नहीं बन सकते । क्षमादि का ऐसा आलम्बन करने के लिए सामर्थ्ययोग की आवश्यकता होती है । इच्छायोग और शास्त्रयोग से भी यह ज्यादा उच्च कोटि का योग है । यों तो तीर्थङ्कर भगवान् स्वयं भी अपने चारित्र-साधना के काल में कभी कभी 'भद्र प्रतिमा' महा-भद्रप्रतिमा' व 'सर्वतो भद्रप्रतिमा' नाम अभिग्रहविशेष में रह कर सूक्ष्म ध्यान में मन केन्द्रित करते हैं । परन्तु इससे वहां केवलज्ञान प्रगट हो जाता हो, ऐसा नहीं होता । इसका कारण यही है कि क्षमादि का आलम्बन जितना पराकाष्ठा वाला, उच्च, व अन्तिम कोटि का चाहिये, वैसा अभी नहीं सिया हुआ है । अभ्यास बढ़ते बढ़ते वह होता है; और इन क्षमा आदि का जोर बढ़ाने के लिए तप-संयम की साधना के साथ साथ धर्मध्यान की बहुलता भरसकता रखने में आती है । वह जब पराकाष्ठा पर पहुँचने की तैयारी होती है, तब शुक्लध्यान के पहले दो प्रकार का ध्यान खड़ा होता है और उसमें परमाणु पर संकुचित हो कर मन की स्थिरता होती है ।

यह पहले दो प्रकार की बात हुई । वह छद्मस्थ को होता है । शुक्लध्यान के अन्तिम दो प्रकार जिन अरिहन्त को या केवलज्ञानी को अन्त में ही आता है । वहां वे अ-मना याने मन रहित या मनो-योग रहित बन जाते हैं ।

प्रश्न— केवलज्ञानी तो सर्वज्ञ होने से सब को ही प्रत्यक्ष देखते हैं, अतः उसने नहीं देखा वैसा तो कुछ होता ही नहीं, इससे कुछ भी चिंतन करने का बाकी नहीं रहता, तो मन का उपयोग न होने से वे अ-मना ही हैं न ? फिर 'अन्त में' अ-मना बनने का क्यों कहा ?

उत्तर यह बात सब है कि उनका अपने लिए चित्तनशील मन नहीं है, किन्तु यदि कोई अनुत्तरवासी देव जैसे स्वर्ग में बैठे बंटे

किसी तत्त्व के चिंतन में शंका जिज्ञासा होने से इन केवलज्ञानी को प्रश्न पूछते हैं। तब ये केवलज्ञानी भगवन्त इस शंका जिज्ञासा के उत्तर स्वरूप जो विचारधारा आवश्यक होती है वैसी विचारधारा वाला मन बनाते हैं। इसके लिए मन का उपयोग है।

मन क्या है ? जैसे वाणी क्या है ? भाषा-वर्गणा के पुद्गलों को ग्रहण करके उस उस भाषा के रूप में उनका परिणामन कर के छोड़ना याने बोलना; वैसे ही मनोवर्गणा के पुद्गलों को ग्रहण कर के उनका मनरूप में परिणामन कर के छोड़ना ही मन है। केवलज्ञानी उत्तर के रूप में यह करते हैं, यह वह अनुत्तरवासी देव वहां बैठे बैठे अवधिज्ञान से देखते हैं और इस मन पर से अपना जवाब समझ जाते हैं। इस मन का यह निर्माण मनोयोग से होता है।

इस तरह केवलज्ञानी को अपने चिंतन के लिए नहीं, किन्तु ऐसे किसी को उत्तर देने के समय मनोयोग करना पड़ता है, उसमें मन होता है। किन्तु जब मोक्ष पाने के अति निकट काल में मात्र ५ ह्रस्वाक्षर के उच्चारित जितना समय बाकी हो, तब शैलेशी अवस्था आती है। इस शैलेशी की प्राप्ति होने के पहले के अन्तर्मुहूर्त काल में शुक्लध्यान का तीसरा प्रकार अस्तित्व में आता है। इसमें वे मनोयोग का निरोध कर के अ-मना बनते हैं; साथ में वचनयोग-काययोग का भी निरोध करते हैं तब शैलेशी अवस्था प्राप्त करते हैं, और इस अवस्था में शुक्लध्यान का चौथा प्रकार 'व्युपरत क्रिया-निवृत्ति' ध्यान आता है। सारांश यह है कि शुक्लध्यान के अन्तिम दो प्रकारों में से पहले प्रकार का ध्याता शैलेशी के पहले के अन्तर्मुहूर्त में और दूसरे प्रकार का ध्याता शैलेशी में होता है।

मनः संकोच - मनोनाश के दृष्टांत

यहां प्रश्न होता है कि 'छद्मस्थ आत्मा त्रिभुवन में भटकने वाले मन को संकुचित कर के अणु पर धारण करते हैं वह किस

जह सव्वसरीरगयं मंतेण विसं निरुंभए डंके ।

तत्तो पुणोऽवणिज्जइ पहाणयर-मंत-जोगेणं ॥७१॥

तह तिहुयणतणुविसयं मणोविसं जोगमंतबलजुत्तो ।

परमाणुं मि निरुंभई अवणेइ तओ वि जिणविज्जो ॥७२॥

उस्सारियेंधणभरो जह परिहाइ कमसो हुयासुव्व ।

थोर्विंधणावसे सो, निव्वाइ तओऽवणीओ य ॥७३॥

तह विसइंधणहीणो मणोहुयासो कमेण तणुयंभि ।

विसइंधणे निरुंभइ निव्वाइ तओऽवणीओ य ॥७४॥

तोयमिय नालियाए तत्तायसभायणोदरत्थं वा ।

परिहाइ कमेण जहा, तह जोगिमणोजलं जाण ॥७५॥

अथ:—जिस तरह पूरे शरीर में व्याप्त जहर मन्त्र द्वारा (संकुचित करके) डक (दंश) प्रदेश में लाया जाता हैं । (और तब) श्रेष्ठतर मन्त्र के योग से दंशस्थान से भी दूर किया जाता है, उसी तरह त्रिभुवन रूपी शरीर में व्याप्त मन रूपी जहर को (जिनवचन के ध्यान रूपी) मन्त्र के सामर्थ्य वाला परमाणु में ला देता हैं, (और फिर) जिन-केवलज्ञानी रूपी वैद्य उसमें से भी (अचिन्त्य प्रयत्न से मनो विष को) दूर कर देता है । (गाथा ७३-) जैसे क्रमशः काष्ठ समूह दूर होने से अग्नि की लपटें कम होती जाती है और थोड़े से ईंधन पर थोड़ा सा अग्नि रह जाता है, और वह थोड़ा सा ईंधन भी दूर हो जान पर अग्नि शांत हो जाता है, उसी तरह विषय रूपी ईंधन क्रमशः घटता जाने पर मन रूपी अग्नि थोड़ा हा विषय रूपी ईंधन पर संकुचित हो जाता हैं और उस थोड़े से विषय ईंधन से भी हटा लेने पर शांत हो जाता है । (गाथा ७४-) जैसे कच्चे मिट्टी के

घड़े में या तप्त लोहे के बर्तन में रहा पानी धीरे धीरे कम होता है, उसी तरह योगी के मन रूपी जल को जानो । (वह भी अप्रमाद-रूपी अग्नि से तप्त जीव रूपी बर्तन में रहा होने से घटता जाता है।)

तरह से, किस दृष्टांत से ? ऐसे ही केवली भगवान अब मन को हटा देते हैं, दूर कर देते हैं यह किस तरह ?

इसका उत्तर देते हैं -

विवेचन :

मन को संकुचिन् करके अगु पर लाकर फिर सर्वथा हटा देने के तीन दृष्टांत बताये हैं: - (१) शरीर में व्याप्त जहर (२) ईधन पर का अग्नि तथा (३) कच्चे घड़े या गरम तप्त लोहे के बर्तन में रहा हुआ पानी ।

१. विष-संकोच का दृष्टांत :- किसी मर्षदंश आदि का जहर पूरे शरीर में व्याप्त हो गया हो, परन्तु वहां कोई मन्त्रवेत्ता मन्त्र प्रयोग करना हैं, तो मन्त्र पढ़ते पढ़ते क्रमशः विष को देह के अंगों में से संकुचित करते करते बिलकुल दंश के हिस्से पर ले आता है । फिर श्रेष्ठतर मन्त्र प्रयोग से उस दंश भाग में से भी उसे दूर कर देता है, तब शरीर बिलकुल निर्विष व स्वस्थ बन जाता है । (किसी अन्य जगह गाथा में 'मंत जोगेहि' पाठ है । वहां श्रेष्ठतर मन्त्र और योग दो विषनाशक पदार्थ समझना । उसमें भी योग याने उस प्रकार को विशिष्ट औषधि का प्रयोग ।) यह दृष्टांत हुआ ।

इसका उपनय इस प्रकार से है कि यहां मन संसार के अनेक मृत्युओं का कारण होने से जहर समान है । वह मन पूरे त्रिभुवन रूपी शरीर में व्याप्त हो जाता है । अर्थात् त्रिभुवन को अपना (चितन का) विषय करता है । परन्तु क्रमशः जहर उतारने वाले मन्त्रवेत्ता

को तरह जिनवचन के ध्यान रूपा मन्त्र के सामर्थ्य वाला छद्मस्थ उस मन का त्रिभुवन में से क्रमशः संकुचित करते करते सीधे सिर्फ एक परमाणु पर ला कर स्थिर कर के फिर उस परमाणु पर भी नहीं रहने देते । किन्तु वहां से भी दूर कर देते हैं, यह युक्तियुक्त है । जिन-केवलज्ञानी रूप श्रेष्ठ वैद्य फिर अचिन्त्य शैलेशीकरण के प्रयत्न से तीनों योगों को नष्ट कर देते हैं, यह भी युक्तियुक्त है ।

२. अग्नि संकोच का दृष्टांत : इसी तरह जैसे बहुत सी लकड़ियों से बहुत बड़ी सी आग जल रही हो, उसमें से याद लकड़े क्रमशः खींच लिये जायें, तो अग्नि कम होते होते अन्त में अल्प लकड़ियों रहने से अग्नि उतने में ही केन्द्रित हो जावेगा । फिर इतनी लकड़ियाँ भी खींच ली जावें, तो अग्नि बिलकुल खतम हो जावेगा ।

इसी तरह मन भी दुःख-दाह का कारण होने से अग्नि जैसा है । वह त्रिभुवन के विषय रूपी लकड़ियों पर अन्त्यतः प्रज्वलित हो कर दिल में महा दाह पैदा करता है । मन जितना ज्यादा विषयों में मिलता है, मिश्रित होता है, उतने ही राग, द्वेष या चिंता ज्यादा भभकते हैं । इससे जीव को खूब जलना पड़ता है । अब शुक्लध्यानी इन विषयों में संकोच करता है और संकोच करते करते एक परमाणु रूप विषयइंधण पर्यन्त आ जाता है; अतः स्वाभाविक ही इतने पर ही मन स्थिर हो जायगा । फिर तो शैलेशीकरण के अचिन्त्य प्रयत्न से उस पर से भी मन को हटा लेने से वह मन रूप अग्नि विषय-रहित होने से शान्त हो जाय यह स्वाभाविक है ।

३. पानी के हास का दृष्टांत : जैसे कच्चे घड़े में पानी भरा हुआ हो, तो वह धीरे धीरे बाहर जमता जा कर (निकलता जाने से) क्रमशः कम होता जाता है । अथवा अग्नि से गरम किये हुए लोहे के बर्तन में से पानी का क्रमशः हास होता

एवं चिय वयजोगं निरुंभइ कमेण कायजोगंपि ।

तो सेलेसीव्व थिरो सेलेसी केवली होइ ॥७६॥

अर्थ:—इन विष आदि दृष्टांतों से वाग्योग का निरोध करना है तथा क्रमशः काय योग का भी (निरोध करता है ।) तब केवल-ज्ञानी मेरु की तरह स्थिर शैलेशी बन जाता है ।

जाता है; इसी तरह (अप्रमाद और ध्यान से कच्चे बने हुए संसारी जीव में से मन रूपी पानी क्रमशः कम होता जाता है अथवा) अप्रमाद रूपी अग्नि से तप्त हो गये जीव रूपी बर्तन में से मन रूपी पानी क्रमशः कम होता जाता है । अर्थात् बहुत से विषयों का विचार करने वाला मन, विषयों के संकुचित होने से अल्प विषय के विचारों वाला बनता है । यहां मन को पानी की उपमा इसलिए दी गई कि योगियों का मन पानी की तरह अविकल है अर्थात् द्रवणशील (पिघले हुए बर्फ की तरह) बहने लायक होता है ।

इन दृष्टांतों से 'मन को अन्त में जिनवैद्य बिलकुल दूर कर देता है ।' ऐसा कहा है । इससे सूचित किया कि केवलज्ञानी महर्षि अन्त में मनोयोग का निरोध करते हैं ।

वचनयोग काययोग का निरोध

अब बाकी के योगों के निरोध करने की विधि बताते हैं:—

विवेचन :

पूर्व में बताये हुए विष आदि दृष्टांतों से जिस तरह मनोयोग का निरोध किया गया, इसी तरह वचनयोग का निरोध करते हैं और क्रमशः काययोग का भी निरोध करते हैं । इस तरह सम्पूर्ण तीनों योगों का निरोध हो जाता है तब वह केवली भगवान् मेरु (शैलेश) की तरह स्थिर आत्मप्रदेश वाला शैलेशी बन जाता है ।

ये 'योगनिरोध' पदार्थ श्री नमस्कार सूत्र की नियुक्ति में कहा हुआ ही है। तब भी यहां का प्रसंग उसके वर्णन बिना खाली न रखने के लिए सका यहां थोड़ा वर्णन किया जाता है कि 'योग-निरोध' क्या है ?

इसमें तीनों योगों का स्वरूप यह है :

१. काययोग याने क्या ?

औदारिक आदि काया वाले जीव की वैसे वीर्य-परिणति, वीर्य-परिणाम काययोग है। अर्थात् संसारी जीवों के शरीर के सहारे आत्मा में जो वीर्य गुण स्फुराद्यमान होता है, उसका नाम काययोग है।

वीर्य यह आत्मपरिणाम क्यों ?

आत्मा में ज्ञान दर्शन सुख वीर्य आदि गुण आगन्तुक याने बाहर से नये आ कर रहने वाले नहीं होते। किन्तु वे आत्मस्वभाव-भूत होते हैं। इससे ये गुण आत्मा से भिन्नाभिन्न होते हैं। याने कथंचित् भिन्न, कथंचित् अभिन्न। इसमें 'कथंचित्' याने अमुक अपेक्षा से अभिन्न भी होने से वे ज्ञान-वीर्यादि गुण आत्मा स्वरूप ही हैं। जैसे तेल की छोटी बड़ी धार होती है, वह तेल से बिल्कुल अलग कोई चीज नहीं है, किन्तु तेलस्वरूप ही है। तेल का ही एक परिणाम (परिणति) है; इसी तरह ज्ञान वीर्यादि गुण स्फुरें (प्रगट हो) वे भी वैसे वैसे आत्मपरिणाम या आत्मपरिणति हैं, याने उन उन ज्ञान वीर्य आदि में परिणत बनने वाला आत्मा ही है।

वीर्य परिणाम से कैसे कैसे कार्य ?

आत्मा में अपने स्वभाव भूत ज्ञान दर्शन सुख वीर्य आदि अनेक गुण जैसे जैसे स्फुरित होते हैं, वैसे वैसे वह आत्मा का ही ऐसा ऐसा ज्ञानपरिणाम, दर्शनपरिणाम, वीर्यपरिणाम आदि अनेक आत्म-

परिणाम बनता जाता है। इसमें वीर्य परिणाम कोई हल चल करने, कोई आहार स्वास भाषा मन लेश्या आदि कई पुद्गल ग्रहण करने के लिए होता है। यह वीर्य परिणाम (वीर्य-प्रयत्न, परिश्रम) आत्मा की अपनी औदारिक आदि काया के सहारे होता है, काया के सहारे बिना नहीं। इसीलिए तो मोक्ष प्राप्त जीवों में वीर्य गुण होने पर भी काया नहीं होने से हलन चलन या आहार कर्म आदि के पुद्गल ग्रहण करने आदि का कोई वीर्य परिणाम याने प्रयत्न नहीं होता। जब कि संसारी जीव को काया है। तभी उसके सहारे वैसे प्रयोजन से वीर्य गुण का स्फुरण होता है।

औदारिकादि ३ काया-

संसारी जीवों में मनुष्य और तिर्यच (एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक के जीवों के-औदारिक पुद्गल की बनी हुई याने औदारिक काया होती है। (२) देव नारकों को वैक्रिय पुद्गलों की बनी हुई वैक्रिय काया होती है और (३) चौद 'पूर्व' शास्त्र के ज्ञान वाले महर्षि जब अपने पास की आहारक लब्धि से तीर्थङ्कर देव की समवसरण आदि ऋद्धि देखने के लिए या उनको प्रश्न पूछने जाने के लिए आहारक पुद्गलों की काया बनाते हैं तब वह आहारक काया होती है।

काया आत्मगुण है, कायगुण नहीं

इन औदारिक-वैक्रिय-आहारक काया के सहारे हलन चलन या भाषा आदि पुद्गल ग्रहण करने का प्रयत्न हो, याने आत्मवीर्य स्फुरायमान हों, उसे 'काय योग' कहते हैं। इससे काया में प्रवृत्ति, व्यापार या क्रिया होती है इतना ही, पर उसमें मुख्य कारणस्वरूप तो काया की मदद से आत्मा में स्फुरन होने वाला वीर्य ही है। यदि आत्मा काया को छोड़ जाय, तो फिर उस काया में ऐसी कोई

प्रवृत्ति नहीं होती । अतः योग में मुख्य क्रिया नहीं किन्तु तदर्थ स्फुरित होने वाला आत्मवीर्य है अतः काययोग आदि आत्मा का ही गुणधर्म है । यह अलबत्ता औपाधिक है परन्तु इसमें आत्म-परिणाम ही विशेष है । इसीलिए यह काययोग आदि इ. 'आत्मा एक स्वतन्त्र वस्तु' होने का सबूत है । कारण यह कि भौतिककाया में यह योग दिखाई नहीं देता । सारांश यह कि औदारिक आदि काया के सहारे स्फुरित होने वाला वीर्य तथा वीर्य का आत्मपरिणाम ही काययोग कहलाता है ।

(२) वचन योग याने क्या ?

अब इस काय योग से एक कार्य मानो भाषावर्गणा के पुद्गलों को ग्रहण करने का हुआ, तो इन भाषा द्रव्य के गृहीत पुद्गलों को वचन रूप में परिणामित करके बाहर छोड़ना याने बोलना होता है । इस कार्य का प्रयत्न याने वीर्य-परिणाम ही वचन योग है । अर्थात् औदारिकादि काय-व्यापार से याने काययोग से गृहीत वचनद्रव्य-वाग्द्रव्य-समूह की मदद से होने वाला आत्मा का वीर्य-परिणाम ही वचनयोग है । अर्थात् काययोग की मदद से गृहीत भाषा-पुद्गलों को भाषा के रूप में परिणामन करके बाहर छोड़ने का याने बोलने का कार्य करने वाला आत्मपरिणाम ही वचनयोग है । यह कार्य भाषाद्रव्य के सहारे से स्फुरित होने वाला वीर्य करता है अतः वह वीर्यात्मक आत्मपरिणाम ही वचनयोग है ।

(३) मनोयोग याने क्या ?

इस पर से यह समझा जा सकता है कि कुछ विचार करने के लिए पहले तो औदारिकादि काययोग से भाषावर्गणा की तरह मनो वर्गणा के पुद्गल ग्रहण किये जाते हैं । फिर इस मनोद्रव्य के सहारे जो आत्मवीर्य स्फुरित हो कर उसे मन रूप में परिणामन कर के बाहर छोड़ता है, वह वीर्यपरिणाम ही मनोयोग है । इस

तरह से मनोयोग नाम के वीर्य-स्फुरण से मनोद्रव्य छोड़ना याने विचार रूपी कार्य करना होता है ।

वाणी विचार के बारे में न्यायदर्शन की गलत मान्यता

वचनयोग से बोलने की तरह ही मनोयोग रूपी आत्मवीर्य की स्फुरण से सोचने का कार्य होता है । जैसे बोलने के लिए भाषा-द्रव्य तथा वचनयोग वीर्य जरूरी है, वैसे ही सोचने के लिए मनो-द्रव्य तथा मनोयोगवीर्य जरूरी है । न्यायदर्शन वाले बोलने के लिए आकाश में शब्दगुण पैदा करने का और सोचने के लिए अणु मन का आत्मा के साथ संयोग करने का मानते हैं, वह मान्यता इससे असत् सिद्ध होती है, बिल्कुल बेडंगी सिद्ध होती है । नित्य मन तो एक ही प्रकार का है । वह नित्य आत्मा में भिन्न भिन्न विचार किस तरह पैदा कर सकता है ?....आदि । अस्तु । औदारिक वैक्रिय आहारक शरीर के व्यापार से गृहीत मनोद्रव्य की मदद से होने वाला जीव-व्यापार याने स्फुरित वीर्यात्मक आत्मपरिणाम ही मनोयोग कहलाता है ।

अब इन मनोयोग, वचनयोग तथा काययोग तीनों का निरोध कैसे करते हैं, सो कहते हैं ।

योग-निरोध की प्रक्रिया—

समय की दृष्टि से जब परम पद मोक्ष प्राप्ति में अन्तर्मुहूर्त की देर हो, उस समय योगनिरोध किया जाता है । वह भी भवोपग्राही अर्थात् भव का उपग्रह याने पकड़ कर रखने वाले अघातीकर्म वेदनीय, आयु, नाम व गोत्रकर्म सब की स्थिति केवल-समुद्घात द्वारा या स्वतः स्वाभाविक ही समान हो गई हो तब योगनिरोध करते हैं ।

केवली ससुद्धात : यह केवलज्ञानी का कर्मस्थिति को समान करने का एक प्रयत्नविशेष है । इसमें अन्त में केवलज्ञानी

शैलेशी के लिए योगनिरोध करते हैं, उसके पहले अन्य वेदनीयादि तीन कर्मों की स्थिति आयुष्य की बची हुई स्थिति (काल) के समान करने के लिए समुद्घात याने आत्मप्रयत्नविशेष करते हैं । इसमें पहले अपने आत्मप्रदेशों को ऊपर व नीचे लोकांत तक विस्तृत करते हैं । दूसरे समय इस १४ राजलोक जितने ऊंचे एक दण्डस्वरूप बने हुए आत्मप्रदेशों को पूर्व-पश्चिम या उत्तर-दक्षिण दो तरफ लोकांत तक विस्तृत करते हैं । अतः पहले समय दण्ड समान बने आत्म प्रदेशों को दो तरफ विस्तृत करके कपाट या लकड़ी के पट्टे (पटिया) जैसा बनाते हैं । तीसरे समय अन्य दो दिशाओं में दण्ड को विस्तृत करके कपाट रूप बने हुए पहले के आत्मप्रदेशों के साथ मिलकर एक मन्थान जैसा (ठवणी सा) बन जाता है । चौथे समय बीच के अन्तर में रहे हुए खाली स्थानों को आत्मप्रदेशों से सम्पूर्ण भर देते हैं याने आत्मा सम्पूर्ण १४ राजलोक के लोकाकाश में विस्तृत हो जाता है । समस्त लोकप्रदेशों को आत्मप्रदेश स्पर्श कर देते हैं । ऐसा होने के समय वेदनीयादि तीनों कर्मों की स्थिति बराबर आयुष्यकर्म की स्थिति के जितनी ही हो जाती है । फिर पांचवें, छठे, सातवें समय क्रमशः संकोच होते होते पुनः मन्थान, कपाट, दण्ड रूप बन जाते हैं और आठवें समय आत्मा पुनः शरीरप्रमाण हो जाता है ।

इस तरह समुद्घात से कर्मस्थिति समान बन जाती है और किसी को प्राकृतिक स्वरूप से ही समान हो, ऐसा भी होता है । परन्तु योगनिरोध की क्रिया उसके बाद ही प्रारम्भ होती है ।

पहले मनोयोग निरोध :

योग निरोध करने का कार्य काययोग से होता है । इसमें पहले मनोयोग का निरोध करते हैं । वह किस तरह किस प्रमाण से करते हैं । जो जीव अभी ही पर्याप्त संज्ञी बना हो याने जिसका कम

से कम मनोयोग हो, उसने जितने मनो द्रव्य लिस गए हों तथा उसे जितना मनोयोग-व्यापार हुआ हो, उससे असंख्य गुना कम मनो-द्रव्य-व्यापार का प्रति समय निरोध करते हैं और वैसा करते करते असंख्य समय हो जाने पर सम्पूर्ण मनोयोग का निरोध हो जाता है।

फिर वचन योग का निरोध करते हैं। वह भी ऐसे ही काययोग से। इसमें निरोध का प्रमाण यह है। अभी ही वचन पर्याप्त बने बेइन्द्रिय जीव को प्रथम समय में जो कम से कम वचनयोग हो, उससे भी असंख्य गुना कम (असंख्य गुण हीन) वचन योग का प्रति समय निरोध करते चलते हैं। इस तरह असंख्य समय निकल जाने पर सम्पूर्ण वचनयोग का निरोध होता है।

फिर काय योग का निरोध करते हैं। उसका प्रमाण इस तरह है। कोई जीव सूक्ष्म निगोद (साधारण वनस्पतिकाय शरीर) में उत्पन्न होता है। वहां जन्म के पहले ही समय उसे जो कम से कमकाय योग हो, उससे असंख्य गुणहीन काययोग का प्रति समय निरोध करते हैं और ऐसा करते करते असंख्य समय व्यतीत होने पर सम्पूर्ण काययोग का निरोध करते हैं।

काय के तृतीयांश का त्याग

काययोग निरोध करते वक्त जो आत्मप्रदेश अभी तक संपूर्ण शरीर में व्याप्त थे, वे अब शरीर के तिहाई हिस्से को छोड़ देता है और ३ दो-तृतीयांश हिस्से में ही व्याप्त होकर रहते हैं। इसका कारण यह है कि जिस समय काययोग के निरोध करने का आत्म-प्रयत्न चलता है, उस समय उस प्रयत्न में शरीर के खाली हिस्सों में आत्मप्रदेश घुसकर खाली हिस्से (पोले भाग या खड्डे आदि) के चारों ओर के हिस्से में परस्पर अखण्ड संलग्न बन जाने से स्वाभाविक है कि अन्य जगहों से संकुचित हो कर वहां आते हैं।

इससे अन्त में कुल तृतीयांश हिस्से में से आत्मप्रदेश हट कर उतना शरीर का हिस्सा बिलकुल आत्मप्रदेश रहित हो जाता है ।

ऐसे आत्मप्रदेश के संकोच के साथ असंख्य समय में काययोग का सर्वथा निरोध हो जाता है । तब सभी आत्मप्रदेश जो आज तक योगों के कारण कम्पनशील थे, वे अब सर्वथा योगनिरोध हो जाने से बिलकुल निष्कम्प (निष्प्रकम्प) होकर स्थिर हो जाते हैं । और तब आत्मा शैलेशी भाव को प्राप्त होता है । कहा है : 'तो कयजोग निरीहोसेलेसीभावणामेइ' अर्थात् योगनिरोध करने वाला तब शैलेशी भाव को प्राप्त होता है, यहां 'सेलेसा भावणा' में 'सेलेसी' शब्द प्राकृत भाषा का है, उसका अर्थ इस तरह बताया जाता है ।

(१) 'सेलेस' याने 'शैलेश' । शिला याने पाषाण । शिला का बना हुआ शिलामय 'शैल' याने पर्वत । उनका ईश याने 'शैलेश' अर्थात् मेरु । आत्मा में जो मेरु जैसी अचलता, निश्चलता आती है, आत्मप्रदेशों की स्थिरता निष्प्रकम्पता होती है, वही शैलेश । पहले जो अशैलेश होने से अब शैलेश जैसा होता है वह शैलेशी भवन कहलाता है । शैलेश जैसा करने का शैलेशीकरण कहते हैं । (उदा० कोई पदार्थ 'स्व' न हो उसे स्व जैसा किया जाय तो उसे 'स्वीकरण' किया कहते हैं ।) इस तरह जो आत्म प्रदेश पहले अशैलेशी थे वे अब शैलेशी शैलेश जैसे याने शैलेशी हुए । आत्म प्रदेश शैलेशी याने आत्मा भी शैलेशी । (इस पर से आत्मा ने शैलेशी प्राप्त की कहा जाता है ।)

(२) 'सेलेसी' याने सेल जैसे, ईसी याने शैल जैसे ऋषि, स्थिरता होने से पर्वत बने हुए केवली महर्षि ।

(३) 'सेलेसी' याने से+अलेसी दो शब्दों की सन्धि में 'अ' का लोप होने से सेलेसी शब्द बना । इसमें पहले जो कहा, 'कय जोगनिरोहो सेलेसी भावणामेइ' का अर्थ हुआ योगनिरोध करने वाला, 'से' याने वह अलेशी भावना

को पाता है । (मागधी भाषा में पहसी विभक्ति में 'अ' प्रत्यय होने से अर्थात् वह जैसे 'समणे भगवं महावीरे') अलेसी याने अलेशी अर्थात् लेश्या रहित । १३वें गुणस्थानक तक लेश्या होती है, क्योंकि लेश्या को योगान्तर्गत पुद्गल के साथ सम्बन्ध है और यहां १३वें तक ही योग विद्यमान हैं । फिर १४वें गुणस्थानक में शैलेशी होने से योग नहीं है, तो लेश्या भी नहीं है । इससे वह आत्मा अलेशी याने प्राकृत भाषानुसार 'अलेसी' बनता हैं ।

(४) 'सेलेसी' याने शील का ईश । यह अर्थ इस तरह हुआ । प्राकृत भाषा में शीलेश को 'सीलेश' कहते हैं अर्थात् शील के स्वामी । १४वें गुणस्थानक पर इन्द्रिय, कषाय, अव्रत, योग तथा क्रिया, इन पांच आश्रवों में से एक भी आश्रव नहीं होता । सर्व आश्रवों का निरोध याने सर्व संवर हो गया । निश्चयनय के अनुसार 'सर्व संवर' ही शील याने 'समाधान' है अर्थात् आत्म प्रदेशों के आत्मस्वभाव का सम्यक् आधान है, सम्यक् स्थापन है । आत्मा का मूलभूत स्वभाव सर्व आश्रव रहितता, सर्व संवर, स्थिरता ही शील है । शील के स्वामी ही शीलेश और शीलेश शब्द को स्व-अर्थ में, अपने अर्थ में 'अ' प्रत्यय लगने पर प्रथम स्वर 'शी' में से 'ई' की वृद्धि होने से 'शी' का 'शै' होता है । इससे शीलेश याने शैलेश । यह शैलेश की अवस्था याने शैलेशी । प्राकृत में उसे 'सेलेसी' कहते हैं । तात्पर्य यह कि यहां 'सेलेसी' शब्द का अर्थ 'सर्व संवर की अवस्था' हुआ ।

इस शैलेशी अवस्था को प्राप्त यह सर्व संवर निष्पत्ति और मोक्ष होने का मध्यकाल,—पांच ह्रस्व अक्षर बोले जायं उतना समय, उतने समय तक ही शैलेशी अवस्था रहती है । (फिर मोक्ष हो जाता है ।) पांच ह्रस्व अक्षर अ इ उ ऋ लृ बोलने में जितना समय लगता है, मात्र उतना ही समय शैलेशी अवस्था का याने १४वें गुणस्थानक का है ।

यहां शुक्लध्यान के अन्तिम दो प्रकार का उपयोग है। उसका क्रम इस प्रकार से है:-१३वें गुणस्थानक के अन्तिम हिस्से में काय-निरोध के प्रारम्भ से 'सूक्ष्म क्रिया अनिवृत्ति' नामक शुक्लध्यान का तीसरा प्रकार शुरू हुआ। कहा है : 'तणुरोहारंभाओ ज्ञायइ सुहुम किरियनियट्ठि सो । वोच्छिन्न किरियमप्पडिवाइ सेलेसी कालं मि ॥' शैलेशी काल में 'व्युच्छिन्न क्रिया अप्रतिपात' नामक चौथा प्रकार काम करता है। शुक्ल ध्यान का तीसरा प्रकार तो काययोग निरोध करना प्रारम्भ करे तब से अर्थात् सूक्ष्म काययोग द्वारा बादर काययोग का निरोध करना प्रारम्भ करे तब से होता है। इसीलिए यहां सूक्ष्म क्रिया योगक्रिया। सूक्ष्म काययोग अभी निवृत्त नहीं है। वह काम करता है; इसीलिए वह 'सूक्ष्म क्रिया अनिवृत्ति' ध्यान कहलाता है। तो चौथा प्रकार १४वें गुणस्थानक याने शैलेशी के समय होता है और वहां तो योगक्रिया सर्वथा निरुद्ध है, हमेशा के लिए उच्छिन्न है; कभी भी अब इस 'व्युच्छिन्न क्रिया' अवस्था का प्रतिपात याने पतन याने अन्त नहीं होगा। इसलिए इस प्रकार को व्युच्छिन्नक्रिया अप्रतिपाती कहते हैं।

शैलेशी में कर्मक्षय की प्रक्रिया इस तरह से है कि शैलेशी करने के पूर्व शैलेशी में खपाने योग्य कर्मों को समय समय के क्रम में व्यवस्थित (arrange) कर देते हैं। वह भी इस प्रकार से है : पहले समय में क्षणोद्य (खपाने योग्य) कर्मदलिकों से असंख्य गुना कर्मदलिक दूसरे समय के लिए और उससे भी असंख्य गुना कर्म दलिक तीसरे समय के लिए रखते हैं। इस तरह करते करते उत्तरोत्तर समयों में प्रत्येक समय के लिए असंख्य असंख्य गुने कर्मदलिकों की रचना होती है। इसे गुणश्रेणी कहते हैं। गुण याने उत्तरोत्तर असंख्य असंख्य गुने (दलिक) की श्रेणी याने पंक्ति। इस तरह असंख्य गुने कर्मदलिकों की गुण श्रेणी से

पहले से रचे हुए (पूर्व रचित) कर्मदलिकों को अब १४वें गुणस्थानक में शैलेशी के प्रारम्भ से क्रमशः समय समय पर क्षय करते चले जाते हैं । वह भी उपान्त्य (उप + अत्य = अन्तिम से एक पहले = २ समय) समय तक पहुंचते पहुंचते लगभग सब कर्म दलिकों को खाली कर देते हैं और बाकी बचे हुए में से कुछ यहां (उपान्त्य) खाली करते हैं और कुछ अन्तिम समय में खाली करते हैं याने क्षय करते हैं । वह भी इस तरह से है :—मनुष्य गति, मनुष्य आनुपूर्वी, पंचेन्द्रिय जाति, त्रसनाम कर्म, बादर नामकर्म, पर्याप्ति, सौभाग्य, आदेय, यश नामकर्म मिलकर नामकर्म की ९ प्रकृतियों तथा मनुष्यायु कर्म, उच्च गोत्र कर्म, और शाता अशाता वेदनीय में से कोई भी एक वेदनीय कर्म मिलकर बाकी के ३ अघाती कर्मों की ३ प्रकृतियों कुल मिलाकर १२ कर्मप्रकृति चरम समय में अजिन सिद्ध होने वाले को क्षय करने की शेष रहती हैं और जिनसिद्ध (तीर्थङ्कर बना कर सिद्धी होने वाले को जिन नामकर्म और मिलाकर कुल १३ कर्मप्रकृति चरम (अन्तिम) समय में क्षय करना होता है ।

१४वें गुणस्थानक के अन्तिम समय में सर्व कर्म का क्षय हो जाने से अब आत्मा को कोई भी कर्म बाकी नहीं रहता अतः कर्म का उदय याने औदयिक भाव भी नहीं रहता । अतः यहां सर्व कर्म क्षय के साथ ही भव्यत्व का भी नाश हो जाता है । क्योंकि भव्य जीव तो मोक्ष-गमन की योग्यता वाला याने सर्व कर्म-क्षय की योग्यता वाला ही है । वह तो सूचित करता है कि जीव ने सर्व कर्म क्षय नहीं किया, परन्तु कर सकने की योग्यता उसमें है अर्थात् अभी सर्व कर्म क्षय नहीं किया किन्तु कर्म सत्तागत व उदय में हैं । यह कर्मों का उदय वही औदयिक भाव है । वह है तभी तक ही भव्यत्व है । अतः अब यदि सर्व कर्म क्षय होने से औदयिक भाव व सत्तागत कर्म नहीं है तो भव्यत्व भी नहीं है । अतः सर्व कर्मों का अन्त होने पर भव्यत्व का भी

अन्त आता है । मात्र सम्यक्त्व, ज्ञान, दर्शन सुख और सिद्धत्व ही बाकी रहते हैं, इनका अन्त नहीं होता । क्योंकि ये सम्यक्त्वादि गुण तो आत्मा का मूलभूत स्वभाव है और संसार काल में ये गुण मिथ्यात्व-मोहनीय आदि कर्मों से आवृत्त रहने वाले होने से अब सर्व कर्म क्षय से वे प्रकट होते हैं अतः क्षायिक सम्यक्त्वादि कहलाते हैं । वे अब सदा काल हमेशा के लिए प्रकट रहते हैं ।

अस्पृशद् गति से सिद्धि गमन : अब जब कि १४वें गुणस्थानक के अन्तिम समय में समस्त कर्मों का क्षय आ कर खड़ा हुआ कि तुरन्त ही उसके बाद के एक ही समय में जीव ऋजु (सीधी) गति से सिद्ध होता है । अर्थात् लोकान्त में स्थित सिद्ध-शिला के ऊपर पहुँच जाता है । वह यहाँ से छूट कर वहाँ पहुँचता है उसमें बीच में दूसरे समय या दूसरे प्रदेश की स्पर्शना भी नहीं होती (स्पर्श नहीं होता) । अर्थात् यहाँ से छूटने के समय १४वें गुणस्थानक के पूर्ण होते ही, १४वें गुणस्थानक के अन्तिम समय के बीत चुकने के बाद का समय जो यहाँ से छूट जाने का है और ऊपर पहुँचकर सिद्धशिला पर आरूढ़ होने का जो समय है वे दोनों एक ही हैं । यहाँ से छूटने और वहाँ पहुँचने के समयों के बीच में एक भी समय का अन्तर नहीं होता । इस तरह से उस जीव को अन्तिम समय में यहाँ के आकाश प्रदेश की स्पर्शना और बाद के दूसरे ही समय ऊपर लोकांत के आकाश प्रदेश की स्पर्शना । बीच किसी आकाश प्रदेश की स्पर्शना ही नहीं-स्पर्श नहीं । इस तरह से बीच के समयान्तर या प्रदेशान्तर का जब कोई स्पर्श ही नहीं होता । इस तरह की स्पर्शना-रहित गति से वह जीव ऊपर पहुँच जाता है अतः उस गति को अस्पृशद् गति कहते हैं । ऐसी गति से जाना होता है उसका कारण शुद्ध तथा कर्म से सर्वथा मुक्त बने हुए जीव का तथास्वभाव है ।

प्रश्न— बीच के प्रदेश को स्पर्श किये बिना कैसे जा सकता है ?
और स्पर्श करे तो बीच में समय भी लगे ही न ?

उत्तर— नहीं, नहीं लगता । क्योंकि जीव संसार-काल में सूक्ष्म एकेन्द्रिय अवस्था में भी ऊपर जाता था, पर वह तो कर्म-प्रेरणा से जाता था, तब भी बीच के आकाश प्रदेशों की स्पर्शना नहीं थी तो अब तो सर्व कर्म बन्धन टूट जाने से हलका फूल सा बना हुआ सिद्ध जीव यहाँ से छूटते ही बाद के समय ऊपर पहुँच जाता है उसमें क्या आश्चर्य ?

साकारोपयोग से सिद्धि

प्रश्न— अब अकेला शुद्ध जीव ही है, कर्म बन्धन नहीं है, तो लोकान्तर पर जा कर क्यों रुकता है ? उससे भी ऊपर क्यों नहीं जाय ?

उत्तर— उसका कारण यही है कि लोकान्त से ऊपर गति-सहायक धर्मास्तिकाय तत्त्व नहीं है । यह तत्त्व तो केवल चौदह राजलोक-व्यापी अर्थात् लोकाकाश व्यापी ही है, अलोक-व्यापी नहीं है । तो गतिसहायक धर्मास्तिकाय के बिना अलोक में किस तरह से गमन कर सके ?

सर्व कर्म क्षय होते ही मोक्ष प्राप्ति होती है उस समय केवल-ज्ञान केवल दर्शन इन दोनों में से केवलज्ञान का ही अर्थात् साकार ही उपयोग होता है । यह नियम है कि सभी लब्धियें साकारोपयोग में याने ज्ञानोपयोग में ही प्राप्त होती हैं, निराकार याने दर्शन उप-योग में नहीं । अलबत्ता मोक्ष होने के दूसरे ही समय केवलदर्शन का उपयोग आ जाता है; तो उसके बाद के समय पुनः केवलज्ञान का उपयोग आता है । इस तरह अब शाश्वत रूप से हमेशा अनन्त काल तक समय समय पर ज्ञानोपयोग तथा दर्शनोपयोग दोनों एक के बाद एक होते रहते हैं । यह क्रम हमेशा चलता रहेगा ।

उत्पाय द्विद् भंगाइ पज्जयाणं जमेगवत्थुं मि ।

नाणानयाणुसरणं पुव्वगय-सुयाणुसारेणं ॥७७॥

सविचारमत्थवंजण जोगंतरओ तयं पढमसुक्कं ।

होइ पुहुत्त वितक्कं सविचार-मरागभावस्स ॥७८॥

अर्थः—एक (अणु आत्मा आदि) द्रव्य में उत्पाद-स्थिति-नाश आदि पर्यायों का अनेक नयों से 'पूर्वगत' श्रुत के अनुसार जो चिंतन, वह भी पदार्थ, द्रव्य, शब्द (नाम) और योग (मनोयोग आदि) के भेद से 'सविचार' अर्थात् इन तीनों में एक पर से दूसरे पर संक्रमण वाला चिंतन पहला शुक्ल ध्यान है। वह भी विविधता से श्रुतानुसारी होने से सविचार है और वह रागभाव रहित वाले को होता है।

शुक्ल ध्यान : (१) पृथक्त्व वितर्क सविचार

शुक्ल ध्यान का 'क्रम' द्वार पूरा हुआ। अब 'ध्यातव्य' द्वार का विचार करते हुए कहते हैंः—

विवेचन :

'ध्यातव्य' याने ध्येय अर्थात् ध्यान का विषय। शुक्ल ध्यान के चार प्रकार में पहले प्रकार का ध्येय विषय याने ध्यातव्य विषय एक द्रव्य के पर्याय हैं। यहां धर्मध्यान से शुक्ल ध्यान का विषय सूक्ष्म है अर्थात् 'एक द्रव्य' के रूप में किसी अणु द्रव्य के या आत्मादि द्रव्य के पर्याय पहले शुक्ल ध्यान के विषय बनते हैं। वे पर्याय हैं उत्पत्ति, स्थिति, नाश या मूर्तत्व अमूर्तत्व आदि। एक ही द्रव्य के पर्यायों का यह ध्यान द्रव्यास्तिक, पर्यायास्तिक या निश्चय व्यवहारादि नय के अनुसार होता है। उदा० द्रव्यास्तिक नय से वह

उत्पाद आदि पर्याय का द्रव्य से अभिन्न रूप से चिन्तन करता है । यह 'चिन्तन' चौदह 'पूर्व' नामक महाशास्त्र के अन्तर्गत आये हुए श्रुत के अनुसार होता है । इन पूर्वों में पदार्थ का बहुत विस्तृत और सूक्ष्म कोटि का विचार किया गया है । इससे उसके आधार पर इस शुक्ल ध्यान के पहले प्रकार में द्रव्य पर्याय का सूक्ष्म चिन्तन किया जाता है । यह 'पूर्व' शास्त्र के ज्ञाता ही कर सकते हैं ।

प्रश्न— तो फिर, मरुदेवी माता, भरत चक्रवर्ती आदि तो ये शास्त्र पढ़े हुए नहीं थे । उन्हें किस तरह शुक्ल ध्यान हुआ ? शुक्ल ध्यान के बिना समस्त घाती कर्मों का क्षय और केवलज्ञान तो नहीं हो सकता ।

उत्तर— बात सत्य है । मरुदेवी माता आदि को जो केवलज्ञान प्राप्त हुआ, वह शुक्ल ध्यान से ही, पर उन्हें वह दूसरे प्रकार से आया था । ((१) धर्म ध्यान की उत्कृष्टता के बल पर, और (२) भाव से ऊपर ऊपर के गुणस्थानक पर चढ़ जाने के प्रभाव वश । उन्हें ज्ञानावरणीय कर्म का तीव्र क्षयोपशम होने से 'पूर्व' शास्त्र में कहे हुए पदार्थ का बोध प्रकट हो गया । अतः यद्यपि वे 'पूर्व' शास्त्र के वेत्ता शब्द से वेत्ता नहीं थे, किन्तु अर्थ स वेत्ता बन कर । फिर उसके आधार पर शुक्लध्यान पर चढ़ गये ।)

सविचार याने ?

यह पहले प्रकार का शुक्लध्यान सविचार होता है अर्थात् उसमें चिन्तन अर्थ, व्यंजन-योग में से किसी एक पर से दूसरे पर 'विचार' याने विचरण वाला संक्रमण वाला होता है । 'अर्थ' याने वस्तु । 'व्यंजन' याने उसका बोधक शब्द । उदा० उत्पत्ति वस्तु का बोधक शब्द 'उत्पाद', 'उत्पत्ति', निष्पत्ति आदि । योग याने मनो-योग, वचनयोग, काययोग । इन तीनों में विचरण-संक्रमण होता

जं पुण सुणिककंपं निवाय सरणप्पई वमियचित्तं ।

उप्पाय ठिइ भंगाइयाणमेगंपि पज्जाए ॥७६॥

अवियार मत्थ वंजण जोगंतरओ तयं बितिय सुक्कं ।

पुव्वगय सुयालंबण मेगत्त वितक्कमविचारं ॥८०॥

अर्थ:- हवा रहित स्थान में रहे हुए स्थिर दीपक की तरह जो उत्पत्ति स्थिति नाश आदि में से किसी एक ही पर्याय में चित्त स्थिर हो, वह दूसरे प्रकार का शुक्ल ध्यान है। यह 'अविचार' याने अर्थ व्यंजन योग के परिवर्तन वाले (से होने वाले) संक्रमण रहित तथा पूर्वगत श्रुत के आलंबन से होने वाला होने से (तथा एकत्व याने अभेद वाला होने से) 'एकत्व वितर्क अविचार' ध्यान है।

है। अर्थात् ध्यान अर्थ पर से व्यंजन पर जाता है या योग पर जाता है। ऐसी वैकल्पिक अवस्था होती है। परन्तु अकेले 'अर्थ' का ही चिन्तन या अकेले 'व्यंजन' का ही चिन्तन ऐसा नहीं।

'पृथक्त्व-वितर्क' याने ? यह सविचार चिन्तन भी 'पृथक्त्व' से होता है अर्थात् भेद से भिन्नता से होता है। (अर्थात् इस ध्यान में ध्येय-ध्यान के भेद का अनुभव होता है।) दूसरे 'पृथक्त्व' का अर्थ 'विस्तीर्ण भाव' भी करते हैं। (अर्थात् यह ध्यान सविचार होने से उसका विषय विस्तार वाला-विस्तृत होता है।) अब 'वितर्क' याने 'श्रुत'। पहले कहे अनुसार 'पूर्व' गत शास्त्र के अनुसार यह ध्यान होता है।

सारांश यह कि यह ध्यान पृथक्त्व वितर्क सविचार ध्यान है।

यह ध्यान किसको होता है ? यह ध्यान राग-भाव रहित व्यक्ति को ही आता है। जब तक अन्तरात्मा में राग-परिणाम जागता हो, वहां तक इस प्रथम शुक्ल ध्यान के सूक्ष्म

पदार्थ का चिन्तन नहीं आ सकता । क्योंकि राग के कारण आत्मा का राग के विषयों की ओर आकर्षण है । अतः शुक्ल ध्यान के सूक्ष्म विषय में मन तन्मय या एकाग्र नहीं बन सकता ।

(२) दूसरा शुक्ल ध्यान : एकत्व वितर्क अविचार

अब शुक्ल ध्यान का दूसरा प्रकार कहते हैं : -

विवेचन :

शुक्ल ध्यान का दूसरा प्रकार 'एकत्व वितर्क अविचार' नामक है । यह प्रकार पहले प्रकार से अत्यन्त निष्प्रकंप अर्थात् स्थिर होता है । जैसे बिना हवा वाले घर के हिस्से में रहे हुए दीपक की ज्योति जरा भी हिलती नहीं है, किन्तु एक ही स्थिर अवस्था में रहती है, इसी तरह दूसरे शुक्ल ध्यान में चित्त अत्यन्त स्थिर हो गया होता है । पहले प्रकार में तो उत्पत्ति स्थिति नाश आदि वस्तु के पर्यायों में से किसी एक पर्याय पर से दूसरे पर्याय पर चित्त जाता था, जब कि इसमें इनमें से किसी एक ही पर्याय पर चित्त स्थिर हो जाता है ।

‘अविचार’ : इतना ही नहीं, पहले प्रकार में चित्त अर्थ पर से शब्द पर या योग पर विचरण वाला याने संक्रमण वाला था, पर यहां अर्थ का व्यंजन या योग में संक्रमण नहीं होता । जिस किसी एक पदार्थ या शब्द या योग पर मन में लीनता हुई वही हो गई । ऐसी चित्त की अत्यन्त स्थिरता होती है ।

एकत्व वितर्क : इसमें 'एकत्व' याने अभेद से चिन्तन होता है । ('मैं इस पदार्थ का चिन्तन करता हूँ' ऐसा ध्याता ध्येय और ध्यान का भेदानुभव नहीं, इन भेदों को अलग करने का अनुभव नहीं, पर अभेदानुभव याने तीनों की एकरूपता हो जाती है । ध्यान में विषय भी अलग प्रतीत नहीं होता, ध्यान से अपना ध्याता

निष्ठागमण काले केवलिणो दरनिरुद्ध जोगस्स ।

सुहमकिरियाऽनियट्ठं तइयं तणुकायकिरियस्स ॥८१॥

तस्सेव य सेलेसी-गयस्स सेलोव्व निप्पकंपस्स ।

वोच्छिन्नकिरियमप्पडिवाइ ज्ञाणं परमसुक्कं ॥८२॥

अर्थः—जब मोक्ष प्राप्ति का समय निकट हो, तब केवलज्ञानी को (मनो योग वचन योग का सर्व निरोध करने के बाद) काययोग आधा निरुद्ध हो जाने पर सूक्ष्मकाय क्रिया रहने पर सूक्ष्म क्रिया अनिवर्ती नामक तीसरा ध्यान होता है। उनको ही शैलेशी पाने पर मेरु की तरह बिलकुल स्थिर (निश्चल आत्म प्रदेश) होने पर व्युच्छिन्न क्रिया अप्रातिपाती नामक चौथा शुक्ल ध्यान होता है।

आत्मा भी अलग प्रतीत नहीं होता।) ऐसा ध्यान भी पूर्वगत श्रुत के आलम्बन से अर्थात् श्रुत में कथित पदार्थ पर होता है। इसे 'एकत्व वितर्क अविचार ध्यान' कहते हैं। वह अभेद से अर्थ या व्यंजन (शब्द) के विचरण रहित याने संक्रमण रहित ध्यान है।

(३-४) तीसरे चौथे शुक्ल ध्यान का समय

अब किस अवस्था में तीसरा चौथा शुक्ल ध्यान होता है वह कहते हैं—

विवेचन :

पहले दो शुक्ल ध्यान करने के बाद उनके अन्त में केवल ज्ञान प्राप्त होता है, आत्मा सर्वज्ञ बननी है। वहां उन्हें ३३वां 'सयोगी-केवली' गुणस्थानक प्राप्त होता है। अब बाद का लगभग सभी आयुष्यकाल इस गुणस्थानक पर बिताते हैं। सिर्फ जब आयुष्य-काल की समाप्ति होने वाली हो और मोक्ष पाने की अत्यन्त निक-

टता आ गई हो, तब वे योगनिरोध की क्रिया करते हैं। इसमें काययोग से मनोयोग और वचनयोग का सर्वथा निरोध कर लेने के बाद जब काययोग भी करीब आधा निरुद्ध हो जाता है और मात्र सूक्ष्म श्वासोच्छ्वास जैसी सूक्ष्म काय-क्रिया ही रह गई हो, वहां 'सूक्ष्म त्रिया अनिवर्ती' नामक तीसरा शुक्ल ध्यान आता है।

अनिवर्ती: संपूर्ण आत्मस्थिता की ओर जाने वाले अत्यंत प्रवर्धमान परिणाम से अब निवृत्त नहीं होने वाली अर्थात् सूक्ष्म में से बादर में नहीं आने वाली सूक्ष्मकायक्रिया को सूक्ष्म क्रिया अनिवर्ती कहते हैं। यह अवस्था ही ध्यान है जिसे तीसरा शुक्ल-ध्यान कहते हैं। यहां मन ही न होने से मन की एकाग्रता नहीं होती, तब भी इसे ध्यान क्यों कहा, यह आगे बतायेंगे।

यह ध्यान क्षण भर रहने के बाद यह सूक्ष्म काययोग अवस्था भा बन्द हो जाती है। क्योंकि आत्मप्रदेशों को सर्वथा स्थिर निश्चल करने वाला अत्यन्त प्रवर्धमान पुरुषार्थ, बादर सूक्ष्म मनोयोग वचनयोग तथा बादर काययोग को बिलकुल रोक देने के बाद, अब सूक्ष्म काययोग को भी बिलकुल बन्द कर देने की तरफ आगे बढ़ रहा है। वह अब इस काययोग को सर्वथा रोक कर ही शांत होता है। यह सब १३वें गुणस्थानक के अन्तिम काल में होता है; जब कि १३वें गुणस्थानक का काल पूरा होते ही सर्वथा योगनिरोध आ कर खड़ा रह जाता है। यह होते ही १४वां 'अयोगी केवली' गुणस्थानक शुरू होता है।

अब सूक्ष्म काययोग-कायक्रिया भी नहीं है, अतः कोई भी योग नहीं है, अतः वे केवलज्ञानी अयोगि केवली बनते हैं। वहां 'व्यवच्छिन्न क्रिया अप्रतिपाती' (व्युच्छिन्न-व्युपरत क्रिया अप्रतिपाती) नामक चौथा शुक्लध्यान शुरू होता है। 'व्यवच्छिन्न क्रिया'

पठमं जोगे जोगेसु वा, मयं वितियमेकजोगंमि ।

तइयं च कायजोगे, सुक्कमजोगंमि य चउत्थं ॥८३॥

अर्थः—पहला शुक्लध्यान एक या सर्व योग में होता है । दूसरा एक (ही) योग में होता है, तीसरा (सूक्ष्म) काययोग के समय, और चौथा अयोगी अवस्था में होता है ।

याने सूक्ष्म काययोग का भी जहाँ सर्वथा उच्छेद हो गया है, ऐसी अवस्था में 'अप्रतिपाती' अर्थात् अटल (नहीं टलने वाले) स्वभाव वाली याने शाश्वत काल के लिए अयोग अवस्था कायम रहेगी ।

इस तरह से १३वें के अन्त में सर्वथा योगनिरोध हो जाने से मन-वचन काय-योग के कारण जो आत्म-प्रदेश स्पन्दनशील याने हलन चलन के स्वभाव वाले थे, वे अब बिलकुल स्थिर हो जाते हैं । अतः यहां आत्मा मेरु की तरह निष्प्रकंप-स्थिर हो जाती हैं । मेरु याने शैल (पर्वतों) का ईश शैलेश । शैलेश के जैसी स्थिर अवस्था यह शैलेशी अवस्था है । १३वां गुणस्थानक पूरा हो कर १४वें के प्रारम्भ में यह अवस्था प्राप्त होती है । अतः कहा जाता है कि शैलेशी अवस्था प्राप्त इस केवलज्ञानी महर्षि को मेरु की तरह स्थिर होने से परम शुक्लध्यान याने 'व्युच्छिन्न क्रिया अप्रतिपाती' नामक अन्तिम ४था शुक्लध्यान आता है ।

इस तरह चारों शुक्ल ध्यानों का वर्णन कर के अब उसी के सम्बन्ध में शेष कथन करते हैं ।

४. शुक्लध्यानों में योग

शुक्ल ध्यान के चार प्रकार बताये गये, इसमें पहला 'पृथक्त्व-वितर्क सविचार' एक मनोयोग आदि में होता है या तीनों योग में

जह छउमत्थस्स मणो ज्ञाणं भण्णइ सुनिच्चलो संतो ।
तह केवल्लिणो काओ सुनिच्चलो भण्णइ ज्ञाणं ॥८४॥

अर्थ:—जिम तरह से छद्मस्थ का मन सुस्थिर हो उसे ध्यान कहते हैं, वैसे केवलज्ञानी की काया का सुस्थिर होना ध्यान कहलाता है ।

होता है । यहां 'सविचार' याने संक्रमण वाला । योग से अर्थ में संक्रमण नहीं किंतु यदि योगान्तर में संक्रमण हो तो अनेक योग होते हैं अन्यथा एक ही योग होता है । अतः यहां एक अथवा अनेक योगों का सम्भव है । दूसरा 'एकत्वं वितर्कं अविचारं' ध्यान संक्रमण रहित होने से वह मात्र किसी भी एक ही योग में होता है । जिस मनोयोग या वचनयोग या काययोग में लोनता आ गई उसी योग में यह दूसरे प्रकार का ध्यान होता है । परन्तु तीसरा 'सूक्ष्म क्रिया अनिवर्त्ती' ध्यान केवल सूक्ष्म काययोग में ही होता है, क्योंकि वह ध्यान अन्य योगों के निरुद्ध हो जाने के बाद ही आता है । जब कि चौथा 'व्युच्छिन्न-क्रिया अप्रतिपाती' ध्यान तो अयाग अवस्था में ही होता है, क्योंकि समस्त यागों का सर्वथा निरोध हो जाने के बाद ही यह आता है । अतः यह ध्यान अयोग केवली को शैलेशी बनने पर होता है ।

मन बिना ध्यान कैसे होता है ?

अब ध्यान का विशेष अर्थ बताते हैं ।

विवेचन :

प्रश्न— केवलज्ञानी को होने वाले शुक्ल ध्यान के बाद के दो प्रकारों के समय तो मनोयोग ही नहीं है अर्थात् मन ही नहीं है, क्योंकि केवली अमनस्क होते हैं, तो फिर मन बिना ध्यान किस तरह से ? 'ध्यै चिन्तायाम्' पाठ से 'ध्यै' पर से बने हुए 'ध्यान'

पुष्पपुष्पओगओ चिय, कम्मविणिज्जरण-हेउतो वावि ।

सदत्थ - बहुत्ताओ, तह जिणचंदागमाओ य ॥८५॥

चित्ताभावे वि सया, सुहुमोवरय-किरियाइ भण्णंति ।

जीवोपयोग - सम्भावओ भवत्थस्स ज्ञाणाइं ॥८६॥

अर्थ:—(१) पूर्व प्रयोग के कारण या (२) कर्म निर्जरा का हेतु होने से भी, अथवा (३) शब्द के अनेक अर्थ होने से, तथा (४) जिनेन्द्र भगवान के आगम का कथन होने से सूक्ष्म क्रिया और व्युच्छिन्न क्रिया, अलबत्ता वहां चित्त न होने पर भा जीव का उपयोग-परिणाम (भाव मन) हाजिर होने से-भवस्थ केवली के लिए ध्यान स्वरूप कट्हाती है ।

शब्द का अर्थ तो मन से चित्तन होता है, पर मन रहित वह चित्तन-स्वरूप ध्यान कैसे हो सकता है ?

उत्तर - यहां 'ध्यान' शब्द का अर्थ निश्चलता लेने का है, चाहे वह मन की निश्चलता हो या चाहे काया की निश्चलता हो, परन्तु वे दोनों ध्यान स्वरूप ही है । इसमें जैय छद्मस्थ अर्थात् केवल-ज्ञानी नहीं बने हुए और ज्ञानावरणादि कर्म के उदय वाले जीव को मन-मनोयोग सुनिश्चल याने एक वस्तु पर स्थिर हो उसे ध्यान कहते हैं, इसी तरह केवलज्ञानी की काया-काययोग सुनिश्चल हो तो उसे ध्यान कहते हैं; क्योंकि दोनों में योग तो समान हैं । अतः यदि स्थिर मनोयोग ध्यान है, तो स्थिर काययोग भी ध्यान क्यों नहीं ?

अयोग अवस्था में ध्यान किस तरह से ?

चौथे प्रकार में ध्यान किस तरह होता है, यह कहते हैं ।

विवेचन :

प्रश्न— ठीक है, तीसरे शुक्ल ध्यान के समय सूक्ष्म काययोग होने से 'कायनिश्चलता'स्वरूप ध्यान होगा, परन्तु चौथे शुक्ल ध्यान के समय तो सर्व योगों का बिलकुल निरोध याने अयोगी अवस्था है, वहां काया को स्थिर करने का भी कार्य नहीं है, तो फिर ऐसी अवस्था में ध्यानरूपता किस तरह ? ध्यान शब्द का अर्थ यहां कैसे घटता है ? (घटित होता है ?) यदि निरुद्ध काययोग है, ऐसा कहते हो तो अन्य भी निरुद्ध योगों के होने की आगति उपस्थित होगी ।

उत्तर—अनुमान प्रयोग से इसमें ध्यानरूपता सिद्ध होती है । अनुमान में पक्ष, साध्य, हेतु, दृष्टान्त चाहिये, तो यहां चार हेतुओं से अनुमान प्रयोग इस तरह होता है:—

‘भवस्थ केवली की सूक्ष्म क्रिया और फिर बाद की व्युपरत क्रिया ये दोनों ध्यानस्वरूप हैं ।’ क्यों कि जीवोपयोग होने के साथ (१) पूर्व प्रयोग होने से, (२) कर्मनिजग का हेतु होने से, (३) शब्द के अनेक अर्थ होने से, तथा (४) जिनचन्द्र का आगम-कथन होने से इसमें ‘दो अवस्था’ पक्ष हैं ‘ध्यानरूपता’ साध्य है और अन्य ४ हेतु हैं ।

स्पष्टता : काययोग का निरोध करने वाले सयोगी केवली को या शैलेशी वाले अयोगी केवली को अलवृत्ता चित्त याने मनोयोग नहीं है, द्रव्य मन नहीं है तब भी उन्हें क्रमशः जो सूक्ष्म क्रिया अनिवर्ती तथा व्युपरत क्रिया अप्रतिपाती अवस्था है वह निम्न कारणों से ध्यान कहलाती है:—

(१) **पूर्व प्रयोग होने से :** इसका दृष्टान्त कुम्हार के चक्र का भ्रमण है । जिस तरह से चक्र घुमाने वाले दण्ड की क्रिया बन्द होने के बाद भी दण्ड के पूर्व प्रयोग के कारण बाद में

दण्ड के बिना भी चक्र भ्रमण चालू रहता है; इसी तरह मनोयोग आदि का निरोध होने पर भी आत्मा का ज्ञानोपयोग चालू है और भावमन है इसलिए वह ध्यानरूप है।

प्रश्न— यों तो मोक्ष जाने के बाद में भी केवलज्ञान का तो उपयोग होता है तो क्या वह ध्यानरूप गिना जावेगा ?

उत्तर नहीं ध्यान तो कर्मक्षय करने वाला एक कारण है। मोक्ष में यह कर्मक्षय रूप कार्य करना शेष नहीं रहता, इससे वहां कारण भी नहीं होता, जब कि १४वें गुणस्थानक में तो अभी कर्म बाकी है, उनका क्षय करने वाली जोवापयोग-अवस्था को कारणस्वरूप ध्यान रूप कह सकते हैं।

(२) कर्म निजरा का कारण होने से : भवस्थ केवली की सूक्ष्म क्रिया व व्युच्छिन्न क्रिया की अवस्था को ध्यान कहते हैं। इसका दृष्टान्त क्षपक-श्रेणी है। जैसे क्षपक-श्रेणी में घाती कर्मों का क्षय करने वाला पृथक्त्व-वितर्क-सविचार आदि ध्यान हैं, वैसे ही यहां अघाती कर्म का क्षय करने वालो उक्त दोनों अवस्था को ध्यान रूप कहा जा सकता है !

(३) शब्द के कई अर्थ होने से : एक ही शब्द के कई अर्थ हो सकते हैं। इसलिए यहां 'ध्यान' शब्द का अर्थ उपयोग करने का विरोध नहीं है। उदा० 'हरि' शब्द के इन्द्र, बन्दर... आदि अनेक अर्थ होते हैं। इसी तरह (१) 'धैर्य चिन्तायां' (२) 'धैर्य काय-निरोधे' ३) 'धैर्य अयोगित्वे' आदि अनेक धात्वर्थ से 'धैर्य' पर से बने ध्यान शब्द के स्थिर चिन्तन^१, कायनिरोध^२, अयोगी अवस्था^३ इत्यादि अर्थ हो सकते हैं। इससे सूक्ष्म क्रिया-व्युपरत-क्रिया की अवस्था को ध्यान कह सकते हैं।

(४) जिनचन्द्र का आगम वचन होने से : इससे भी यह अवस्था ध्यान कहलाती है। 'जिन' याने वीतराग

केवलज्ञानी, उनमें भी चन्द्र' जैसे श्री तीर्थकर भगवन्त हैं। उनके आगम-शास्त्र आर्त्ता आदि ४ प्रकार के ध्यान तथा उनमें भा शुक्ल-ध्यान के ४ भेद बताते हैं। अतः जिनागम वचन पर से भी शुक्ल-ध्यान के पीछले दो भेद ध्यानरूप सिद्ध होते हैं।

प्रश्न— क्या आगम कहता है इसलिए मान लेना चाहिये ? तर्क से सिद्ध हो उसे ही तो मानना चाहिये न ?

उत्तर - नहीं अतीन्द्रिय पदार्थ की सिद्धि केवल तर्क के बल पर नहीं हो सकती। कहा है:—

आगमश्चोपपत्तिश्च सम्पूर्णं दृष्टि-लक्षणम् ।

अतीन्द्रियाणामर्थानां सद्भावप्रतिपत्तये ॥

अर्थात् — अतीन्द्रिय पदार्थों याने बाह्य इन्द्रियों से जो ग्राह्य नहीं हैं वैसे पदार्थों के यथार्थ ज्ञान के लिए आगम और तर्क दोनों चाहिये। ये दोनों मिल कर सम्पूर्ण पदार्थ दृष्टि पदार्थ बोधदायक बन सकते हैं अकेले तर्क से तो अतीन्द्रिय पदार्थ की सामान्य रूप से सिद्धि होती है किन्तु उसके अवांतर विशेष तो जिसने प्रत्यक्ष देखा हो ऐसे आप्तपुरुष से व उनके वचन से ही जाना जा सकता है। उदा० बाहर दिखाई देने वाले धुंए पर से घर के अन्दर अग्नि होने का अनुमान होता है वह सामान्य रूप में हुआ। परन्तु वह अग्नि कितने प्रमाण में है, कैसे काष्ठ आदि का है, उसकी ज्वाला कैसी है.... इत्यादि बातें अनुमान से नहीं जानी जा सकतीं। यह तो अन्दर बैठा हुआ व्यक्ति ही प्रत्यक्ष देख सकता है और उसके वचन से बाहर वाला जान सकता है। ऐसा ही आत्मा, कर्म, ध्यान आदि अतीन्द्रिय पदार्थों के बारे में है। इससे सर्वज्ञ वचन से ही उसकी विशेषताएं जानी जा सकती हैं। इसे यदि वह कहते हैं कि सूक्ष्म-क्रिया अनिवर्ती और व्युपरत क्रिया अप्रतिपाती दोनों ध्यान रूप है,

तो हमें उस प्रकार से मानना चाहिये । वस्तु का सम्पूर्ण दर्शन करने के लिए आगम और तर्क दोनों जरूरी हैं । अतः सर्वज्ञागम का कहा हुआ मानों तभी अतीन्द्रिय पदार्थ बराबर समझे हुए गिने जायेंगे ।

इससे यह सिद्ध होता है कि भवस्थ सयोगी या अयोगी केवल-ज्ञानी को यद्यपि मन नहीं है, तो भी उनको ज्ञानदर्शनोपयोग है, इससे उनकी यह सूक्ष्म क्रिया तथा व्युपरत क्रिया ये दोनों अवस्था ध्यानस्वरूप हैं ।

यहां 'कम्मनिज्जरणहेतुतो वा वि' कहा है, उसमें 'वा वि' याने चाऽपि' में 'च' तथा 'अपि' शब्द आये वहां 'व' शब्द से पूर्व के हेतु पर अनुपपत्ति याने प्रश्न की सम्भावना सूचित की और अपि शब्द से प्रस्तुत हेतु से समाधान सूचित किया । उदा० पहला हेतु 'पूर्वप्रयोग' बताया । उस पर प्रश्न खड़ा होता है कि 'जीव का ज्ञानोपयोग दण्ड रहित चक्र भ्रमण जैसा अल्पजीवी नहीं है वह तो वह तो मोक्ष होने के बाद भी कायम रहता है । तो क्या मोक्ष में भी ध्यान होने का कहोगे ?' इस प्रश्न का समाधान दूसरे 'कर्म निज्जरण हेतु' से मिलता है । पूर्व प्रयोग उपरान्त कर्म निर्जरा क्रिया करने का कार्य मोक्ष में नहीं होता और यहां सूक्ष्म-व्युपरत क्रिया से होता है, अतः इसे ही ध्यान कहा जावेगा, पर मोक्ष के ज्ञानोपयोग को नहीं ।

यहां इस बात पर भी यह प्रश्न होगा कि कर्म निर्जरा तो सूक्ष्म क्रिया के पहले भी चालू है, तो क्या समग्र ११वें गुणस्थानक को ध्यान अवस्था कहोगे ? तो इसके समाधान के लिए तीसरा हेतु 'शब्दार्थ बहुत्व' रखा । इससे सूचित किया कि 'धै' शब्द का 'एकाग्र चिन्तन', 'योगनिरोध' और 'अयोगित्व' आदि ही होने से योगनिरोध ध्यान बनता है, पर योगनिरोध के पूर्व की अवस्था

सुकृज्ज्ञाण-सुभाविचित्तो चिंतेद् ज्ञाण-विरमेवि ।

णिययमणुप्पेहाओ चत्तारि चरित्त - संपन्नो ॥८७॥

अर्थ:—शुक्ल ध्यान से चित्त को जिसने अच्छी तरह भावित किया है वह चारित्र सम्पन्न आत्मा ध्यान बन्द होने पर भी अवश्य ही चार अनुप्रेक्षा का चिन्तन करे ।

ध्यान रूप नहीं गिनी जायगी । पुनः इस पर भी यह प्रश्न सम्भवित है कि 'ध्या' का अर्थ इतना ही क्यों?' तो उसके समाधान में 'जिनेन्द्र आगम' नामक चौथा हेतु कहा । सर्वज्ञ वचन अन्तिम प्रमाण है । (इसीलिए रात्रिभोजन-त्याग को प्रमाण-सिद्ध करने में अनेक हेतु बताने के बाद अन्त में यही प्रमाण दिया जाता है कि जिनेश्वरदेव की आज्ञा है कि रात्रिभोजन नहीं करना, इससे उसका त्याग 'जिनाज्ञा' प्रमाण से सिद्ध है ।)

'ध्यातव्य' द्वार का विवेचन हुआ । अब 'ध्याता' द्वार में 'शुक्ल ध्यान के ध्याता कौन?' की बात आती है परन्तु धर्म-ध्यान के अधिकार में वह साथ में ही कह दिया गया है; अतः अब उसके बाद के 'अनुप्रेक्षा' द्वार का वर्णन करते हैं ।

शुक्ल ध्यान में अनुप्रेक्षा

विवेचन :

'चारित्र-सम्पन्न महात्मा शुक्ल ध्यान में चढ़े हो', और वह ध्यान है अतः सतत अन्तर्मुहूर्त से ज्यादा नहीं टिक सकता, तो प्रारम्भ किये हुए ध्यान के अन्तर्मुहूर्त में बन्द होने पर उनके चित्त का क्या व्यापार चलता है?' यह प्रश्न उठ सकता है । उसके जवाब में कहते हैं कि वह महात्मा अवश्य अनुप्रेक्षा का चिन्तन करने वाला हो । इसका कारण यह है कि उन्हें 'ध्यान' है इसलिए

आसवदाराण तह संसारासुहाणुभावं च ।

भवसंताणमणन्तं वत्थूणं विपरिणामं च ॥८८॥

अर्थ:—आश्रवद्वारों (मिथ्यात्वादि) के अनर्थ, संसार के अशुभ स्वभाव, भवों की अनन्त धारा और (जड़-चेतन) वस्तुओं का परिवर्तन स्वभाव अशाश्वतता (नामक चार अनुप्रेक्षा हैं ।)

मात्र एकाग्र चिन्तन करके नहीं रह गये किन्तु उससे अपने आत्मा को 'सुभावित' याने अच्छी तरह से भावित किया है, चिन्तन के रंग से खूब रंग दिया है । इससे एकाग्र ध्यान पूरा हुआ तो तुरन्त अनुप्रेक्षारूप चिन्तन शुरू हो जाता है । सुभावितता के कारण मन आहट्ट दोहट्ट विचारों में नहीं जाता, परन्तु अब कहे जाने वाले आश्रव द्वार आदि चारों में से किसी एक के बारे में चिन्तन अनुप्रेक्षा प्रारम्भ हो जाती है । (पहले धर्मध्यान के बाद की अनुप्रेक्षा के बारे में भी यही कहा था कि धर्मध्यान से सुभावित होने के कारण ध्यान से विराम पा कर अनित्यादि बारह अनुप्रेक्षा में से किसी भी अनुप्रेक्षा में चढ़े । यह सूचित करता है कि जिनशासन में ध्यान केवल एकाग्र चिन्तन रूप ही नहीं, किन्तु साथ साथ आत्मा को भावित करने वाला होता है और इस तरह भावित होने का फल यह होता है कि ध्यान से रुक गये तो वह अनुप्रेक्षा चालू हो जाती है । वह करने से पुनः एकाग्रता हो कर ध्यान शुरू हो जाता है । इस तरह अन्तर के साथ ध्यान-सन्तति ध्यान-धारा चलती है । तात्पर्य कि ध्यान जीव को भावित करने वाला चाहिये और उसके रुकने पर अनुप्रेक्षा चालू होनी चाहिये ।)

शुक्ल ध्यान की ४ अनुप्रेक्षा

यहां शुक्लध्यान के विराम में आने वाली ४ अनुप्रेक्षा इस प्रकार से हैं:—

विवेचन :

शुक्लध्यानी को ध्यान बन्द होने पर (१) आश्रव द्वार के अनर्थ, (२) संसार-स्वभाव (३) भवों की अनन्तता, और (४) वस्तु परिवर्तन, ये चार अनुप्रेक्षा होती हैं। उन पर वे चिन्तन करते हैं। इसमें।

(१) आश्रवद्वार के अनर्थ में मिथ्यात्व, अविरति आदि आश्रव द्वार अर्थात् कर्मबन्ध के हेतु कौन से हैं, उनके सेवन के फलस्वरूप यहां और परलोक में कैसे कंप्ने दुःख आते हैं, कैसे अनर्थ उत्पन्न होते हैं?... का चिन्तन करे।

(२) संसार के अशुभ स्वभाव में चिन्तन करे कि धिक्कार है संसार के स्वभाव को कि (i) वह जीव के पास उसके अपने ही अहित की वस्तु का आचरण करवाता है! (ii) फिर इसमें सुख अल्प और वह भी आभास मात्र है, तब दुःख अनन्त! नरक निगो-दादि में दुःख का पार नहीं है! (iii) इसमें सम्बन्ध विचित्र होते हैं; पिता पुत्र होता है, माता पत्नी बनती है, मित्र शत्रु होता है.... इत्यादि। (iv) इसमें सर्व संयोग नाशवन्त हैं। अनुत्तरवासी देव जैसे को भी वहां से भ्रष्ट हो कर नीचे उतरना पड़ता है।... इत्यादि संसार के अशुभ स्वभाव का चिन्तन करे।

(३) भव की अनन्त परम्परा का विचार करे कि जीव यदि तीव्र राग द्वेष काम क्रोधादि में पड़ा तो नरकादि गतियों में अनन्त जन्म मरण कैसे करने पड़ते हैं।

(४) वस्तु के परिवर्तन (विपरिणमन) याने जड़ चेतन पदार्थों की अस्थिरता का चिन्तन करे कि 'सर्व स्थान अशाश्वत हैं, सर्व द्रव्य परिणामी हैं, परिवर्तनशील हैं, शाश्वत गिने जाने वाले बड़े मेरु जैसे में भी अणु गमनागमनशील हैं तो काया के विपरिणमन का तो पूछना ही क्या?'

सुककाए लेसाए दो, ततियं पुण परमसुकक लेसाए ।

थिरयाजियसेलेसं लेसाइयं परम सुककं ॥८९॥

अर्थ:—पहले दो ध्यान शुक्ल लेश्या में, तीसरा परम शुक्ल लेश्या में और स्थिरता गुण से मेरु को जीतने वाला चौथा शुक्ल ध्यान लेश्या रहित होता है ।

ये चारों 'अपाय-अशुभ-अनन्त-विपरिणामन' की अनुप्रेक्षा पहले दो शुक्ल ध्यान में ही होती है, पीछे के दो में नहीं । क्यों कि पहले दो शुक्ल ध्यान के वक्त मन होता है और उनमें ध्यान विचय होता है, इससे अनुप्रेक्षा याने चिंतन हो सकता है, पिछले दो ध्यान में तो केवलज्ञान होने से मन का व्यापार ही नहीं है, सिर्फ काययोग की निश्चलता है, इससे चिन्तन किस तरह से हो ? ये दो ध्यान तो शैलेशी प्राप्त करवा कर मोक्ष ही ला देते हैं तो फिर वहां अनुप्रेक्षा का मौका ही कहाँ रहा ?

यह 'अनुप्रेक्षा' द्वार हुआ ।

चारों शुक्लध्यान में लेश्या कैसी ?

अब 'लेश्या' द्वार कहते हैं:—

विवेचन :

पहले दो शुक्लध्यान जीव शुक्ललेश्या में होता है, तब होते हैं । इससे नीचे की लेश्या हो वहां परमाणु आदि का एकाग्र चिन्तन करे, तो वह शुक्ल ध्यान रूप नहीं बन सकता । यह सूचित करता है कि ऊँचे ध्यान का उच्च लेश्या के साथ सम्बन्ध है । मानसिक लेश्या यदि किसी अशुभ रागादि वाली हो तो वह नीची लेश्या है, उसमें उच्च ध्यान नहीं हो सकता ।

अवहा संमोह विवेग विउसग्गा तस्स होंति लिंगाई ।
 लिंगिज्जइ जेहिं मुणी सुक्कज्झाणोवगय - चित्तो ॥९०॥
 चालिज्जइ बीभेइ य धीरो न परीसहो वसग्गेहिं ।
 सुहुमेसु न संमुज्झइ भावेसु न देवमायासु ॥९१॥
 देह विवित्तां पेच्छइ अप्पाणं तह य सव्वसंजोगे ।
 देहोवैहिवोस्सग्गं निस्संगो सव्वहा कुणई ॥९२॥

अर्थ: अवध. असंमोह, विवेक, व्युत्सर्ग ये शुक्लध्यानी के लक्षण हैं, जिन से शुक्लध्यान में चढ़े हुए चित्त वाले मुनि पहचाने जाते हैं । (१) परीसह उपमर्गों से ये धीर मुनि न चलायमान होते हैं, न भयभीत ही होते हैं । (२) न वे सूक्ष्म पदार्थों से मोहित होते या न देवमाया से विचलित होते हैं । (३) अपने आत्मा को देह से बिलकुल भिन्न तथा सर्व संयोगों से भिन्न देखते हैं और देह तथा उपधि को सर्वथा निस्संगरूप से त्याग करते हैं ।

तीसरा शुक्ल ध्यान केवलज्ञानी को तेरहवें गुणस्थानक के अन्त के समय होता है । वहां परम याने उत्कृष्ट शुक्ल लेश्या होती है । अर्थात् तीसरा शुक्लध्यान परम शुक्ल लेश्या में कहा जाता है । यहां लेश्या मानसिक नहीं होती, क्योंकि मन का कोई व्यापार नहीं है, किन्तु योगान्तर्गत परिणामरूप लेश्या है ।

(४) इसीलिए चौथा शुक्लध्यान लेश्या रहित होता है, क्योंकि यहां तो योगदशा में से आगे बढ़ कर सर्वथा योगनिरोध-अवस्था यानी 'शैलेशी' प्राप्त की जाती है । इसमें की गई आत्म-प्रदेशों की स्थिरता मेरु की निष्प्रकंपता को भी जीतने वाली होती है, मेरु की स्थिरता से भी ज्यादा स्थिरता होती है । मेरु यों तो स्थिर; शाश्वत काल के लिए निष्प्रकंप है, परन्तु उसमें से अणुओं का गमनागमन चालू है;

लेकिन सर्वथा योगनिरोध किये गये आत्मा के प्रदेशों में लेश मात्र भी हल चल नहीं होती । यहां योग नहीं है अतः योगान्तर्गत पुद्गल-परिणाम रूप लेश्या भी नहीं होती । अतः यहाँ लेश्या रहित अलेशी अवस्था है । इसमें 'व्युपरत क्रिया अप्रतिपाती' नामक चौथा शुक्ल-ध्यान होता है । यह लेश्या द्वार हुआ ।

शुक्ल ध्यान के ४ लिंग

लिंग द्वार का विवरण करने की इच्छा से लिंगों के नाम, प्रमाण, स्वरूप व गुण की भावना करने के लिए कहते हैं अर्थात् शुक्ल ध्यानी के लिंग^१ कौन कौन से हैं ? प्रत्येक कितने^२ प्रमाण में या कितने ऊंची कक्षा वाले तथा लिंगों का स्वरूप^३ कैसा कैसा होता है और उनके ४ गुण क्या है, प्रभाव क्या है ? आदि बताते हैं ।

विवेचन :

शुक्ल ध्यान में चित्त लगा हो ऐसे मूनि को पहचान ने के लिए ४ लिंग होते हैं : अवध, असंमोह, विवेक तथा व्युत्सर्ग । 'अवध' याने अचलता, 'असंमोह' याने मोहित न होना या व्यामोह में न पड़ना, 'विवेक' याने पृथक्ता का भान तथा 'व्युत्सर्ग' याने त्याग । किसी को शुक्ल ध्यान होने का इन चार लिंगों से पता चलता है । चारों का स्वरूप निम्न प्रकार से है :—

(१) अवध : धीर याने बुद्धिमान या स्थिर शुक्ल ध्यानी मुनि चाहे जैसे क्षुधा, पिपासा, शीत, उष्ण, आदि परिसर्गों से या किसी देवादि की तरफ से मरणान्त उपसर्ग या उपद्रव आने पर जरा भी चलित या विचलित नहीं होते, ध्यान भंग नहीं करते, डरते नहीं या भयभीत नहीं होते । इतनी अधिक निडरता तथा अडिगता शुक्ल ध्यान के समय होती है ।

(२) **असंमोह** : शुक्ल ध्यान के समय 'पूर्व' गत सूक्ष्म पदार्थ पर एकाग्रता होती है। तो वहां चाहे जितना गहन पदार्थ हो, तब भी चित्त ध्यामोह में नहीं पड़ता, मोहित नहीं होता कि उदा० 'ऐसा कैसे होगा ?' आदि। वे इतने ज्यादा प्रमादरहित और श्रद्धा सम्पन्न होते हैं। फिर अनेक प्रकार की देवमाया आवे, परीक्षा के लिए देवता ऐसे किसी अनुकूल या प्रतिकूल इन्द्रजाल की रचना करे ती भी वे उससे जरा भी विचलित नहीं हाते।

(३) **विवेक** : शुक्लध्यानी अपनी आत्मा को देह से बिलकुल भिन्न देखता है। इसीलिए देह के मान अपमान आक्रोश वध आदि परिसर्गों को अपने पर के समझते ही नहीं; तो फिर उन्हें इनका मन दुख कहां से ? जिससे उसमें मन को ले जाकर ध्यान-भंग तो हो ही कहां से ? देह की तरह सर्व संयोगों को भी अपने से बिलकुल भिन्न ही देखते हैं, अतः इस हिसाब से भी मन ध्यान में से चलित नहीं होता। गजसुकुमाल मुनि के सिर पर सोमिल श्वसुर ने मिट्टी की पगड़ी बांध कर उसमें जलते हुए अंगारे रखे, पर महामुनि ने पहले से ही ऐसी गिनती रखी कि 'जलता है (शरीर या सिर) वह मेरा नहीं है और मेरा है वह (ज्ञान दर्शन चारित्र्य) जलता नहीं है।' इसी गिनती पर क्रोध से भरे हुए व अपने को जलाने का काम करने वाले सोमिल का संयोग भी अपने से बिलकुल भिन्न माना याने 'अपनी ज्ञानादि-सम्पन्न आत्मा को उससे कुछ भी लेना देना नहीं है। वे संयोग अपना कुछ भी बिगाड़ने वाले नहीं हैं।' ऐसा मान लिया। जो ध्यान हुआ उसके भंग होने का कोई अवसर या मौका ही न हुआ, उसकी जगह भी न रही। इससे इस ध्यान पर स केवलज्ञान प्राप्त किया और वहीं बाकी के दो शुक्लध्यान तथा शैलेशी कर के सर्व कर्म खपा कर मोक्ष प्राप्त किया।

(४) **व्युत्सर्ग** : शुक्ल ध्यानी का परिचय कराने वाली

होंतिसुहासव संवर विणिज्जराऽमरऽसुहाइं विउलाइं ।

झाणवरस्स फलाइं सुहाणुबंधीणि धम्मस्स । ९३॥

अर्थ:— उत्तम ध्यान 'धर्म ध्यान' के फल विपुल शुभ आश्रव, संवर निजंरा ओर दिव्य सुख होते हैं, ये भी शुभ अनुबन्ध वाले ।

एक विशेषता यह है कि वह शरीर तथा उपधि से बिल्कुल निःसंग बनकर उसका सर्वथा व्युत्सर्ग याने त्याग करता है । 'विवेक' में शरीर आदि बिल्कुल अलग माने तथा व्युत्सर्ग में उनका ममत्व छोड़ दिया, उसे बिसरे कर दिया ।

प्रश्न— शुक्ल ध्यान में ही शरीर आदि का व्युत्सर्ग किया तो फिर केवलज्ञान होने के बाद वे शरीरादि कैसे रख सकते हैं ?

उत्तर—वे शरीर को राग ममत्व आसंग से रखते ही नहीं है, क्यों कि अब तो वे वीतराग बन चुके होने से शरीरादि पर उनको लेश मात्र भी रागादि होता ही नहीं । तब भी शरीरादि जो रहता है, वह तो निरूपक्रम आयुष्य आदि कर्म का संचालन है । बाकी वीतराग केवलज्ञानी शरीर आदि इच्छा से व राग से रखते ही नहीं है ।

यह लिंग द्वार पूरा हुआ । अब 'फल' द्वार कहते हैं ।

धर्म ध्यान के फल

यहां लाघव के लिए पहले कहा वैसे धर्मध्यान का फल कहकर बाद में शुक्लध्यान का फल कहते हैं । इसमें लाघव यह है कि पहले दो शुक्लध्यान का फल तो जो धर्मध्यान का फल है वही है, पर वह विशेष शुद्ध होता है । अतः धर्मध्यान के फल पहले बता दिया हों तो फिर शुक्लध्यान के लिए पूर्व निर्देश ही करना रहा याने 'यही पूर्व निर्दिष्ट फल', पर पुनः नाम के साथ सभी फल

नहीं कहने पड़ेगे, यही लाघव । इस गिनती से पहले धर्मध्यान का फल कहते हैं ।

विवेचन :

ध्यान में प्रधान धर्मध्यान के फल में (१) विपुल शुभाश्रव, (२) संवर, (३) निर्जरा और (४) दिव्यसुख निष्पन्न होते हैं । इन फलों की उत्पत्ति स्वाभाविक है । शुभाश्रव याने पुण्य का बंध । 'जं जं समयं जीवो....' के अनुसार धर्मध्यान शुभ भाव होने से इससे शुभकर्म 'पुण्य' का बन्ध हो, यह स्वाभाविक है । साथ ही अशुभ भाव के अभाव में संवर याने अशुभ कर्म का निरोध या रुकावट होती है, यह भी स्वाभाविक है । फिर धर्मध्यान से कर्म की 'निर्जरा' याने क्षय होना भी स्वाभाविक है; क्योंकि वह आम्यन्तर तप है और तप यह निर्जरा का कारण है । उसी तरह धर्मध्यान से बांधे हुए पुण्य कर्म से दैवी सुख मिलें वह भी स्वाभाविक है ।

यह शुभ पुण्य आदि 'विपुल' याने विस्तृत रूप से उत्पन्न होता है याने दीर्घ कालस्थिति और विशुद्धि वाले पैदा होते हैं । पुण्य बंध भी वैसा ही होता है और भी विपुल होता है तथा निर्जरा भी विस्तृत होती है । कर्मों की दीर्घ स्थिति का क्षय होता है तथा दैवी सुख भी दीर्घ काल के तथा विशुद्धी वाले याने संक्लेश रहित उत्पन्न होते हैं ।

फिर धर्म ध्यान के ये फल शुभ अनुबन्ध वाले होते हैं अर्थात् परम्परा चलाने वाले होते हैं । इससे पुनः अच्छे कुल में जन्म मिलता है, पुनः 'बोधिलाभ', जैन धर्म की प्राप्ति होती है और असाक्लष्ट भोग मिलते हैं कि जिसमें जीव कमलपत्र की तरह निर्लेप रहता है, प्रव्रज्या मिलती है और परम्परा से केवलज्ञान तथा मोक्ष तक पहुँच सकते हैं । धर्मध्यान शुभानुबन्धी होने से ऐसी शुभ

ते य विसेसेण सुभासवादओणुत्तरामरसुहाइं च ।

दोण्हं सुक्काण फलं परिनिब्बाणं परिन्लाणं ॥९४॥

अर्थः—यही विशिष्ट रूप के शुभ आश्रव आदि और अनुत्तर देवलोक के सुख पहले दो शुक्ल ध्यान का फल है और अन्तिम दो का फल तो मोक्षगमन है ।

परम्परा तक पहुँचाने वाले पुण्य-बन्ध आदि फल को उत्पन्न करते हैं ।

शुक्ल ध्यान के फल

अब शुक्ल ध्यान के फल कहते हैं:—

विवेचन :

शुक्ल ध्यान में से पहले दो शुक्ल ध्यान 'पृथक्त्व वितर्क सविचार' और 'एकत्व वितर्क अविचार' ध्यान के फल पूर्वोक्त शुभाश्रव आदि हैं परन्तु वे विशिष्ट स्वरूप के उत्पन्न होते हैं । अर्थात् अद्भुत उच्चकोटि के पुण्य-बन्ध, कर्म-निर्जरा आदि होते हैं । इसमें देवी सुखों में सबसे ऊँचे अनुत्तर विमानवासी देवलोक के सुख उत्पन्न होते हैं । उपशम श्रेणी में चढ़े हुए मुनि शुक्लध्यान से ऐसी फलोत्पत्ति के अनुसार, श्रेणी से गिरते हुए आयुष्य पूर्ण होने पर, अनुत्तर विमान में जन्म लेते हैं ।

अन्तिम दो शुक्ल ध्यान तो केवलज्ञानी को होते हैं । अतः इससे तो सर्व कर्म-क्षय होने के कारण फल के रूप में मोक्ष-गमन होता है ।

यह तो धर्मध्यान व शुक्लध्यान के विशेष फल हैं, पर सामान्यतः ये दोनों ध्यान संसार के प्रतिपक्षी (विरोधी) हैं अर्थात् संसार उत्पन्न नहीं करते ।

आसवदारा संसार-हेअवो; जं ण धम्मसुक्केसु ।

संसार कारणाइं; तओ धुवं धम्मसुक्काइं ॥९५॥

अर्थः--आश्रव के द्वार संसार के हेतु हैं । ये संसार हेतु धर्म-ध्यान व शुक्लध्यान में नहीं होते अतः धर्म-शुक्ल-ध्यान अवश्य संसार के प्रतिपक्षी हैं ।

धर्म-शुक्ल-ध्यान संसार प्रतिपक्षी कैसे ?

विवेचन :

संसार के हेतु इन्द्रिय, कषाय, अव्रत आदि आश्रव द्वार हैं । धर्म और शुक्लध्यान में ये संसारवर्धक हेतु नहीं होते हैं । क्योंकि वहां कोई इन्द्रिय-आसक्ति नहीं है, अप्रशस्त कषाय नहीं है, अविरति नहीं हैं, अशुभ योग नहीं है । ये संसारवर्धक हेतु न होने से धर्म-ध्यान व शुक्लध्यान स्वाभाविक ही संसार नहीं बढ़ाते । अतः वे अवश्य संसार के प्रतिपक्षी या विरोधी हैं । जहां धर्म-शुक्ल-ध्यान वहां संसार-उत्पत्ति नहीं । यदि संसार बढ़ाने की इच्छा नहीं है यानी अनिच्छा है तो ये ध्यान उसके अनन्य साधन हैं ऐसा समझ रखना चाहिये । तात्पर्य, सब धर्मसाधना की जाए, किन्तु यह प्रत्येक साधना धर्मध्यान से अन्वित होनी ही चाहिए । आगे बढ़ कर शुक्ल-ध्यान लाना ही चाहिए । तभी मोक्ष होगा ।

शुक्ल-ध्यान संसार का प्रतिपक्षी होने से मोक्ष का कारण है, यह बताते हुए कहते हैं --

संवर-विणिज्जराओ मोक्खस्स प्हो, तवो प्हो तासिं ।

झाणं च पहाणंगं तवस्स, तो मोक्खहेऊयं ॥९६॥

अर्थ:—मोक्ष का मार्ग संवर और निर्जरा है । इन दोनों का उपाय तप है । तप का प्रधान अंग ध्यान है । इससे यह ध्यान मोक्ष का हेतु है ।

विवेचन :

प्रश्न - मोक्ष का कारण तो संवर और निर्जरा है, क्योंकि संवर से नये कर्म रुकते हैं और निर्जरा से पुराने कर्म कटते हैं; अतः स्वतः ही अन्त में मोक्ष आ कर खड़ा रहता है । परन्तु ध्यान मोक्ष का कारण कैसे है ?

ध्यान मोक्ष कारण कैसे ?

उत्तर—मूल तो संवर और निर्जरा ही मोक्ष-मार्ग है । परन्तु संवर-निर्जरा का उपाय तप है । इसीलिए संवर के ५७ भेदों के अन्तर्गत क्षमादि १० यति धर्मों में नाम दे कर तप कहा एवं संवर के अन्य प्रकारों में कायकष्ट संलीनता आदि तप एक या दूसरे रूप में समाविष्ट होते ही हैं; उसी तरह निर्जरा के १२ भेदों में तो बाह्य व आभ्यन्तर तप है ही ।

इस तरह संवर अर्थात् कर्माश्रव-निरोध और, निर्जरा अर्थात् कर्मक्षय, उनका मार्ग तप है ।

अब तप का प्रधान अंग शुभ ध्यान है क्योंकि (१) तप के अन्य अनशन आदि अंगों में यदि ध्यान शुभ न हो तो वह तप रूप नहीं बनता; (२) एवं शुभ ध्यान से ही विशिष्ट कर्मनिर्जरा होती है, अतः तप का प्रधान अंग ध्यान है । इस तरह से मोक्ष साधनभूत

अंबर-लोह-महीणं कमसो जह मल-कलंक-पंकाणं ।

सोज्झा-वणयण-सोसे साहेति जलाणलाइच्चा ॥९७॥

तह सोज्झाइसमत्था जीवंबर-लोह-मेहणिगयाणं ।

झाण जलाणल-सूरा कम्ममल-कलंक-पंकाणं ॥९८॥

अर्थः--जिस तरह पानी अग्नि और सूर्य क्रमशः वस्त्र, लोहे और पृथ्वी के मैल कलक और कीचड़ का (यथासंख्य) शोधन, निवारण और शोषण करते हैं, उसी तरह ध्यान रूपी पानी अग्नि व सूर्य जीव स्वरूप लोहे, वस्त्र और पृथ्वी में रहे हुए कर्म स्वरूप मैल कलंक व पंक के शोधन आदि में समर्थ हैं ।

संवर निजरा का साधन ध्यान प्रधान तप होने से ध्यान मोक्ष का कारण बन जाता है ।

ध्यान से कर्म नाश के ३ दृष्टान्त

इसी वस्तु को सरलता से समझाने के लिए दृष्टान्तों द्वारा उसका प्रतिपादन करते हैं --

विवेचन :

कर्मसंयोग से संसार तथा कर्मवियोग से मोक्ष होता है । तो कर्मवियोग करवाने में ध्यान कितना अद्भुत काम करता है, वह दिखाने वाले ३ दृष्टान्त पानी अग्नि और सूर्य हैं । उनका स्वरूप इस तरह से हैः--

(१) जिस तरह पानी कपड़े के मैल का शोधन करता है, उसी तरह ध्यान रूपी पानी जीव रूपी वस्त्र के कर्म-मैल को साफ करता जाता है । अलबत्ता वस्त्र का मैल धोने में पानी के साथ क्षार आदि की जरूरत है, किन्तु पानी के बिना वे सब बेकार हैं;

तापो सोसो मेओ जोगाण झागओ जहा निययं ।

तह तावसोसभेया कम्सस्स वि झाइणो नियमा ॥९९॥

अर्थ:—जिस तरह ध्यान से मन वचन काया के योगों का अवश्य तपन, शोषण और भेदन होता है, उस तरह ध्यानी को कर्म का भी अवश्य तपन, शोषण, भेदन होता है

पानी हो तो ही क्षार आदि से मैला वस्त्र साफ होता है और कुछ तुरन्त के मैल दाग तो अकेले पानी से भी साफ हो जाते हैं। अतः यहां मुख्यतः पानी का ही दृष्टान्त लिया।

(२) जैसे खान में से निकले हुए लोहे के कलंक याने मिश्रित अन्य वस्तुएं अग्नि से गरम करने से दूर होती हैं, उसी तरह जीवरूपी लोहे में से कर्मकलंक ध्यान रूपी अग्नि से गरम हो कर दूर हो जाते हैं।

(३) इसी तरह जैसे पृथ्वी पर का कीचड़ वर्षा के पश्चात् धूल वाले रास्ते पर का कीचड़ सूर्य की गरमी से सूख जाता है, उसी तरह जीव रूपी पृथ्वी पर का कर्मकीचड़ ध्यान रूपी सूर्य की गरमी से गरम हो कर सूख जाता है।

इस तरह जीव पर चिपके हुए कर्ममैल को ढोला बनाकर साफ कर देने में ध्यान पानी का काम करता है; जीव में मिश्रित हो गये कर्म को जलाकर खतम करने में ध्यान अग्नि के समान है और जीव पर के कर्मकीचड़ को सुखाकर नष्ट करने के लिए ध्यान सूर्य के समान काम करता है।

ध्यान का योग और कर्म पर प्रभाव

ध्यान से कर्मनाश होता है इसमें योग का चौथा दृष्टान्त बताते हुए ध्यान का योग और कर्म पर प्रभाव बताते हैं:—

विवेचन :

मन वचन काया के योग आत्मप्रदेशों को कंपनशील रखता है, इससे आत्मा पर कर्म चिपकते हैं। आत्मा यदि स्थिर हो जाय, जैसे कि १४वें गुणस्थानक पर, तो फिर एक भी कर्मागु चिपक नहीं सकता। परन्तु इस स्थिरता के लिए योगों को रोक देना चाहिये। यह योगनिग्रह योगों के तपन, शोषण व भेदन से होता है। ध्यान इसके लिए अनन्य साधन है। ध्यान में एकाग्रता होने से योग अवश्य गरम हो कर तपते हैं, सूखते हैं और भेदे जाते हैं। अग्नि की गरमी से पानी तप कर हलका सूखने व उड़ने जैसा होता है; उसी तरह जमे हुए योग याने मन वचन काया की प्रवृत्तिशीलता ध्यान के ताप से तप्त हो कर हलकी बन कर ढाली हो कर सूखती जाती है और अन्त में भेदन हो कर उड़ जाती है।

यह सूचित करता है कि अनन्तानन्त काल से चली आती हुई यह मन वचन काया की दौड़ धूप ढीली करनी हो, कम करना हो, तो ध्यान का खूब सेवन करना चाहिये, तभी आत्मा को शान्ति मिलेगी, स्थिरता प्राप्त होगी।

जिस तरह ध्यान से योगों पर यह प्रभाव पड़ता है, उसी तरह ध्यान से कर्मों का भी तपन, शोषण भेदन अवश्य होता है। ध्यान आत्मा का उज्ज्वल स्थिर अर्धवसाय है, उसकी कर्मों को तपाकर, सुखाकर तोड़ डालने को तीव्र ताकत है। ध्यान बिना यों ही ये कर्म खिसकते नहीं हैं।

ध्यान कर्म रोग की चिकित्सा

ध्यान से कर्मनाश होता है उसमें पांचवां रोग व दवा का दृष्टान्त देते हैं —

जह रोगासयसमणं विसोसण विरेयणो सह विहीहिं ।

तह कम्मामयसमणं ज्ञाणाणसणाइ जोगेहिं ॥१००॥

जह चिरसंचियनिधणमनलो पवन सहिओ दुयं दहइ ।

तह कम्मैधणममियं खणेण ज्ञाणाणलो दहइ ॥१०१॥

अर्थ:—जि व तरह रोग के असल कारण का निवारण लघन, विरेचन तथा औषध के प्रकारों में होता है वैसे ही कर्मरोग का शमन-निवारण ध्यान अनशन आदि योगों से होता है ।

अर्थ:—जैसे हवा सहित अग्नि दीर्घकाल के भी एकत्रित किये हुए ईंधन को शीघ्र जलाकर भस्म कर देता है, वैसे ध्यान रूपी अग्नि भी क्षण भर में ही अग्रिमित कर्म-ईंधन को जला देता है ।

विवेचन :

बुखार आदि व्याधि आने पर वैद्य पहले असली निदान ढूँढते हैं, फिर वे मूल दोष को हटाने के लिए याने उखाड़ डालने हेतु दरदी को लघन करवाकर दोष को पक्व करते हैं, फिर विरेचन याने जुलाब दे कर उसको निकाल देते हैं और बाद में दूसरी औषधियाँ दे कर रोगों का बिलकुल निवारण करके आरोग्य प्राप्त करवाते हैं ।

इस तरह आत्मा पर बरसती हुई अनेकविध पीड़ाओं के मूल (जड़) में कर्म रोग है; उसका शमन निवारण ध्यान और अनशन आदि से होता है । यहां 'आदि' शब्द से ध्यान वृद्धि करने वाले दूसरे भी उनोदरिका, द्रव्य संकोच, आदि तप के प्रकार समझ लेना चाहिये । इन सबसे ध्यान वृद्धि होने से कर्म रोग का शमन होता है ।

ध्यान : कर्मेन्धन दाहक दावानल

छट्टा ईंधन अग्नि का दृष्टान्त है ।

जह वा घणसंघाया खणेण पवणाहया विलिज्जंति ।

झाणपवणावहूया तह कम्मघणा विलिज्जंति ॥१०२॥

अर्थ:—अथवा जिस तरह से हवा से उड़ाये जाने वाले बादलों का समूह क्षण भर में नष्ट हो जाता है वैसे ही ध्यान रूपी हवा से उड़ाये जाने वाले कर्म-बादल नष्ट हो जाते हैं ।

विवेचन :

लम्बे समय से काष्ठ घास आदि ईंधन इकट्ठा किया हो, उस पर अग्नि गिरे और साथ में हवा जोर से चलती हो, तो वह अग्नि इस ईंधन के ढेर को शीघ्र जला कर भस्म कर देता है । वैसे कर्म-रूपी ईंधन के लिए ध्यान ऐसा ही काम करता है । कर्म को ईंधन की उपमा इसलिए दी गई कि जैसे ईंधन जल उठने पर उसके संसर्ग में रहे हुए को दुःख तथा गरमी देता है, वैसे ही कर्म भी उदय से प्रज्वलित होने पर शारीरिक दुःख तथा मानसिक ताप संताप देने का कारण बन जाते हैं, इससे वे ईंधन जैसे हैं । वे असंख्य भवों के एकत्रित हो कर अनन्त वर्णण, स्वरूप अनन्त स्कन्ध स्वरूप बने हुए हैं, तब भी जब ध्यान रूपी अग्नि भभक उठता है कि तुरन्त ही क्षण भर में वह ढेरों कर्मों को जला कर भस्म कर देता है ।

क्या ध्यान में इतनी ज्यादा ताकत है ? हां, कारण यह है कि यह ध्यान राग द्वेष के अत्यन्त निग्रह के साथ मन की भारी स्थिरता वाला होता है इससे यह स्वाभाविक है कि राग द्वेष और मन की अशुभ चंचलता पर यदि ढेरों कर्मबन्ध होते हैं, तो उससे विरुद्ध स्थिति में ढेरों कर्मों का क्षय होगा, होना ही चाहिये ।

ध्यान-हवा से कर्म-बादल नष्ट

अब हवा से बिखरते हुए बादल का उवां दृष्टान्त कहते हैं:—

विवेचन :

अथवा ध्यान अग्नि की तरह ही हवा भी काम करता है। आकाश में बादलो का समूह छा गया हो परन्तु यदि हवा की आंधी शुरु हो जाय तो बादलों को बिखेर देती है, नष्ट कर देती है और आकाश स्वच्छ बन जाता है, उसी तरह आत्मा पर चाहे जितने कर्म आवरण छा गये हों, परन्तु यदि ध्यान रूपी हवा शुरु हो जाय तो उन कर्म आवरणों को नष्ट कर देती है और आत्मा स्वच्छ बन जाती है।

यहां कर्मों को बादल की उपमा इसलिए दी कि जैसे बादल सूर्य के प्रकाश को ढक देते हैं, आवृत्त कर देते हैं, वैसे ही कर्म जो व क ज्ञानादि स्वभाव को आवृत्त कर देते हैं। कहा है:—

स्थितः शीतांशुवज्जीवः प्रकृत्या भावशुद्धया ।

चन्द्रिकावच्च विज्ञानं तदावरणमभ्रवत् ॥

जीव आन्तरमल रहित भावशुद्ध स्वभाव वाला होने से चन्द्रमा के समान है और उसका ज्ञानगुण चन्द्रिका चन्द्रप्रकाश के समान है, तो उसे आच्छादित करने वाले कर्म बादलों जैसे हैं।

(जीव के इस मौलिक स्वच्छ ज्ञान स्वभाव को बार बार अंतर में भावित किया जाय; 'मैं आत्मा शुद्धस्वरूप में तो निर्मल ज्ञानमात्र स्वभाव वाला हूँ। इसमें कोई भी राग द्वेष आदि मूल मिश्रित नहीं है। वस्तु मात्र को सिर्फ जानना देखना ही मेरा स्वच्छ ज्ञानस्वभाव है।' यह भावना बार बार करके अन्तर को भावित किया जाय, तो ऐसे भावित हुए अन्तर में रागादि का प्रभाव कम होता जाता है।)

यह तो ध्यान के अतीन्द्रिय और पारलौकिक फल की बात हुई। परन्तु इस लोक में अनुभव में आने लायक कोई अन्य ध्यान-फल है? वह बताते हैं।

न कसाय समुत्थेहि य वाहिज्जइ माणसेहिं दुक्खेहिं ।

ईसा - विसाय - सोगाइएहिं झाणोवगयचित्तो ॥१०३॥

अर्थ:— ध्यान में लाए हुए चित्त वाली आत्मा कषायों से उत्पन्न होने वाले मानसिक दुखों ईर्ष्या, खेद, शोक आदि से पीड़ित नहीं होनी ।

ध्यान का प्रत्यक्ष फल

विवेचन :

चित्त जब शुभ ध्यान में लगा होता है, तो उसे ईर्ष्या विषाद शोक आदि किसी दुख की पीड़ा नहीं रहती ।

ईर्ष्या आदि ये मानव दुख हैं । किसी अन्य मनुष्य का उदय, उन्नति या बढ़ती देखकर मत्सर होता है, असहिष्णुता उठती है, मन जल उठता है, कहता है, 'इसे यह क्यों मिला ? यह कैसे व क्यों चढ़ गया ?' ऐसे चित्त जलता है, यही ईर्ष्या है । 'विषाद' याने खेद, बेचैनी । जरा सा भी अनिच्छित हुआ कि चित्त को ग्लानि व बेचैनी उद्वेग हो गया । शोक याने इच्छित वस्तु नष्ट होने पर या अनिच्छित वस्तु सिर पर पड़ने से दीनता आती है । 'हाय' होती रहती है । दिल रंक गरीब बनकर विलाप किया करता है, जलता रहता है । यहां शोकादि पद में आदि शब्द है । इससे हर्ष उन्माद जुगुप्सा भय आदि भी समझे जायं । ये ईर्ष्या-क्रोधादि कषाय में से उत्पन्न होते हैं । बढ़ती पाने वाले अन्य व्यक्ति को देखकर जीव को शांति नहीं रही, क्रोध भभक उठा, इससे फिर उस पर चित्त जलता है, ईर्ष्या, मत्सर असूया होती है । इसी तरह किसी वस्तु का लोभ है, तो उसके बिगड़ने या नष्ट होने पर चित्त बेचैन बन जाता है, खेद विषाद होता है । इसी तरह इच्छित वस्तु के प्रति लोभ ममता आसक्ति होने से वह बन आने पर हर्ष उन्माद होता है । मूल में

सीयायवाइएहिं य सारीरेहिं सुबहुप्पगारेहिं ।

झाणसुनिच्चलचित्तो न बहिज्जइ निजरापेही । १०४ ।

अर्थः—ध्यान से अच्छी तरह निश्चल (भावित) बने चित्त वाला शीत ताप आदि अनेकानेक प्रकार के शारीरिक दुःखों से खिंच नहीं जाता (उनसे पीड़ित नहीं होता, चलित नहीं होता) क्योंकि वह कर्म निर्जरा की अपेक्षा वाला है ।

कषाय होने से ही ये ईर्ष्यादि की वृत्तियाँ उठती हैं । ये कषाय ही नहीं तो यह वृत्ति नहीं । ये ईर्ष्यादि मानस दुःख हैं । मन इनसे पीड़ित होता है ।

प्रश्न — हर्ष से मानसिक पीड़ा क्या ? इसमें तो मन को आनन्द मंगल लगता है ।

उत्तर—शराबी शराब पीता है और उसे नशा चढ़ता है, इसमें ही उसे आनन्द मंगल लगता है, वह मस्ती का अनुभव करता है । परन्तु सचमुच में वह आनन्द नहीं है, पर चित्त की अस्वस्थता है, पागलपन है, नशा है । इसी तरह लोभ की वस्तु बन जाने पर, मिल जाने पर मन को एक प्रकार का नशा चढ़ता है, हर्ष का अनुभव होता है । किन्तु सचमुच में तो वह आनन्द नहीं है, पर चित्त की अस्वस्थता है, पागलपन है । पर को अपना मानना, अशुचि को शुचि मानना, सुखाभास में सुख मानना यह पागलपन नहीं तो दूसरा क्या कहा जाय ? तात्पर्य, हर्ष आदि वृत्तियाँ भी मन की अस्वस्थता हैं, पीड़ा हैं ।

चित्त शुभ ध्यान में पिरो देने से कषायों की शांति रहती है : इससे ईर्ष्या विषाद शोक आदि को उठने की जगह ही नहीं रहती अतः शुभ ध्यान करने वाले को इन मानसिक दुःखों से पीड़ित होने

का नहीं होता और इसी जीवन में प्रत्यक्ष मानसिक पीड़ा से बचने का लाभ मिलता है ।

ध्यान से शारीरिक दुःख में पीड़ा नहीं

अब शारीरिक पीड़ा से बचने का प्रत्यक्ष लाभ बताते हैं:—

ध्यान की धारा से जिसने चित्त को भावित कर दिया है ऐसा व्यक्ति ऐसी आत्मदृष्टि वाला बना हुआ होता है कि उसे ऋतु को सर्दी गर्मी या भूख, तृषा या आक्रोश प्रहार आदि शारीरिक दुःख आने पर भी वह दुखों का चिन्ता या उनके संताप में बह नहीं जाता, उसे उनकी कुछ भी पीड़ा नहीं लगती । (हो सकती है, पर होने पर भी नहीं लगती ।) अतः वह अपने ध्यान कार्य में इतना निश्चल रहता है कि उसमें से लेश मात्र भी चलित होने की बात नहीं होती । दुःख की वेदना तो होती है, पर उससे अल्प भी अरति या उद्वेग नहीं होता कि जिससे वह ध्यान में से चलित हो जाय ।

शारीरिक दुःखों से पीड़ित नहीं होने का कारण यह है कि वह आत्मा केवल कर्मक्षयार्थी है, उसे निर्जरा की अपेक्षा है, अभिलाषा है । उसने ध्यानादि साधना निर्जरा के लिए तो हाथ में ली है, तो फिर निर्जरा करवाने वाली शारीरिक आपत्ति आवे उसमें तो उसका मन खूश होगा, उसके मनको पीड़ा किस तरह से होगी ? शारीरिक दुःख तो कर्म रूपी फोड़े पर ऑपरेशन के चाकू का काम करता है, इससे कर्म रूपी फोड़ा मिट जाने का उसे दिखता है, तो उसे जरा भी उद्वेग क्यों होगा ? ध्यान बराबर करके चित्त का उससे भावित याने रंगा हुआ करने में प्रत्यक्ष रूप से यह महान फल है ।

इस तरह फल द्वार का वर्णन हुआ ।

श्रद्धा-ज्ञान-क्रिया से नित्य सेव्य ध्यान

अब अन्तिम गाथा से उपसंहार करते हैं:—

इयमव्वगुणाधाणं दिट्ठादिट्ठसुहमाहणं ज्ञाणं ।
 सुपसत्थं सद्देयं नेयं भेयं च निच्चंपि ॥१०५॥

अर्थः—इस तरह ध्यान सकल गुणों का स्थान है, दृष्ट अदृष्ट सुखों का साधन है, अत्यन्त प्रशस्त है; अतः वह सर्व काल में श्रद्धेय है, ज्ञातव्य है और ध्यातव्य है ।

विवेचन :

शुभ ध्यान का उक्त द्वारों से विचार किया । इस पर मे यह फलित होता है कि ध्यान समस्त गुणों का स्थान है । उदा० पहला तो ध्यान के लिए भूमिका रूप जो भावना बतलाई उसमें ज्ञानदर्शन चारित्र्य के और वैराग्य के अनेक गुणों का पोषण होता है । फिर ध्यान के आलम्बनों में वाचनादि तथा क्षमादि के अनेक गुणों को अवकाश मिलता है । इसके ध्यातव्य आज्ञा विचयादि के ध्यान में जिनवचन अनेक रुचि बहुमान आदि अनेक गुणों का पोषण होता है । तब ध्यान के अधिकारी ध्याता बनने में तथा अनुप्रेक्षार्थ ध्यान से भावित बनने में भी अनेकानेक गुणों को स्थान मिलता है । ध्यानी की प्रशस्त लेश्या और लिंगों में तो स्पष्टतया अद्भुत गुणों का ही समर्थन होता है । सारांश ध्यान इन सकल गुणों को अवकाश देता है ।

ध्यान इन गुणों के साथ साथ दृष्ट अदृष्ट सुखों को भी अवकाश देता है । फल द्वार में धर्मध्यान शुक्लध्यान में जो फल बताया, उदा० विपुल शुभाश्रव, संवर, निर्जरा, अमर सुखों से लेकर अन्त में जो मानसिक शारीरिक दुखों का अन्त बताया, उससे ध्यान से परोक्ष में और प्रत्यक्ष में महा अनन्य सुख होने का सूचित किया ।

इस तरह ध्यान गुणों और सुखों का भण्डार होने से सुप्रशस्त है । श्री तीर्थंकर देव तथा गणधर महाराजा आदि से भी सेवित

ध्यान यह अत्यन्त शुभ साधना है। ऐसे उत्तम पुरुष जिसे करें उसकी प्रशस्तता का तो पूछना ही क्या ?

इसीलिए ध्यान श्रद्धेय है, ज्ञेय है, ध्यातव्य है। श्रद्धेय है याने 'ध्यान सर्व गुणों का स्थान और दृष्टादृष्ट सुख का साधन है, इस बात में कोई मीनमेष फर्क नहीं।' ऐसी भावना से श्रद्धा रुचि आस्था आदर करने योग्य हैं। इतना ही नहीं, ध्यान का स्वरूप जानने समझने जैसा है, तथा क्रिया से अमल में उतार ने जैसा याने चित्तन मे आचरण करने योग्य है।

ऐना करने से सम्यग् दर्शन ज्ञान चारित्र्य की आराधना होती है।

इस श्रद्धा व ज्ञान पूर्वक ध्यान का आसेवन भी एकादो बार नहीं, किन्तु नित्य सर्वकाल करने चाहिये। इतनी ऊंची वस्तु को किस लिए क्षण भर भी छोड़ना ? इसकी सतत ही आराधना करनी चाहिये।

प्रश्न— यों तो सर्व काल ध्यान की ही आराधना करते रहने से संयम-जीवन की अन्य सब क्रियाएं करने का अवकाश ही नहीं रहेगा ! सब क्रियाएं ही उड़ जावेंगी।

उत्तर— नहीं; क्रियाओं का लोप नहीं होगा; क्यों कि क्रिया का आसेवन वस्तुतः ध्यान रूप है। अतः क्रियाएं छोड़ कर ध्यान की बात ही नहीं है। क्रियाएं की जाये, वही ध्यान रूप हो जाती हैं। क्यों कि क्रिया में मन की एकाग्रता ध्यान ही है। साधु की कोई क्रिया ऐसी नहीं होती कि जिसमें ध्यान याने चित्त की एकाग्रता न होती हो।

इसका कारण यह है कि प्रत्येक साधना प्रणिधान युक्त ही करने की है। और 'प्रणिधान' की 'विशुद्ध भावना सारं तदर्थार्पित मानसम्। यथाशक्ति क्रियालिङ्गं प्रणिधानं जगौ मुनिः।' व्याख्या अनुसार 'तदर्थार्पित मानसम्' याने उस सूत्रार्थ अथवा क्रिया के विषय में मन को अर्पित करना, उसमें मन को तन्मय बनाना होता

है; और मन की तन्मयता स्थिरता ध्यान ही है। इस शास्त्र के प्रारम्भ में ही कहा है कि 'जं थिरमज्झवसाणं त भाणं।' अर्थात् चित्त का स्थिर चिन्तन ही ध्यान है।

सारांश कि सर्व साधुक्रिया प्रणिधान युक्त होने से ध्यानरूप बन जाती है। बाकी स्वाध्याय वाचनादि को तो ध्यान में आलम्बन कहे ही हैं; अतः स्वभावतः उसके आलम्बन से चित्तस्थैयं याने ध्यान आवेगा ही। इस तरह साधुक्रिया और स्वाध्याय के सतत प्रवाह में ध्यान का भी सतत प्रवाह बढ़ता है; इसीलिए कहा कि ध्यान सर्वकाल सेवनीय है।

इस पर से यह सूचित होता है कि साधुक्रिया को एक ओर छोड़कर ध्यान करने का विधान जैन शासन में नहीं है (अनादि के चले आने वाले विविध कषाय-कुसंस्कारों को मिटाने में विविध क्रिया व आचार समर्थ हैं। इनको सेवे बिना ये कषाय कुसंस्कार किस तरह घिसकर नष्ट होंगे? फिर मन विविधता प्रिय होने से विविध क्रिया सूत्र और विविध स्वाध्याय में यदि स्थिर हो सके वैसे है तो ऐसा वह छोड़ कर मात्र एकरूप कोई 'ॐ' आदि के सतत ध्यान में किस तरह स्थिर रह सकता है?)

इति ध्यान शतक विवेचन

इस तरह संयमप्रधानदृष्टि, कर्मसाहित्य-सूत्रधार, विशाल गच्छाधिपति परमाराध्यपाद स्व० गुरुदेवश्री सिद्धान्तमहोदधि आचार्य भगवन्त श्री विजय प्रेम्नसूरीश्वरजी महाराज की कृपा से उनके चरणरज पन्यास आत्तुविजय ने श्री ध्यान-शतक और उसकी टीका के आधार पर यह विवेचन (गुजराती भाषा में) लिखा है। (यह उसका अनुवाद है।) इसमें प्रमादवश जिनाज्ञाविरुद्ध यदि कुछ लिखा गया हो तो मिच्छामि दुक्कडं।

प्रभावक प्रवचनकार वर्धमान मोनिधि प० पू० आचार्यदेव

श्री विजयभुवनभानुसुन्दरजी महाराज का

मननीय साहित्य

१.	गंगा प्रवाह	(गुजराती)	१-५०
२.	सिंह अने आनन्द (समरादित्यभव-२)	"	४-००
३.	उच्चप्रकाशना पन्थे (आवृत्ति-३)	"	४-००
४.	जैन धर्मनो सरल परिचय (आवृत्ति-३)	"	१-५०
५.	परमतेज भा. १ (ललीतविस्तरा विवेचन)	"	६-००
६.	परमतेज भा. २ (")	"	१०-००
७.	ध्यान जीवन भा. १ (आवृत्ति-९)	"	५-००
८.	" " भा. २	"	५-००
९.	रुक्मि राजा पतन अने उत्थान भा. १	"	५-००
१०.	" " भा. २	"	५-००
११.	आवश्यक सूत्र चित्रावलि आल्बम ४ रंग में	"	१२-००
१२.	" " " " हिन्दी	"	१२-००
१३.	मदनरेखा	"	२-००
१४.	जैन धर्म का संक्षिप्त परिचय	"	२-५०
१५.	गणधरवाद	"	१-५०
१६.	ध्यान शतक	"	५-००
१७.	ध्यान शतक	गुजराती	५-००
१८.	सीताजीना पगले पगले	"	५-००

